ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya

(A Center University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)

एम.ए. समाजशास्त्र

पाठ्यक्रम कोड : एम.ए.एस. - 015

द्वितीय सेमेस्टर

पाठ्यचर्या कोड : 10

पाठ्यचर्या का शीर्षक : लिंग समाज

दूर शिक्षा निदेशालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

मार्गदर्शन समिति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. कृष्ण कुमार सिंह
प्रभारी निदेशक (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

पाठ्यचर्या निर्माण समिति

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. एस.एन. चौधरी
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल

प्रो. शैलजा दुबे
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग उच्च
शिक्षा उत्कृष्टता संस्थान, भोपाल

श्री अभिषेक त्रिपाठी
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं पाठ्यक्रम संयोजक
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

संपादक मंडल

प्रो. एस.एन. चौधरी
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल

प्रो. मनोज कुमार
निदेशक , म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य
अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शंभु जोशी
असिस्टेंट प्रोफेसर
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. मिथिलेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर
म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र,
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

श्री अभिषेक त्रिपाठी
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं पाठ्यक्रम संयोजक
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

इकाई लेखन

खंड -1
इकाई 1 – डॉ. विजय झा
इकाई 2 - डॉ. जासवंदी वाबुलकर
इकाई 3 - डॉ. विजय झा
इकाई 4 - डॉ. कैलाश प्रकाश

खंड - 2
इकाई 1- श्री. मनोज कुमार गुप्ता
इकाई 2- श्री. मनोज कुमार गुप्ता
इकाई 3- डॉ. शहनाज बानो
इकाई 4- डॉ. प्रफुल्ल कुमार

खंड - 3
इकाई 1 – श्री अजय कुमार पाण्डेय
इकाई 2 - डॉ. विजय कुमार प्रधान
इकाई 3 - डॉ. गरिमा श्रीवास्तव
इकाई 4 - श्री अजय कुमार पाण्डेय

खंड - 4
इकाई 1- सुश्री नूतन मौर्या
इकाई 2 - डॉ. प्रमोद तिवारी
इकाई 3 - श्री. अजय कुमार पाण्डेय

कार्यालयीन एवं संपादकीय सहयोग

श्री विनोद वैद्य
सहायक कुलसचिव, दू.शि. निदेशालय

श्री अरविन्द कुमार
टेक्निकल असिस्टेंट, दू.शि. निदेशालय

सुश्री राधा ठाकरे
टंकण/फार्मेटिंग/इंडिटींग
दू.शि. निदेशालय

श्री सचिन सोनी
सॉफ्टवेयर स्पेशलिस्ट, दू.शि. निदेशालय

श्री गुड्डू यादव
कंप्यूटर ऑपरेटर, दू.शि. निदेशालय

पाठ्यचर्या कोड : एमएएस- 10

पाठ्यचर्या का नाम : लिंग एवं समाज

क्रेडिट्स : 04 क्रेडिट

शिक्षण उद्देश्य :

इस पाठ्यक्रम के अध्ययन के उपरांत विद्यार्थी निम्नलिखित को समझने में सक्षम होंगे -

- लिंग एवं जेंडर की अवधारणा से परिचित होंगे एवं इनमें अंतर को स्पष्ट कर सकेंगे।
- लैंगिक असमानता के सिद्धांतों एवं अध्ययन के उपागमों से विद्यार्थी परिचित होंगे।
- उत्तर-आधुनिक नारीवादी विद्वानों एवं सिद्धांतों से छात्र परिचित होंगे।
- महिला विकास एवं सामाजिक विकास में महिलाओं की भूमिका के योगदान से छात्र परिचित होंगे।
- महिला सशक्तिकरण की विभिन्न संकल्पनाओं से छात्र परिचित होंगे।

मूल्यांकन के मानदंड :

1. सत्रांत परीक्षा : 70 %
2. सतत आंतरिक मूल्यांकन : 30 %

लिंग एवं समाज

खंड (1) लिंग का सामजिक निर्माण

इकाई : 1 जेंडर एवं सामाजिक संरचनाएं

इकाई : 2 इतिहास में स्त्रिया

इकाई : 3 पितृसत्ता

इकाई : 4 जाति व्यवस्था एवं पितृसत्ता का अंतरसंबंध

खंड (2) नारीवादी सिद्धांत की विभिन्न धाराएं

इकाई : 1 उदारवादी

इकाई : 2 रेडिकल

इकाई : 3 समाजवादी एवं मार्क्सवादी

इकाई : 4 अश्वेत एवं दलित नारीवाद

खंड (3) महिला एवं विकास

इकाई : 1 विकास के विभिन्न नजरिए एवं आर्थिक विकास में स्त्री की भूमिका

इकाई : 2 स्त्री सशक्तिकरण के सरकारी एवं गैर सरकारी प्रयास

इकाई : 3 विकास की स्त्रीवादी आलोचना एवं वैकल्पिक विषय

इकाई : 4 भारतीय संविधान में स्त्री विषयक प्रावधान

खंड (4) जाति वर्ग एवं जेंडर

इकाई : 1 जाति, वर्ग एवं जेंडर का अंतरसंबंध एवं स्त्री मुक्ति का सवाल

इकाई : 2 आदिवासी एवं ख़ानाबदोश स्त्री के प्रश्न

इकाई : 3 सकारात्मक विभेद

अनुक्रम

क्र.सं.	खंड का नाम	पृष्ठ संख्या
1	**खंड - 1 – लिंग का सामाजिक निर्माण**	
	इकाई -1 जेंडर एवं सामाजिक संरचनाएं	4-15
	इकाई -2 इतिहास में स्त्रिया	16-30
	इकाई -3 पितृसत्ता	31-60
	इकाई –4 जाति व्यवस्था एवं पितृसत्ता का अंतरसंबंध	61-82
2	**खंड - 2 – नारीवादी सिद्धांत की विभिन्न धाराएं**	
	इकाई -1 उदारवादी	83-91
	इकाई -2 रेडिकल	92-100
	इकाई -3 समाजवादी एवं मार्क्सवादी	101-114
	इकाई -4 अश्वेत एवं दलित नारीवाद	115-126
3	**खंड - 3 – महिला एवं विकास**	
	इकाई -1 विकास के विभिन्न नजरिए एवं आर्थिक विकास में स्त्री की भूमिका	127-132
	इकाई -2 स्त्री सशक्तिकरण के सरकारी एवं गैर सरकारी प्रयास	133-147
	इकाई -3 विकास की स्त्रीवादी आलोचना एवं वैकल्पिक विषय	148-174
	इकाई -4 भारतीय संविधान में स्त्री विषयक प्रावधान	175-188
4	**खंड - 4 – जाति वर्ग एवं जेंडर**	
	इकाई –1 जाति, वर्ग एवं जेंडर का अंतरसंबंध एवं स्त्री मुक्ति का सवाल	189-199
	इकाई – 2 आदिवासी एवं ख़ानाबदोश स्त्री के प्रश्न	200-230
	इकाई – 3 सकारात्मक विभेद	231-242

खंड-1 लिंग का सामाजिक निर्माण

इकाई-1 जेंडर और सामाजिक संरचनाएँ

इकाई की रूपरेखा

1.1.0. उद्देश्य

1.1.1. प्रस्तावना

1.1.2. सेक्स/जेंडर विभेद

1.1.3. जेंडर के प्रयोग की शुरुआत

1.1.4. जेंडर और समाजीकरण

1.1.5. जेंडर और जाति

1.1.6. ब्राह्मणवादी पितृसत्ता

1.1.7. सारांश

1.1.8. बोध प्रश्न

1.1.9. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.1.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- जेंडर का क्या तात्पर्य है
- स्त्री और पुरुष होने के क्या मायने हैं
- जेंडर का अन्य सामाजिक संरचनाओं के साथ जुड़ाव की प्रकृति क्या है

1.1.1. प्रस्तावना

जेंडर स्त्रीवादी चिंतन का केंद्रीय अवधारणात्मक पद है। इसने अब समाजशास्त्र में भी विश्लेषण की एक महत्वपूर्ण श्रेणी के रूप में अपनी जगह बना ली है। आज अकादमिक जगत में ज्ञान का शायद ही कोई ऐसा अनुशासन हो जो इसकी उपेक्षा कर सके।

ऐसा माना जाता है कि जेंडर को परिभाषित करना और इसे सेक्स से अलग करना यानि सेक्स/जेंडर विभेद को स्पष्ट करना स्त्रीवादी चिंतन की ओर से एक महत्वपूर्ण योगदान है। इसके बिना स्त्रीवादी चिंतन या स्त्री आंदोलन आगे नहीं बढ़ सकता था। तो आइए हम यह जानने का प्रयास करें कि आखिर सेक्स/जेंडर विभेद की समझ विकसित करना क्यों ज़रूरी था?

1.1.2. सेक्स/जेंडर विभेद

यदि हम अपने चारों ओर निगाह डालें तो हमें अपने समाज में कई तरह के भेदभाव और असमानताएँ देखने को मिलेंगी। वहीं, इन्हें औचित्य प्रदान करतीं और स्वाभाविक करार देती धारणाओं का चलन भी दिखलाई देगा। इनमें जिस भेद या असमानता की व्याप्ति सर्वाधिक और उतना ही स्वाभाविक है वह है स्त्री और पुरुष के बीच की असमानता। इसके पक्ष में आम तौर पर जो तर्क प्रस्तुत किया जाता रहा है वह यह कि चूँकि वे भिन्न शारीरिक संरचना लिए जन्म लेते हैं, इसलिए उनके बीच विद्यमान तमाम सामाजिक भिन्नताएँ और असमानताएँ उचित हैं। समाज विज्ञान में इस मत को जैविक निर्धारणवाद कहा जाता है। जैविक निर्धारणवाद यानि यह विश्वास कि सामाजिक परिक्षेत्र की घटनाओं का निर्धारण जैविक/शारीरिक बनावट से होता है।

स्त्री और पुरुष की शारीरिक संरचनाओं के भिन्न होने पर कोई सवाल नहीं उठाया जा सकता। यह प्राकृतिक है और इसलिए अपरिवर्तनीय भी। अब यदि यही उनकी सामाजिक स्थिति का भी निर्धारक है तो उसे भी नहीं बदला जा सकता। इसलिए यह लोकप्रिय जुमला गढ़ा गया कि *स्त्री की देह उसकी नियति* है। यह और बात है कि जैविक निर्धारणवाद के आधार पर पुरुष के लिए भी यही बात सिद्ध होती है कि उसका शरीर उसकी नियति है। लेकिन पुरुष के संदर्भ में यह चिंताजनक नहीं है। कारण उसकी स्थिति दोयम नहीं है। दोयम दर्जा तो स्त्री को प्राप्त है। वह पराधीन है। इसलिए इस तर्क पर सवाल भी स्त्रियों और उनकी मुक्ति के पक्षधरों ने ही उठाया।

कोई भी तर्क तभी अपने पाँव मजबूती से जमा सकता है जब उसके पक्ष में साक्ष्य हो। जैविक निर्धारणवाद को खुद को सही साबित करने के लिए साक्ष्य जुटाने की जरूरत नहीं थी। उसके लिए देश-काल के व्यापक फलक पर प्रमाण पहले से ही मौजूद थे। जिन समाजों और अवधियों का इतिहास आम है या जिन्हें हम मुख्यधारा का समाज मानते हैं उनमें कमोबेश स्त्रियों की स्थिति दोयम ही पाई गई। जैविक निर्धारणवाद के लंबी अवधि तक कारगर रहने का यही कारण भी रहा। इसी आधार पर स्टीवन गोल्डबर्ग ने 'पितृसत्ता की अपरिहार्यता' (***The Inevitability of Patriarchy***) का सिद्धांत पेश किया। इसके लिए उन्होंने विभिन्न समाजों/संस्कृतियों से प्रमाण जुटाए थे।

स्त्रीवादियों और स्त्री की चिंता करने वालों के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती इस तर्क की काट प्रस्तुत करना था। इसके लिए प्रमाण चाहिए थे। प्रमाण ऐसे समाजों के जिनमें स्त्रियों का दर्जा दोयम न हो। यह मार्गरेट मीड जैसी स्त्री मानवविज्ञानियों और अन्य स्त्रीवादियों द्वारा हाल-फिलहाल तक आजीविका की आदिम प्रणाली को अपनाए समाजों का अध्ययन किए जाने से संभव हो सका। इन समाजों में विकसित या मुख्यधारा के समाजों की तुलना में कम या न के बराबर असमानता पाई गई। इस आधार पर एलीनोर लीकोक ने 'समतामूलक समाज' का सिद्धांत विकसित किया। यह उनकी ओर से गोल्डबर्ग को जवाब था।। इसके साथ

ही, यह भी पाया गया कि सभी समाज पितृवंशीय और पितृकेंद्रित ही नहीं हैं। कई समाजों में मातृवंशीयता भी रही है और कुछ में तो आज भी यह विद्यमान है। ऐसे समाजों में स्त्रियों की स्थिति अपेक्षाकृत बेहतर पाई गई। इससे जैविक निर्धारणवाद पर प्रहार करने और इस समझ के निर्मित होने का मार्ग प्रशस्त हुआ कि स्त्री या पुरुष होने का यानि स्त्रीत्व और पुरुषत्व का शारीरिक संरचना के साथ अनिवार्य जुड़ाव नहीं है। विभिन्न संस्कृतियों में स्त्री और पुरुष होने के मायने भिन्न-भिन्न होते हैं। भारतीय समाज में ही देखें तो हमें स्त्री और पुरुष की स्थितियों में विविधता दिखलाई देगी। सबसे बड़ा भेद तो जनजाति समाज और जाति समाज के बीच है। ऐसा पाया गया है कि जनजातियों में स्त्रियाँ अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति में हैं। सभी जनजातियाँ भी एक ही अवस्था में जीवन-बसर नहीं कर रही हैं। कुछ पर जाति-समाज का असर भी पड़ा है। इसलिए सभी जनजातियों में स्त्रियों की स्थिति एक समान नहीं है। इसी तर्ज पर, जाति समाज के भीतर निम्न जातियों की स्त्रियों और ऊँची जातियों की स्त्रियों की स्थितियों में भारी विविधता है। यह भेद पुरुषों की स्थितियों के स्तर पर भी विद्यमान है। जाति और जेंडर के बीच की अंतस्संबंधता पर आगे विस्तार से विचार किया है।

दूसरे शब्दों में, स्त्री हो या पुरुष, उसके वजूद के सामाजिक पहलू यानि स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्व का जैविक पहलू यानि शारीरिक बुनावट से अनिवार्य जुड़ाव नहीं है और इसलिए स्त्री की दोयम स्थिति दूर की जा सकती है। ऐसे समाज के निर्माण के बारे में सोचा जा सकता है, जिसमें स्त्री और पुरुष के बीच किसी भी प्रकार की असमानता न हो।

1.1.3. जेंडर के प्रयोग की शुरुआत

यह **एन ओकले (Ann Okley)** थीं जिन्होंने 1972 में जैविक पहलू के लिए सेक्स का और सामाजिक पहलू के लिए जेंडर का प्रयोग करना शुरू किया। उसके बाद जेंडर स्त्रीवाद की केंद्रीय पारिभाषिक और विचार श्रेणी बन गया। ओकले को सामाजिक पहलू के लिए जेंडर के प्रयोग की सूझ रॉबर्ट स्टोलर नामक समाज मनोविज्ञानी से मिली, जो अस्पष्ट जननांग के साथ जन्मे शिशुओं पर काम कर रहे थे।

गेल रूबिन ने 1975 में अपने अत्यंत प्रभावी आलेख 'ट्रेफिक इन वीमेन: नोट्स ऑन द पोलिटिकल इकोनोमी ऑफ सेक्स' में सेक्स (जैविक) को प्राकृतिक और इसलिए, इसे अपरिवर्तनीय आधार और जेंडर (सामाजिक) को इस पर निर्मित संरचना और इसलिए, इसे परिवर्तनीय के रूप में व्याख्यायित करते हुए 'सेक्स-जेंडर व्यवस्था' की संकल्पना प्रस्तुत की। इस तरह, स्त्रीवादियों के बीच इस विचार ने ज़ोर पकड़ा कि जिस जैविक संरचना के साथ हम जन्म लेते हैं वह प्राकृतिक है। इसलिए वह समाज और संस्कृति से निरपेक्ष है। यह वह आधार है जिस पर विभिन्न संस्कृतियाँ स्त्री और पुरुष नामक ढाँचा खड़ा करती हैं। लिंडा निकोलसन ने इसे जैविक आधारवाद कहा है।

1.1.4. जेंडर और समाजीकरण

अब तक जेंडर के बारे में आपकी यह समझ बनी कि यह समाज/संस्कृति सापेक्ष होता है। सापेक्ष होने का तात्पर्य यह है कि किसी समाज/संस्कृति में स्त्री और पुरुष होने के जो मतलब होते हैं, तदनुसार नवजात शिशु का समाजीकरण किया जाता है। समाजीकरण की प्रक्रिया जन्म से शुरू होती है और निरंतर चलती रहती है। लेकिन समाजीकरण शून्य में नहीं होता। इसमें समाज की विभिन्न संरचनाओं की संलग्नता रहती है।

समाजीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत परिवार से होती है। इसमें माता-पिता और घर के बड़े-बुजुर्ग महती भूमिका निभाते हैं। वही शिशु को बताते हैं कि क्या स्त्रियोचित है और क्या पुरुषोचित। ध्यान रहे कि परिवार भी किसी शून्य में अथवा समाज से अलग-थलग नहीं रहता। परिवार की नातेदारी व्यवस्था होती है। उसका वर्ग होता है, धर्म होता है और भारतीय समाज के संदर्भ में, जाति भी होती है। इसलिए, बच्चे को बड़े होने का पाठ पढ़ाने के क्रम में परिवार को इन सभी सामाजिक संरचनाओं का खयाल रखना होता है। कहने का तात्पर्य यह कि ऐसी बात नहीं है कि माता-पिता या बड़े-बुजुर्ग जैसे चाहें वैसे अपने बच्चे को बड़ा कर लें। उनसे उन प्रत्यक्ष या प्रछन्न कायदों को ध्यान में रख कर बच्चे को स्त्री या पुरुष बनने की राह पर अग्रसर करने की अपेक्षा की जाती है जिन्हें उनकी जाति, धर्म या वर्ग उचित मानता है। हिंदू लड़कियों के समाजीकरण पर अपने लेख में लीला दुबे ने लिखा है:

'जेंडर भूमिकाएँ संबंधों के एक जटिल तंत्र से पैदा होती है। उनका रूप इसी तंत्र में गढ़ा जाता है। और स्त्रियाँ उन्हें यही से सीखती हैं। इस प्रक्रिया को समझने के लिए पारिवारिक संरचना के निहितार्थों को ध्यान में रखना ज़रूरी है। यहाँ यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि पारिवारिक संरचना नातेदारी के वृहत्तर संदर्भ में अंतस्थ रहती है ... नातेदारी सामाजिक समूहों में व्यक्तियों के प्रवेश और उनके स्थान, परिवार और घर की रचना, विवाह के बाद आवास के प्रश्न, उत्तराधिकार सहित संसाधनों के वितरण, तथा समूह के सदस्यों के कर्तव्य और दायित्वों जैसे मुद्दों को भी निर्धारित करती है... परिवार की संरचना और नातेदारी के पैटर्न जाति की संस्था से जुड़े हैं।

परिवार तो समाजीकरण का प्रथम स्पेस है ही, लेकिन बच्चे के संगी-साथी और स्कूल की भूमिका परिवार से कमतर नहीं है। एक उम्र के बाद बच्चे अपना ज़्यादातर समय संगी-साथियों के साथ बिताते हैं। लड़के अपना समूह बना लेते हैं और लड़कियाँ अपना। उनकी दुनिया अलग-अलग हो जाती है। अपने-अपने समूह में रहते हुए वे स्त्रियोचित और पुरुषोचित आचार-व्यवहार आत्मसात करने लगते हैं। यह सब औपचारिक और अनौपचारिक दोनों ही तरीके से होता है।

स्कूल ऐसी जगह है जहाँ बच्चे अपने बचपन के चौदह साल व्यतीत करते हैं। यह उनके जीवन का सर्वाधिक रचनात्मक समय होता है। ऐसे में बच्चे बड़े होकर क्या और कैसा बनेंगे, इस पर स्कूल के गहरे असर से इंकार नहीं किया जा सकता। किसी भी आधुनिक राष्ट्र में शैक्षणिक संस्था, खासकर प्रारंभिक शिक्षा

प्रदान करने वाली स्कूल जैसी संस्था की बुनियाद समानता के भाव पर डाली जाती है। उद्देश्य होता है बच्चों को ऐसी शिक्षा और माहौल मुहैया करना जो उनमें आधुनिक मूल्यों का संचार कर सके। वे परंपरा-पोषित भेदभाव की भावना से मुक्त हो सकें। लेकिन पाया यह गया है कि न केवल बच्चों के लिए तैयार की गई पाठ्य-पुस्तकें, बल्कि अध्यापकों का व्यवहार भी प्राय: रूढ़िगत आग्रहों से युक्त रहता है। और ऐसा सोचना भी तर्कसंगत नहीं होगा कि लड़के और लड़कियों के बारे में आम समाज में जो रूढ़िगत छवियाँ प्रचलित हैं उनसे अध्यापक मुक्त होंगे। यानि स्कूल भी समाज में व्याप्त मानदंडों के तहत बच्चों को स्त्री और पुरुष के साँचे में ढ़ालने का काम करता है।

उदाहरण के लिए यदि हम धर्म को ही लें तो क्या स्त्रियोचित है और क्या पुरुषोचित, इस पर सभी धर्म एक मत नहीं हैं। हर धर्म में *आदर्श स्त्री* और *आदर्श पुरुष* के अपने-अपने मानदंड और छवियाँ हैं। उस धर्म के अनुयायी स्त्रियों और पुरुषों से तदनुसार व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। लगभग सभी धर्म स्त्री की दोयम स्थिति के पक्ष में खड़े दिखलाई देते हैं। जयंती आलम ने अपनी किताब 'रिलीजन, पैट्रियार्की एंड कैपिटलिज्म' में यह दिखलाने की कोशिश की है कोई भी धर्म ऐसा नहीं जिसने स्त्रियों के आचरण, यौनिकता और आजादी पर बंदिशें न लगा रखी हों। लीला दुबे के मुताबिक, 'हिंदू अनुष्ठानों और विधि विधानों के जरिए स्त्रियों में एक खास ढंग की सोच और प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया जाता है जो अंतत: उनके लिए एक जकड़न बन जाती है।'

हिंदू धर्म हो या इस्लाम, स्त्री-पुरुष भेदभाव की बुनियाद गर्भधारण के समय ही पड़ जाती है। गर्भवती महिला से यही अपेक्षा की जाती है कि वह बेटे को जन्म दे। बेटा जन्म ले तो जश्न मनाया जाता है, बेटी के जन्म लेने पर मातम-सा छा जाता है। लीला दुबे लिखती हैं कि लड़कियों को यह अहसास काफी पहले हो जाता है कि लड़कों को ज़्यादा महत्व दिया जाता है। माता-पिता, दादा-दादी, चाचा-चाची के स्नेह और प्रशंसा के बावजूद तीन या चार साल की छोटी बच्ची के कानों में घर की आया के ये शब्द कभी-न-कभी पड़ ही जाते हैं: 'कितनी प्यारी बच्ची है! अगर यह लड़का होती तो कितना अच्छा होता!' ज़रीना भट्टी ने 'उत्तर प्रदेश में मुसलमान लड़कियों का समाजीकरण' में लिखा है, 'गर्भवती महिला का जब भी परिचय कराया जाता है तो हमेशा यही कहा जाता है कि : 'उसे बेटा होने वाला है'। हिंदू हो या मुसलमान बड़े-बूढ़े शादी-शुदा लड़की को पुत्रवती होने का ही आशीर्वाद देते हैं।

ज़रीना भट्टी लिखती हैं, 'उत्तर प्रदेश में मुसलमान लड़कियों का समाजीकरण तीन मूलभूत धारणाओं के इर्द-गिर्द संपन्न होता है। पहला, स्त्रियाँ पुरुषों के मुक़ाबले प्रत्येक क्षेत्र में कमतर होती हैं। दूसरा, उन पर सांस्कृतिक आदर्शों को ज़िदा रखने और बच्चों को इन आदर्शों के अनुसार ढ़ालने की ज़िम्मेदारी होती है। तीसरा, घर की इज्जत उन्हीं के हाथों में होती है'। यही बातें हिंदू स्त्रियों के साथ भी लागू होती हैं। जाति उनकी स्थिति को और भी पेचीदा बना देती है।

1.1.5. जेंडर और जाति

हिंदुओं में जेंडर के निर्माण में अथवा बच्चों के समाजीकरण में जिस सामाजिक संरचना की अनिवार्य संलग्नता है वह है जाति। इसके प्रभाव का अंदाज इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि शास्त्रीय स्तर पर स्त्रियों के मामले अपेक्षाकृत उदार माने जाने वाले इस्लाम का भी जब भारतीय महद्वीप पर आगमन हुआ तो वह इसके प्रभाव से बच न सका। ज़रीना भट्टी लिखती हैं, 'काफी हद तक खुद पितृसत्तात्मक मिजाज लिए इस्लाम को उत्तर भारत में अनुकूल परिवेश मिला। यहाँ हिंदुओं की सामाजिक संरचना प्रबल रूप से पितृवंशीय, पितृकेंद्रित और मूलत: अन्यायपूर्ण थी। मुसलमानों के आगमन से यहाँ एक खास तरह की श्रेणीबद्ध समाज-व्यवस्था अस्तित्व में आई जो एक तरफ हिंदू समाज की जाति-आधारित असमानताओं पर टिकी थी तो दूसरी तरफ हिंदू और मुसलमानों की साझी जेंडरीय असमानताओं पर। यह एक ऐसी व्यवस्था थी, जिसमें इस्लाम के शुद्धतावादी आदेशों के साथ समझौता किया गया था। उदाहरण के लिए, कुछ मुसलमान समुदायों ने भारतीय विधि को मानते हुए इस्लामी व्यक्तिगत कानून की जगह हिंदुओं के पारंपरिक कानून को अपना लिया था। इस्लाम में औरतें माता-पिता की संपत्ति में आधे की हकदार मानी जाती थीं, जबकि हिंदू कानून में ऐसा कोई प्रावधान नहीं था। इस मिश्रित व्यवस्था में मुसलमान महिलाओं को संपत्ति के परंपरागत अधिकार से वंचित कर दिया गया।'

जाति की जड़ें कितनी गहरी हैं, इसका अंदाजा दलित लेखिका कुमुद पावड़े के इस कथन से लगाया जा सकता है कि *मैं चाहकर भी अपनी जाति नहीं भुला सकती। किसी ने सच ही कहा था कि हमें जो चीज जन्म के साथ ही मिल जाती है और जिससे हम मरकर भी छुटकारा नहीं पा सकते वह है जाति।'*

गौरतलब है कि जाति पर मुख्यधारा के समाजशास्त्रियों ने जो अध्ययन किए हैं उनमें जाति के इस पहलू को प्राय: नज़रअंदाज़ करने की प्रवृत्ति रही। इस प्रवृत्ति के उत्स हमें 19वीं सदी में ही देखने को मिल जाते हैं, जब स्त्री-प्रश्न और जाति-प्रश्न दो बड़े प्रश्नों के रूप में उभर कर सामने आए। ऊँची जातियों के सुधारक इन प्रश्नों को पृथक मानकर चल रहे थे। इतना ही नहीं, उनके स्त्री-प्रश्न का दायरा अत्यंत सीमित था। वे जिन समस्याओं को उठा रहे थे वे ऊँची जातियों की स्त्रियों की समस्याएँ थीं। मुख्यधारा के समाजशास्त्र में कमोबेश उनकी चिंतन-प्रणाली की निरंतरता बनी रही। इसका कारण यह है कि 19वीं सदी के ही दरम्यान और उसके बाद भी, जाति की दलित चिंतकों और लेखकों द्वारा की गई व्याख्याओं को समाजशास्त्र ने गंभीरता से नहीं लिया। जबकि ये चिंतक जाति और जेंडर के परस्पर आबद्ध होने की बात कर रहे थे। जाति और जेंडर के परस्पर जुड़े होने की ओर सबसे पहले जोतिराव फुले ने ध्यान दिलाया। जोतिराव फुले ने शूद्रों, अतिशूद्रों और सभी जातियों की स्त्रियों को ब्राह्मणवादी व्यवस्था के शोषण का शिकार माना। उनके मुताबिक ऊँची जातियों की विधवा स्त्रियों की दारुण अवस्था और निम्न जातियों के शोषण के लिए ब्राह्मणों द्वारा खड़ी की गई व्यवस्था ज़िम्मेदार है। पेरियार ने भी इसी तरह के उद्गार व्यक्त किए। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि जिस तरह ब्राह्मणवाद ने

श्रम करने वालों की बड़ी संख्या को शूद्रता की स्थिति में डाल रखा है उसी तरह उसने विवाह के जरिए स्त्रियों को दासता की डोर में बांध रखा है।

अंबेडकर ने (जातियों के) शुद्ध/अशुद्ध तथा श्रेष्ठ/हीन के आधार पर जातियों के सीढ़ीनुमा अंदाज में स्थित होने की बात की। इस संरचना की निरंतरता के लिए यह ज़रूरी है कि हरेक जाति अपनी सीमाओं के साथ अपने लिए तयशुदा जगह पर पुनरुत्पादित होती रहे। अंबेडकर के मुताबिक इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विवाह-संबंधी कठोर नियम-कायदे बनाए गए। उनके शब्दों में -

> *जाति-व्यवस्था के लिए सजातीय विवाह और स्त्रियों की यौनिकता के नियंत्रण के लिहाज से ऊँची जातियों खासकर, ब्राह्मणों में सती, बलात विधवापन, बाल-विवाह जैसे अस्त्र ईजाद किए गए। जो जाति ब्राह्मणों के नज़दीक हैं उन्होंने स्त्री पर ये तीनों ही कायदे लाद रखे हैं; जो उनसे तनिक दूर हैं उन्होंने विधवापन और बाल विवाह अपना रखा है; जो और भी दूर हैं उन्होंने बाल-विवाह अपना रखा है और जो सबसे दूर हैं वे जाति के नियमों में आस्था बनाए रखकर जाति-व्यवस्था के परिचालन में सहयोग करते रहे हैं।*

जाति और जेंडर के जुड़ाव पर जो अंतर्दृष्टि फुले और अंबेडकर ने विकसित की उसके प्रति उन विद्वानों ने उपेक्षा का भाव अपनाया, जिन्हें जाति का आधिकारिक विशेषज्ञ माना जाता है। जाति-अध्ययन के पाठ्यक्रम में लंबी अवधि तक इन विद्वानों की किताबें और स्थापनाएँ ही छाई रही हैं। लेकिन स्त्रीवादी विद्वानों और दलित स्त्रियों ने फुले-अंबेडकर को न केवल विस्मृत होने से बचा लिया, बल्कि उनके द्वारा विकसित अंतर्दृष्टि को अपने शोध और विश्लेषण से और भी पुख्ता किया है।

1.1.6. ब्राह्मणवादी पितृसत्ता

जाति और जेंडर के इस जुड़ाव को ध्यान में रखते हुए प्रख्यात स्त्रीवादी इतिहासकर उमा चक्रवर्ती ने *ब्राह्मणवादी पितृसत्ता* की सैद्धांतिकी विकसित की जो जाति आधारित समाज-व्यवस्था की पितृसत्ता है। उनके शब्दों में-

> *'यह स्त्री पराधीनता के विभिन्न रूपों में से कोई एक रूप भर नहीं, बल्कि हिंदू समाज और जाति आधारित व्यवस्था से आबद्ध खास संरचना है। भारत के अधिकतर क्षेत्रों में जड़ जमा चुकी इस पितृसत्तात्मक संरचना की अलग पहचान चिह्नित करने के लिए ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का प्रयोग उचित है। यह वस्तुत: नियमों और संस्थानों का ऐसा पुंज है, जिसमें जाति और जेंडर एक-दूसरे से गुथे हुए हैं और एक-दूसरे का स्वरूप तय करते हैं; जिसमें स्त्री जातियों के बीच का पदानुक्रम बनाए रखने के लिए बतौर साधन इस्तेमाल होती है। इसने ऐसे कायदे बना रखे हैं कि दायराबद्ध विवाह-वृत्तों की पदानुक्रमता का उल्लंघन हुए बिना जाति व्यवस्था का पुनरुत्पादन होता रहे। जाति की स्थिति और तदजन्य रुतबे*

(शुद्ध/अशुद्ध) के अनुसार ही उसकी स्त्रियों के लिए कायदे तय किए गए हैं। इन कायदों को तय करने का अधिकार ऊँची जातियों के पास रहा है। यह पतिव्रता और साध्वी स्त्रियों के महिमामंडन द्वारा स्त्रियों से उनकी अपनी ही अधीनता के लिए सहमति प्राप्त करती है। जरूरत पड़ने पर इसने दंड की भी व्यवस्था कर रखी है। संक्षेप में कहें तो ब्राह्मणवादी पितृसत्ता ब्राह्मणवादी आचार संहिताओं में प्रस्तावित कायदों का स्थूल रूप है जिसे राजा अथवा उसका प्रतिनिधि लादते रहे हैं। आनुष्ठानिक हैसियत उठाने के लिए निम्न जातियाँ अकसर इन कायदों का अनुसरण करना शुरू कर देती हैं। इस क्रम में वे यह नहीं समझ पातीं कि उच्च और निम्न जातियों की स्त्रियों के लिए विवाह और यौन संबंधी अलग-अलग कायदों का ऊँची जातियों द्वारा निम्न जातियों के श्रम के दोहन से गहरा संबंध है। यह इस बात की व्याख्या करता है कि क्यों एक तरफ तो ऊँची जातियों में विधवा पुर्नविवाह भी निषिद्ध है और दूसरी तरफ निम्न जातियों की स्त्रियों के लिए पुनर्विवाह ही नहीं, बल्कि उनसे जबरन सहवास तक की संभावना खुली रखी गई। श्रम दोहन जाति-व्यवस्था का मूल मंतव्य है इसी कारण जेंडर आधारित कायदे बनाए गए ताकि ऊँची जातियों का हित सध सके'।

प्रत्येक जाति की अपनी आनुष्ठानिक खासियत है यानि शुद्ध/अशुद्ध के पैमाने पर उसका एक नियत स्थान है, इसलिए यहाँ न केवल पितृवंशीयता, बल्कि आनुष्ठानिकता की निरंतरता का भी ख्याल रखना ज़रूरी हो जाता है। यही वजह है कि एक निश्चित दायरे के भीतर विवाह-संबंध न कायम किया जाए यानि बहिर्विवाह (एग्जोगेमी) की रीति तो प्राय: सभी व्यवस्थाओं में रही है, लेकिन एक निश्चित दायरे के भीतर ही विवाह होना चाहिए यानि अंतर्विवाह अथवा सजातीय विवाह की अनिवार्यता केवल जाति समाज की खासियत है। यहाँ यह धारणा व्याप्त है कि संतान का रक्त यानि उसकी शुद्धता/आनुष्ठानिकता द्विआयामी होती है। दूसरे शब्दों में, संतान का रक्त माता और पिता दोनों के ही रक्त से निर्धारित होता है इसलिए माता और पिता दोनों का ही समान रक्त-स्तर यानि एक ही जाति से होना ज़रूरी है। यही कारण है कि प्रतिलोम संबंध यानि निम्नजाति के पुरुष और ऊँची जाति की स्त्री के बीच संबंध मात्र की कल्पना आतंक पैदा करने वाली रही है। इसलिए प्रतिलोम संबंध रोकने के लिए उसकी यौनिकता के नियंत्रण के उद्देश्य से विधि संहिताएँ रची गई और उसे लागू करने की ज़िम्मेदारी राज्य की रही। नुर यलमान के अध्ययन से यह बात उभर कर सामने आई है कि हाल तक प्रतिलोम संबंधों से जन्मी संतानें और उनकी मांएँ या तो डुबाकर मार दी जाती रही हैं या जाति-बहिष्कार और जाति-से जुड़े विशेषाधिकारों को खोने का दंड भोगती रही हैं।

दरअसल, हिंदू समाज व्यवस्था का मूल मकसद दायराबद्ध/सीमांकित संरचनाओं (क्लोज्ड स्ट्रक्चर) का निर्माण करना रहा है ताकि जमीन, स्त्री और आनुष्ठानिक खासियत संरक्षित रखी जा सके। आनुष्ठानिकता के

स्त्री की शुद्धता पर टिके होने और स्त्री की शुद्धता के उसकी यौनिकता में आबद्ध होने की मान्यता के कारण ब्राह्मणवादी पितृसत्ता में ऊँची जाति की स्त्री, उसमें भी खासकर, ब्राह्मण स्त्री की यौनिकता के कठोर नियंत्रण की व्यवस्था रही है। ऊँची जाति की स्त्री पर ही जाति-व्यवस्था के बने रहने का दारोमदार है। वह जाति व्यवस्था का प्रवेश द्वार है। बाल-विवाह, विधवा-पुनर्विवाह पर पाबंदी और पतिव्रता धर्म का पालन (जिसमें सती होना भी शामिल था) -ऊँची जाति की स्त्री की यौनिकता पर लगाम कसने के ही तो उपक्रम रहे हैं।
पतिव्रता की धारणा का ईजाद किया जाना ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को दीर्घजीवी बनाने के लिहाज से बड़ी महत्वपूर्ण परिघटना सिद्ध हुई। यह धारणा स्त्रियों के दिलो-दिमाग में गहरी पैठ बनाने में कामयाब रही। आखिर इससे ज़्यादा आदर्श स्थिति किसी पितृसत्ता के लिए और क्या हो सकती है कि स्त्री खुद ही अपनी यौनिकता का नियंत्रण करे और ऐसा करके गौरवान्वित भी महसूस करे। इस तरह की मिसाल शायद ही किसी अन्य पितृसत्ता में दिखाई दे।

पतिव्रता के निर्वाह के मामले में जाति-व्यवस्था के सोपान में नीचे की ओर उतरने के क्रम में कठोरता की डिग्री भी घटती जाती है। कारण, स्त्री जिस जाति की है उस जाति की आनुष्ठानिक स्थिति के अनुसार ही उसकी शुद्धता यानि यौनिकता के नियंत्रण की कठोरता/नरमी तय होती है। अंबेडकर के इस संबंध में किए विचार का पहले ही ज़िक्र किया जा चुका है। निम्न जातियों, उनमें भी खासकर दलित-बहुजन स्त्रियों की यौनिकता पर बंदिशें न होने का सीधा संबंध श्रम के सहज और सस्ते में उपलब्ध होते रहने से रहा है। यह दलित स्त्रियों की आपबीती और उनके मुखर होकर सामने आने से स्पष्ट होकर उद्घाटित हुआ है। दरअसल, दलित स्त्रियों को एक साथ त्रिस्तरीय शोषण की मार झेलनी पड़ती है:

1. *स्त्री के रूप में घर में अपने पुरुष और बाहर ऊँची जातियों के पुरूषों द्वारा पितृसत्तात्मक शोषण।*
2. *ऊँची जातियों के पुरूषों का जाति आधारित शोषण (बलात्कार) ।*
3. *श्रमिक के रूप में वर्गाधारित शोषण (भूस्वामी प्राय: ऊँची और मध्य जातियों के ही होते हैं)।*

स्वरूप रानी के शब्दों में इसकी बड़ी ही सटीक अभिव्यक्ति हुई है:

> *अरे हाँ.....अपनी जिंदगी को मैंने जिया कब ?*
> *घर में पुरूषाहंकार एक गाल पर थप्पर मारता है*
> *तो गली में वर्ण आधिपत्य दूसरे गाल पर चोट करता है'।*

ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का एक और पहलू गौरतलब है जिसका संबंध दलित पितृसत्ता से है। दलितों के शोषण का एक महत्वपूर्ण पक्ष ऊँची जातियों के पुरूषों द्वारा दलित पुरूषों के पुरुषत्व की खिल्ली उड़ाना भी रहा है। दलित स्त्रियों का श्रमिक के रूप में घर से बाहर निकल कर काम करने की मजबूरी के कारण अथवा जाति-व्यवस्था द्वारा उनकी यौनिकता को शुद्धता अथवा इज्जत की वस्तु न मानने के कारण वे ऊँची जातियों के पुरुषों की हवस का आसान शिकर बनती रही हैं। ऊँची जातियों के पुरुष अपने इस कृत्य को दलित पुरूषों को *विपुंसीकृत* करने के रूप में प्रस्तुत कर मूँछ ऐंठते रहते हैं। एक धारणा यह है कि अपनी इस प्रतीकात्मक

'विपुंसीकरण' की भरपाई दलित पुरुष घरेलू स्तर पर अपनी स्त्री के ऊपर पुरुषत्व की आजमाइश करके करते हैं। दूसरी धारणा के मुताबिक घर के दायरे में *मर्दानगी* दिखाने के साथ-साथ दलित पुरुष बाहरी दायरे में भी अपने *विपुंसीकरण* को धता बताने के क्रम में ऊँची जातियों की स्त्रियों से बदसलूकी से पेश आकर *उग्र पुरुषत्व* अपनाने की ओर बढ़े चले जाते है। दलित पुरुषों द्वारा इस तरह से प्रतिक्रिया में आकर *उग्र पुरुषत्व* को गले लगाने का खामियाजा भी अंतत: दलित और गैर-दलित (ऊँची जातियों/मध्य जातियों) स्त्रियों को ही भुगतना पड़ा है। एस. आनंदी के कार्य से जाति और जेंडर के बीच के जुड़ाव का यह पहलू स्पष्ट होकर सामने आया है।

प्रेम चौधरी के जाट-समाज पर विशद अध्ययन से यह जाहिर होता है कि कृषक समाज में पितृसत्ता के साथ कुछ खासियतें जुड़ जाती हैं, लेकिन उद्देश्य अंतत: स्त्री की यौनिकता और प्रजनन-क्षमता पर नियंत्रण करना ही रहता है। मिसाल के लिए, विधवा- पुनर्विवाह की रीति। ऊपरी तौर पर तो इसे स्त्री की अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। लेकिन '*करेवा*', '*कराओ*' अथवा '*चद्दर अंदाजी*' नाम से प्रचलित इस रीति में विधवा स्त्री की *मर्जी* के लिए कोई जगह न थी। पति की मृत्यु के उपरांत खासकर देवर, अन्यथा जेठ और यहाँ तक कि श्वसुर के साथ विधवा को ब्याहने का मकसद संपत्ति और श्रम का संरक्षण करना था। पति की मृत्यु के बाद उसके हिस्से की संपत्ति की उत्तराधिकारी विधवा संपत्ति के साथ अपनी इच्छा से कोई भी छेड़छाड़ न करे अथवा उस संपत्ति के बल पर स्वच्छंद जीवन जीने की न सोचे, इसके लिए ही उसे परिवार के ही किसी भी पुरुष सदस्य - भले ही वह देवर हो और बच्चा हो अथवा जेठ या श्वसुर के रूप में उम्र दराज हो - के साथ जबरन बांध दिया जाता था। इससे उसकी श्रमशक्ति भी संरक्षित रह जाती थी। आखिर कृषक समाज में स्त्रियाँ घर से लेकर बाहर खेतों तक बहुत सारे काम करती हैं। *करेवा* के जरिए यौन और संपत्ति पर नियंत्रण के उपक्रम का विधवाओं के विरोध का तरीका अनूठा था। प्रेम चौधरी ने ऐसे कई मामलों का ज़िक्र किया है जिनसे जाहिर होता है कि ऐसी कई विधवाएं थीं जिन्हें बदचलन कहलाना, अवैध संतान की माँ कहलाना मंजूर था, लेकिन पति की मृत्यु से प्राप्त यौन और आर्थिक स्वतंत्रता का अवसर हाथ से जाने देना गंवारा नहीं था।

लीला दुबे ने इस तथ्य का उद्घाटन किया है कि किस तरह किसी जाति के लिए निर्धारित पेशे, पहनावे, खान-पान, विवाह और यौन संबंधी आचार-व्यवहार का अक्षुण्ण रहना और इस तरह उक्त जाति का एक दायराबद्ध इकाई के रूप में पुनरुत्पादन और इसलिए जाति-व्यवस्था की निरंतरता उक्त जाति की स्त्रियों पर निर्भर करती है। मिसाल के लिए, यदि जातीय पेशे की ही बात करें तो खेती करने वाली जातियों और धोबी, नाई, चमार बुनकर, कुम्हार आदि जैसी पारंपरिक पेशेवर जातियों के पेशे की निरंतरता की इनकी स्त्रियों के बिना कल्पना ही नहीं की जा सकती। इन जातियों की स्त्रियाँ और बच्चे घर के काम-काज से लेकर पुरूषों के काम में भी हाथ बँटाते हैं। बुनकर और कुम्हार स्त्रियाँ तो तैयार माल बेचने का काम भीं करती हैं। उत्तर-भारत में नाई स्त्रियाँ अपने जजमान के घरों की स्त्रियों के नाखून काटने, पैर रंगने, नवजात शिशु और मां का

तेल मालिश करने और विवाह के वक्त वधू की परिचारिका-संगी की भूमिका निभाने जैसे महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। इसी तरह, दक्षिण भारत में लड़की के प्रथम मासिक स्राव के अवसर पर होने वाला अनुष्ठान धोबिन द्वारा कपड़े धोने के बिना संपन्न नहीं हो सकता। इसके अलावा, हर क्षेत्र में प्रसव का काम अछूत जाति की स्त्री ही करती रही है। वे और उनके पुरुष ऊँची जातियों को शुद्ध रखने और करने, दोनों ही कार्य करते रहे हैं। विभिन्न कारणों से उपरोक्त जातियों के पुरूषों द्वारा पारंपरिक पेशे त्यागने की स्थिति में उन पेशों को ढ़ोने की समूची ज़िम्मेदारी उनकी स्त्रियों पर ही आ जाती है।

दुबे ने दिखाया है कि ऊँची जातियों की स्त्रियाँ खान-पान, यौन और दैनंदिन जीवन के आचार-व्यवहार के स्तर पर निर्धारित कायदों का पालन कर जाति की शुद्धता और पदानुक्रम में उसकी स्थिति सुरक्षित रखने की भूमिका निभाती हैं। इसके साथ ही, वे यह भी उद्घाटित करती हैं कि निम्न जातियों की स्त्रियों के साथ ऊँची जातियों के पुरुष जब चाहें तब यौन-संबंध बना सकते हैं, जो प्राय: बलात्कार होता है। वहीं निम्न जाति के पुरुष और ऊँची जाति के स्त्री के बीच प्रेम तक की कल्पना नहीं की जा सकती। कारण, श्रेष्ठ बीज (ऊँची जाति के पुरुष का वीर्य) हीन धरती (निम्न जाति के स्त्री का गर्भाशय) पर गिरे तो कोई हर्ज नहीं लेकिन हीन बीज को श्रेष्ठ धरती पर नहीं गिरना चाहिए।

1.1.7. सारांश

यह इकाई जेंडर और उसके अन्य सामाजिक संरचनाओं से संबंध के बारे में है। जेंडर को परिभाषित करना और उसे सेक्स से अलग दिखलाना स्त्रीवाद की एक बड़ी उपलब्धि मानी जाती है। जेंडर का प्रयोग 'सामाजिक' के लिए किया जाने लगा और सेक्स को 'शारीरिक' के लिए सीमित कर दिया गया। इससे स्त्री और पुरुष की सामाजिक स्थितियों के पीछे उनकी भिन्न शारीरिक संरचनाओं के हाथ होने के तर्क को निरस्त किया जाना मुमकिन हो सका। किसी समाज में स्त्री या पुरुष की हैसियत का निर्धारण उस समाज की अन्य संरचनाओं से होता है। लड़की और लड़के का क्रमश: स्त्री और पुरुष के रूप में समाजीकरण इन संरचनाओं के जरिए होता है। धर्म, जाति, वर्ग आदि ऐसी ही संरचनाएँ हैं। क्या स्त्रियोचित है और क्या पुरुषोचित इस संबंध में सभी धर्म एक मत नहीं हैं। इसलिए सभी धर्मों में स्त्रियों की हैसियत या अधीनीकरण भी एक समान नहीं है। जाति स्त्री-पुरुष संबंधों को एक अलहदा ही स्वरूप प्रदान करती है। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की धारणा इसी को ध्यान में रखते हुए विकसित की गई है।

1.1.8. बोध प्रश्न

1. जेंडर क्या है?
2. सेक्स/जेंडर विभेद के बारे में आपने क्या समझा?
3. आपका समाजीकरण किस प्रकार हुआ है? खुद को स्त्री या पुरुष के रूप में बड़े किए जाने के अपने अनुभव लिखें।
4. आपके विचार से पितृसत्ता के अंत के लिए क्या उपाय किए जाने चाहिए?
5. जाति और जेंडर के बीच के जुड़ाव पर प्रकाश डालें।

1.1.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

- Alam, Jayanti. (2013). *Religion, Patriarchy and Capitalism*. Delhi : Kalpaz Publication.
- Chakravarti, Uma. (2003).*Gendering Caste: Through a Feminist Lens*. Kolkata: STREE.
- Chowdhry, Prem. (1994). *The Veiled Women: Shifting Gender Equations in Rural Haryana*. Delhi: Oxford University Press.
- Dube, Leela. (1988). "On the Construction of Gender: Hindu Girls in Patrilineal India", Economic and Political Weekly, Vol. 23, No. 18, Apr. 30, 1988.
- Goldberg, Steven. (1973). *The Inevitability of Patriarchy*. New York: William. Morrow & Co..
- Leacock, Eleanor. (1978). "Women's Status in Egalitarian Society: Implications for Social Evolution", *Current Anthropology*, 19:2, 1978.
- Oakley, Ann. (1985). *Sex, Gender and Society*. Hampshire: Arena Grower Publishing.
- Rubin, Gayle. (1975). "The Traffic in Women: Notes on the 'Political Economy' of Sex", in Rayna Reiter, ed., *Toward an Anthropology of Women*, New York, Monthly Review Press.
- Zarina Bhatti (1988). *Socialisation of the Female Muslim Child in Uttar Pradesh.*in Karuna Chanana ed.
- *Socialisation, Education and Women: Explorations in Gender Identity*. New Delhi: Orient Longman.

इकाई 2 - इतिहास में स्त्रियाँ कहाँ

इकाई की रूपरेखा

1.2.0. उद्देश्य

1.2.1. प्रस्तावना

1.2.2. भारत में औपनिवेशिक इतिहास लेखन: पहला चरण

1.2.3. राष्ट्रवादी इतिहास लेखन: दूसरा चरण

1.2.4. स्त्रियों का जीवन कथ्य: तीसरा चरण

1.2.5. पूरक इतिहास: चौथा चरण

1.2.6. स्त्रीवादी इतिहास: पांचवा चरण

1.2.7. स्त्री इतिहास वाया स्त्री लेखन: छठा चरण

1.2.8. सारांश

1.2.9. बोध प्रश्न

1.2.10. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.2.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- इतिहास लेखन की विभिन्न धाराओं में स्त्रियों की प्रस्तुति के संदर्भ में जान सकेंगे।
- स्त्री इतिहास से स्त्रीवादी इतिहास की यात्रा का वर्णन कर सकेंगे।
- इतिहास लेखन एवं स्त्रियों की प्रस्तुति पर बहस कर सकेंगे।
- स्त्रीवादी लेखन की प्रमुख रचनाएँ एवं स्रोत पर चर्चा कर सकेंगे।

1.2.1. प्रस्तावना

इतिहास तथ्यों का वर्णन मात्र नहीं है, बल्कि वर्तमान के संदर्भ में अतीत का पुनर्निर्माण भी है। इतिहास अतीत की उन्हीं घटनाओं को लिखता है, जिन्हें इतिहासकार संरक्षण के लिहाज से आवश्यक मानता है। इतिहासकार केवल वस्तुनिष्ठ तरीके से इस बात का वर्णन ही नहीं करता है कि अतीत में क्या हुआ, बल्कि वह तथ्यों की व्यवस्था करने का प्रयास भी करता है। यह स्थिति ऐतिहासिक तथ्यों को अनेक व्याख्याओं की ओर ले जाती है। इसलिए प्रसिद्ध इतिहासकार ई.एच.कार ने इतिहास को विवादित तथ्यों से घिरी व्याख्या के प्रति समर्पण कहा है।

परंपरागत/मुख्यधारा इतिहास ने इतिहास को दिशा देने में स्त्रियों की भूमिका को उपेक्षित किया है। स्त्रियाँ न केवल इतिहास से बहिष्कृत है, अपितु इतिहास तक उनकी पहुँच भी नहीं है। इस प्रकार अतीत के ज्ञान के सृजन और प्रसारण पर पुरुषों का एकाधिकार रहा है। स्त्रियों के इतिहास क्षेत्र से बहिष्कार ने विभिन्न युगों में स्त्रियों को निष्क्रिय दिखाने की जेंडर संबंधी रूढ़ छवि को ही दृढ़ किया है। यह क्यों और कैसे हुआ, हम इसे समझने का प्रयास करते हैं।

लिंग (सेक्स) और जेंडर

लिंग और जेंडर दो विभिन्न श्रेणियाँ हैं। लिंग प्राकृतिक है इसलिए स्थिर है। यह शारीरिक भिन्नता का द्योतक है। कोई भी स्त्री या पुरुष के रूप में पैदा होती/होता है।

जेंडर सामाजिक निर्मिति है। यह स्त्रीत्व और पुरुषत्व गुणों, व्यवहार के तरीकों, भूमिकाओं एवं दायित्वों आदि को अभिव्यक्त करता है। हर समाज ही यह तय करता है पुरुषत्व और स्त्रीत्व क्या है? जैसे ही संतान का जन्म होता है परिवार में जेंडर निर्माण की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। उदाहरण के लिए बच्ची को खिलौने के रूप में गुड़िया और बच्चे को गेंद या कार दी जाती है। शर्मीलापन, नम्रता, मृदुता, त्याग, कमज़ोरी जैसे गुण स्त्रीत्व के वहीं बहादुरी, नायकता, शक्ति पुरुषत्व के गुण माने जाते हैं। पुरुष तार्किक, हिंसक/आक्रामक, घर चलाने वाला तथा स्त्री भावुक, दब्बू घरेलू और माँ मानी जाती है। ये सामाजिक रूप से बनी हुई जेंडर की रूढ़ छवियाँ हैं। ये लिंग की भांति प्रकृति प्रदत्त नहीं है। मसलन अगर स्त्री खाना बना सकती है तो पुरुष भी बना सकता है।

इसी तरह अगर पुरुष ट्रक चला सकता है तो स्त्री भी चला सकती है। क्योंकि पुरुष गाड़ी चलाने के लिए अपनी शारीरिक शक्ति नहीं लगाता। यह जेंडर निर्मिति एकरूपीय (मोनोलिथिक) नहीं है। जेंडर निर्मिति देश एवं काल के अनुरूप बदल जाती है। पितृसत्ता की सफलता यह है कि ये सामाजिक निर्मितियाँ इस तरह से 'तटस्थ' प्रस्तुत की जाती है जैसे कि ये हमारे जैविक गुण हों।

जाति, वर्ग, संस्कृति, धर्म राष्ट्र आदि विभिन्न तत्व जेंडर निर्मिति करते हैं। मूल्यों के विभिन्न समूह (सेट्स) हैं जो समाज में पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व अस्मिताओं की पुनर्रचना करते हैं। इन्हीं से ही भारतीय स्त्री पुरुष या मराठी स्त्री पुरुष या दलित स्त्री पुरुष आदि अस्मिताओं का निर्माण होता है।

1.2.2. भारत में औपनिवेशिक इतिहास लेखन: पहला चरण

भारत में वैज्ञानिक इतिहास लेखन की शुरुआत कमोबेश अठ्ठारहवीं शताब्दी या ब्रिटिश राज के बाद हुई। ब्रिटिश शासकों और प्रशासकों ने भारतीय समाज रीति रिवाजों, प्रथाओं, धर्म और संस्कृति को बेहतर तरीके से समझने के लिए भारत का इतिहास लिखना शुरू किया। इस संबंध में विलियम जोन्स (1746-1794), माउंट स्टुअर्ट एल्फिनस्टोन (1779-1859), जेम्स प्रिंस (1799-1840) तथा विंसेंट स्मिथ (1848-1920) जैसे विद्वानों का इतिहास लेखन काफी महत्वपूर्ण है। इनमें से अधिकांश विद्वानों ने भारतीय सभ्यता और इतिहास को अपने ईसाई दृष्टिकोण से देखा और भारतीय सभ्यता की अवनति का कारण स्त्री का दोयम दर्जे पर होने को बताते हुए इसका दोषी ठहराया। मैक्समूलर (1823-1900), एच.टी. कॉलब्रुक (1765-1837) जैसे प्राच्यविद् भारत में वैदिक युग के बारे में 'स्वर्ण युग' के सिद्धांत के साथ आए। पाश्चात्य विद्वानों ने पश्चिम में औदयोगीकरण और भौतिकवाद से व्यथित होकर भारतीय अतीत को आदर्श माना। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि वैदिक युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग है और इस युग में स्त्रियाँ अपनी उच्चस्थिति को प्राप्त थी। यही सिद्धांत आगे चलकर राष्ट्रवादी विद्वानों द्वारा पोषित पल्लवित किया गया।

1.2.3. राष्ट्रवादी इतिहास लेखन: दूसरा चरण

आर.जी. भंडारकर (1837-1925), रोमेशचंद्र दत्त (1848-1909), के.पी. जायसवाल (1881-1937), राधाकुमुद मुखर्जी (1880-1963), एच.सी.रायचौधरी (1892-1927), जी.एस. देसाई (1865-1959), जदुनाथ सरकार (1870-1958), सुरेन्द्रनाथ सेन (1890-1962), के.एम. पणिक्कर (1895-1963) व आर.सी. मजूमदार (1888-1980) जैसे राष्ट्रवादी इतिहासकारों का अधिकांश लेखन भारतीय स्त्री को आदर्श स्त्री, माँ, देवी, आदि के रूप में गौरवान्वित करता है। ए.एस. अल्तेकर की रचना 'द पॉजिशन ऑफ वीमन इन हिंदू सिविलाइजेशन' (1938) राष्ट्रवादी स्त्री इतिहास के रूमानीवाद का श्रेष्ठ उदाहरण है।

उमा चक्रवर्ती और कुमकुम रॉय जैसी स्त्रीवादी इतिहासकारों ने प्राचीन भारत में स्त्रियों पर राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की सीमाओं और व्याख्याओं की समस्याओं को विस्तार से बताया है:

- आजादी के आंदोलन की पृष्ठभूमि में यह रचनाएँ भारतीय स्त्री के संबंध में लिखी गई रचनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप आई। इस कारण इन रचनाओं में अतीत का गौरवगान एक सामान्य प्रवृत्ति है।
- प्राचीन भारत में स्त्रियों की पुत्री, पत्नी माता और विधवाओं की श्रेणियाँ थी। इतिहासकारों ने यह जरूरी नहीं समझा कि सगोत्रता से बाहर स्त्री की भूमिका का विश्लेषण किया जाए और एक वृहद समुदाय के संदर्भ में स्वायत्त भूमिका हो।

- राष्ट्रवादी इतिहास दृष्टि की एक प्रमुख समस्या आलोचनात्मक समझ की कमी है। जिन स्रोतों के आधार पर यह दृष्टि विकसित हुई वे ब्राह्मणीय स्रोत थे। अन्य स्रोतों के प्रति इनमें उपेक्षा का भाव मौजूद है।
- इन रचनाओं में उच्च जाति की हिंदू स्त्री पर ही जोर दिया गया है, सामान्य स्त्री को पूरी तरह नज़र अंदाज़ किया गया है। अनेक इतिहासकार वेशभूषा, आभूषण, रस्मी अधिकारों आदि के वर्णन में डूबे हैं।
- प्राच्यविदों और बाद में नए शिक्षित मध्यवर्ग से आने वाले हिंदू राष्ट्रवादियों ने वैदिक युग को स्वर्ण युग कहा। प्राचीन भारत में स्त्रियों को ऊँचा स्थान प्रदान किया जाता था। इस पुनर्निर्माण का परिणाम यह था कि भारतीय स्त्री की अवनति के लिए मुस्लिम शासन उत्तरदायी माना गया था। 'स्वर्ण युग के मिथक' की पुनर्खोज हिंदू राष्ट्रवादी पुरुष के लिए तात्कालिक स्त्री की अवनति अवस्था के भार से मुक्त होने का प्रयास थी। यह मिथक काफी प्रचलित रहा और काफी समय तक अकादमिक जगत में स्वीकारा गया। यह मिथक इन विद्वानों द्वारा प्राचीन समय में भारत में भारतीय स्त्री की उच्च स्थिति के बारे में बनाए गए साधारणीकरण पर आधारित था। ऐसा करते हुए वैदिक साहित्य में वर्णित केवल दो उदाहरण गार्गी और मैत्रेयी का उल्लेख किया गया।

उमा चक्रवर्ती और कुमकुम रॉय जैसी विदूषियों ने प्रविधि की समस्याओं को भी बताया है। उमा चक्रवर्ती वैदिक युग में 'ऐतिहासिक चुप्पी' पर सवाल उठाती हैं। डॉ. चक्रवर्ती ने 'अल्तेकर दृष्टि' से आगे जाकर स्त्री इतिहास को देखने की आवश्यकता पर जोर दिया। अल्तेकर ने प्राचीन भारत में स्त्रियों की ऊँची स्थिति के संबंध में काफी कम प्रमाण दिए हैं। इन सीमाओं के बावज़ूद भी राष्ट्रवादी इतिहासकारों के काम ने प्राचीन समय में भारतीय स्त्री के बारे में प्रचलित जन सामान्य बोध को गढ़ने में प्रभावी भूमिका अदा की। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हाल ही में स्त्रीवादी विद्वानों/विदूषियों ने अल्तेकर दृष्टि को चुनौती देना प्रारंभ किया है।

वैदिक युग में स्त्रियों की ऊँची स्थिति को प्रमाणित करने वाली गार्गी की कहानी

प्रसिद्ध दार्शनिक याज्ञवल्क्य ने अन्य ज्ञानियों को प्रतियोगिता की चुनौती दी जिससे उस समय के सर्वाधिक ज्ञानी का निर्धारण हो। याज्ञवल्क्य के साथ छह विद्वानों का शास्त्रार्थ हुआ गार्गी के अतिरिक्त सभी पुरुष थे.... गार्गी भी प्रसिद्ध दार्शनिक की पुत्री थी और याज्ञवल्क्य से पुरजोर तरीके से शास्त्रार्थ कर रही थी। गार्गी के प्रश्न तीखे होते जा रहे थे और शास्त्रार्थ एक निर्णायक मोड़ पर आ गया। गार्गी ने दो बाण एक साथ चलाए जाते हैं वैसे दो अचूक सवाल याज्ञवल्क्य से किए। उत्तर देने के स्थान पर उन्होंने ब्राह्मणवादी पुरुष सत्ता के दावे के साथ शास्त्रार्थ बंद कर दिया और कहा 'हे गार्गी। इतने सवाल मत पूछ। कहीं तुम्हारा मस्तिष्क न फट जाए।'

उमा चक्रवर्ती, जेंडरिंग कास्ट : थ्रू ए फेमिनिस्ट लेंस, स्त्री, कलकत्ता, 2006, पृ. 20

क्या आप ऐसा सोचते हैं कि यह कहानी प्राचीन समय में स्त्रियों की ऊँची स्थिति को बताती है?

क्या आप सोचते हैं कि एक स्त्री को चुप कराने के लिए एक पुरुष द्वारा हिंसा की धमकी पुरुष वर्चस्व को बताती है?

1.2.4. स्त्रियों का जीवन कथ्य: तीसरा चरण

आजादी के बाद भारत में अब तक उपेक्षित बहादुर नायिकाओं के इतिहास लेखन पर जोर दिया गया और अनेक जीवनियाँ सामने आई। इनमें रजिया सुल्तान, चाँद बीबी, जीजा बाई, झाँसी की रानी इत्यादि प्रमुख थी। तथापि ये जीवनियाँ उन्हीं स्त्रियों की थी जो रानियाँ, नायिकाएँ, राष्ट्रीय आंदोलन में भागीदार थी। इतिहास के पन्नों से आम औरतें अभी भी गायब थी। स्वामी माधवानंद और रमेशचंद्र मज़ूमदार की 'ग्रेट वूमॅन ऑफ इंडिया' (1953) इसी तरह का एक उदाहरण है। अब तक इतिहास से पृथक रही स्त्रियों के इतिहास ने मुख्यधारा इतिहास द्वारा बनाई गई संरचनाओं और ढ़ाँचों को चुनौती नहीं दी। मुख्यधारा इतिहास 'अतीत की राजनीति के रूप में इतिहास' के भाव से प्रभावित रहा। इस समय मुख्यधारा या तो राजाओं, वंशों, युद्धों का इतिहास थी या राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने वाले नायकों का। कुछ महिलाओं को बिना मुख्यधारा इतिहास को क्षति पहुँचाए इतिहास के खाँचे में स्थान दे दिया गया।

इस स्तर पर इतिहास ने इन पूर्वधारणाओं को चुनौती नहीं दी कि कौन-सी घटना इतिहास में शामिल करने लायक है? क्यों युद्ध, योद्धा और उनकी जीत इतिहास में महत्वपूर्ण घटनाओं की तरह मानी जाती है? भोजन उत्पादन, सिलाई, प्रजनन एवं पालन-पोषण, परिवार की देखभाल जैसी महत्वपूर्ण गतिविधियाँ इतिहास में स्थान क्यों नहीं बना पाती हैं? बल्कि इतिहास इस स्तर पर सत्ताशील एवं युद्ध करने वाले पुरूषों की भाँति युद्ध करने वाली स्त्रियों की प्रशंसा कर पितृसत्तात्मक पूर्वधारणाओं को मज़बूत कर रहा था। झांसी की रानी इसका एक उदाहरण है।

1.2.5. पूरक इतिहास : चौथा चरण

स्त्री इतिहास ने इस चरण में स्त्रियों को एक समूह या एक वर्ग में देखना शुरू किया। भारत के कई सामाजिक, किसान, श्रम, आदिवासी और आजादी के आंदोलन में स्त्रियों के इतिहास को वापस लिखने वाले कई काम सामने आए। निम्नलिखित प्रमुख कार्य ऐसे हैं, जिन्होंने स्त्रियों को इतिहास निर्माता बताया–

नीरा देसाई	:	वूमन इन मॉडर्न इंडिया (1957)
बी.आर. नंदा	:	फ्रॉम पर्दा टू मार्डनिटी (1962)
मनमोहन कौर	:	वूमन इन इंडियाज फ्रीडम स्ट्रगल (1985)
कुमारी जयवर्द्धने	:	फेमिनिज्म एंड नेशनलिज्म इन द थर्ड वर्ल्ड (1986)
उर्मिला पंवार और मीनाक्षी मून	:	आम्हीही इतिहास घडवाल 1989 (वी आल्सो मेडहिस्ट्री 2008)
स्त्री शक्ति संगठन	:	वी वर मेंकिग हिस्ट्री : लाईफ स्टोरीज ऑफ वूमन इन द तेलगांना पीपुल्स स्ट्रगल
राधा कुमार	:	हिस्ट्री ऑफ डूइंग (1993)

गेर्लडिन कार्बेस : वूमन इन मॉडर्न इंडिया (1996)

पीडित के रूप में स्त्री इतिहास

क्या यह उचित नहीं होगा कि समाज में स्त्रियों को केवल पीड़िता के रूप में चित्रित किया जाए जैसा कि उनकी स्थिति में बदलाव नहीं आया। गेर्डा लर्नर अमेरिका में स्त्री इतिहास और जेंडर अध्ययन ज्ञानानुशासन की जानी-मानी शख्सियत हैं। वह स्त्रियों के इतिहास को पीडिता के रूप में लिखने पर आपत्ति जताती है। वह चेतावनी देती हैं कि यह न केवल असत्य/अवास्तविक/ अ-ऐतिहासिक होगा कि स्त्रियों की इस रूप में पुनर्संरचना की जाए, बल्कि उन्हें केवल पीड़िता के रूप में चित्रित करना भी स्त्रियों के प्रति अन्याय होगा। स्त्रियों ने इतिहास को दिशा देने, संस्कृति और सभ्यता निर्माण में पुरुषों के बराबर भूमिका अदा की है।

1.2.6. स्त्रीवादी इतिहास : पाँचवा चरण

1960 के दशक के बाद स्त्रीवाद की दूसरी लहर के उभार एवं विकास के साथ इतिहासकारों ने इतिहास में स्त्रियों की भूमिका पर पुनर्विचार करना और स्त्रियों की दृष्टि से इतिहास का पुनर्लेखन शुरू किया। स्त्री अध्ययन आगे चलकर एक स्वतंत्र फिर भी अंतरानुशासनिक ज्ञानानुशासन की तरह उभरा। आगे चलकर इसने 'स्त्री इतिहास', 'जेंडर इतिहास', 'जेंडर अध्ययन' जैसी पारिभाषिक शब्दावली भी विकसित की। जेंडर अध्ययन के अध्ययन क्षेत्र में विभिन्न स्तर के शोध एवं कई विषय स्वीकार किए जाते हैं। वास्तव में सामाजिक विज्ञान संबंधी कोई भी सामान्य अकादमिक पाठ्यक्रम जो जेंडर विषय को समायोजित नहीं करता वह पुराना या असंतुलित माना जाता है। स्त्रीवादी इतिहास ने परंपरागत इतिहास लेखन की कसौटी, प्रविधि और प्रचलित औजारों को चुनौती दी और पुनर्रचित इतिहास के लिए नए नरीकों तकनीक और अवधारणाओं को जन्म दिया।

स्त्रीवाद क्या है?

स्त्रीवाद एक मुक्तिकामी राजनीतिक सिद्धांत और जीवंत आंदोलन है जो स्त्री अधीनता के कारणों का पता लगाता है और स्त्रियों को अपने जीवन पर नियंत्रण और सत्ता दिलाने का प्रयास करता है। स्त्रीवाद अखंड (मोनोलिथिक) दृष्टिकोण नहीं है। स्त्रीवादी सिद्धांत में अनेक धाराएँ जन्मी और उन्होंने स्त्री अधीनता के बेहतर विश्लेषण और स्त्री मुक्ति के उपाय हेतु कई विचारगत और अवधारणागत औजार प्रदान किए हैं इनमें उदारवादी स्त्रीवाद, मार्क्सवादी स्त्रीवाद, रेडिकल स्त्रीवाद आदि हैं। जेंडर, यौनिकता और पितृसत्ता जैसे औजार और अवधारणाएँ जो स्त्रीवादी सिद्धांत द्वारा विकसित की गई उनका उपयोग अनेक इतिहासकारों द्वारा स्त्रियों के इतिहास के नए तथ्यों का पता लगाने में किया गया है।

इस बिंदु पर स्त्रीवादी इतिहास ने वर्ग जाति, जेंडर और पितृसत्ता जैसे नए सामाजिक विचारों को खंगालने का प्रयास किया और स्त्री इतिहास को समझने में महत्वपूर्ण योगदान किया।

पितृसत्ता क्या है?

पितृसत्ता एक विचारधारा है और ठीक उसी समय यह उत्पादन और पुनर्उत्पादन के लिए स्त्री श्रम की अधीनता हेतु एक भौतिक संरचना है। व्यवहार में पितृसत्ता स्त्रियों में पितृसत्तात्मक कायदों को अंतर्निहित करवा कर या स्त्रियों की मिलीभगत को कुछ निश्चित रूपों में पुरस्कार करने उनकी सहमति प्राप्त करती है। रेडिकल स्त्रीवादियों ने तथाकथित पवित्र कहे जाने वाले संस्थानों परिवार, शादी, स्त्री-पुरुष रिश्ते में निहित सत्ता संबंधों का खुलासा किया और 'पर्सनल इज पॉलिटिकल' का नारा दिया। पितृसत्ता स्थान, समय और समाज में भिन्न-भिन्न रूप धारण किए रहती है।

स्त्रीवादी विद्वान/विदूषियों ने ए.एस.अल्तेकर के 'स्त्री की स्थिति दृष्टिकोण' से अपने नजरिए को बदला और स्त्री अधीनता एवं इस अधीनता को संभव बनाने वाली संरचना और मूलभूत प्रश्नों पर ज्यादा जोर देना शुरू किया। समाज विज्ञानियों ने महसूस किया कि स्त्री अधीनता को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि हम समाज में स्त्रियों के इतिहास का अध्ययन और विश्लेषण नहीं कर लें। साथ ही धर्म, कानून, संस्कृति और अर्थशास्त्र की प्रक्रिया और सामाजिक संरचनाओं, उत्पादन एवं पुर्नउत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं के साथ इसके रिश्ते को समझना भी जरूरी है।

स्त्रीवादी विद्वानों/विदूषियों ने ज्यादा सार्थक प्रश्न उठाने शुरू किए। अतीत में स्त्रियों की अधीनता क्यों रही और किस समय से समाज में उनकी स्थिति में पतन शुरू हुआ? क्या अतीत में स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार प्राप्त थे? विभिन्न समयों में समाज में किस तरह के जेंडर रिश्ते विद्यमान थे? स्त्रियों उत्पादन और पुर्नउत्पादन व्यवस्था में किस तरह भाग लेती थी?

गेर्डा लर्नर ने वर्ग और जेंडर के आपसी रिश्तों को खंगालते हुए प्राचीन मेसोपोटामिया में स्त्री अधीनता का अध्ययन किया। उनका अध्ययन आर्थिक प्रश्नों को सामान्य समझ से परे देखने की बात करता है और उत्पादन, पुर्नउत्पादन संबंधों का अध्ययन भी करता है। भारत में स्त्रीवादी अध्येताओं द्वारा उनका विश्लेषण व्यापक किया गया कि भारतीय संदर्भ में किस प्रकार उत्पादन एवं पुर्नउत्पादन की प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से संबंधित है? दूसरे शब्दों में उन्होंने विश्लेषण का नया औजार एवं नजरिया खोजा और बताया कि जाति और जेंडर एक-दूसरे से गुथे हुए हैं। भारत में प्रासंगिक प्रश्न थे; जाति, वर्ग और जेंडर संरचना को कौन नियंत्रित करता था? उत्पादन एवं पुनर्उत्पादन की प्रक्रिया कैसे संगठित होती थी? स्त्री यौनिकता को कौन नियंत्रित करता था?

उमा चक्रवर्ती ने इस विश्लेषण को इन शब्दों में बताया है -

'वर्ग, जाति और जेंडर अंतर्ग्रंथित हैं। वे एक-दूसरे को आकार प्रदान करते हैं; शादी की संस्था, यौनिकता और पुर्नउत्पादन जाति व्यवस्था की आधारशिला है। असमानता इसी के द्वारा बनाई रखी जाती है। शादी की संरचना ही वर्ग और जाति असमानता और पुर्नउत्पादन व्यवस्था की कठोर नियंत्रित प्रणाली द्वारा समस्त उत्पादन व्यवस्था को पुर्नउत्पादन करती है।'

चक्रवर्ती,उमा(2006).जेंडरिंग कास्ट : थ्रू द फेमिनिस्ट लेंस.कोलकाता:स्त्री,पृ. 27

क्या आप जानते हैं?

डॉ. बाबासाहब अंबेडकर ने 60 के दशक के बाद के स्त्रीवादी इतिहासकारों से काफी पहले भारतीय इतिहास का बहुत महत्वपूर्ण विश्लेषण किया। उन्होंने यह समझने का प्रयास किया कि भारतीय इतिहास में क्यों और कब से स्त्रियाँ और शूद्र अधीन किए गए ? उन्होंने एक सिद्धांत दिया – भारत में स्त्रियों और शूद्रों को जाति व्यवस्था एवं पितृसत्ता को बनाए और मजबूत रखने के लिए अनवरत दासता में रखा गया। इस सिद्धांत ने भारतीय इतिहास में जाति और जेंडर के मुद्दों को एक साथ विश्लेषित करने के लिए उन्हें अलग-अलग देखने के बजाए नए आयामों को खोला।

ऐसे विश्लेषण पर आधारित अनेक कार्य भारत में स्त्री इतिहास की नई समझ के साथ आए। इनमें है:

- कुमकुम सरकारी, सुदेश वेद (सं) : रीकास्टिंग वूमन, ऐसेज इन कोलोनियम हिस्ट्री (1989)
- डॉ. शरद पाटिल : मार्क्सिज्म, फुले एंड अंबेडकरिज्म 1993)
- गेल आम्बेट : रिइनवेंटिंग रिवोल्यूशन (1993)
- लीला कस्तूरी और वीणा मजूमदार (सं.) : वूमन इन इंडियन नेशनलिज्म (1994)
- मेरी ई.जॉन और जानकी नायर (सं.) : ए क्वेशचन ऑफ सायलेंस? द सेक्सुअल इकॉनामिज ऑफ मॉडर्न इंडिया (1998)
- उमा चक्रवर्ती : रीराईटिंग हिस्ट्री : द लाईफ एंड टाइम्स ऑफ पंडिता रमाबाई (1998)
- वी.गीता., वी.एस राजदुरई : टूवर्डस ए नॉन-ब्राह्मण मिलेनियम : फ्राम लोथी थॉस टू पेरियार (1998)
- कुमकुम रॉय (सं.) : वूमन इन अर्ली इंडिया सोसायटीज (1999)
- कुमकुम संगारी और चक्रवर्ती (सं.) : फ्रॉम मिथ्स टू मार्केट : ऐसेज ऑन जेंडर (1999)
- उमा चक्रवर्ती : जेंडरिंग थ्रू ए फेमिनिस्ट लेस (2003)

1.2.7. स्त्री इतिहास वाया स्त्री लेखन: छठा चरण

परंपरागत स्रोत/अभिलेख स्रोत कई बार स्त्री अनुभवों और उनकी आवाजों पर रोशनी डालने में असफल रहते हैं। स्रोतों का अभाव एक बड़ी चुनौती है, जिसका सामना स्त्री इतिहास क्षेत्र में काम करने वाले अध्येता करते हैं। स्त्री इतिहास अतीत में स्त्रियों का रिकार्ड मात्र नहीं, बल्कि खुद स्त्रियों द्वारा अनुभूत अतीत की पुनर्व्याख्या है। यह आवश्यकता स्त्रियों द्वारा निर्मित किए गए स्रोतों, जैसे साहित्य, लोक साहित्य, मौखिक इतिहास, डायरी, नृवृतांत, लोक कथाएं, मुहावरे आदि की तलाश करती है।

अभिलेख स्रोतों की तुलना में साहित्य को आजकल इतिहास लेखन में समान रूप से एक महत्वपूर्ण, मौलिक एवं विश्वसनीय स्रोत माना जाता है। इतिहास की तरफ साहित्य भी समय, काल, व्यक्ति और समाज का मापक है। इतिहास और साहित्य के बीच सीधा निष्कर्ष नहीं निकाल सकते हैं। एक इतिहासकार किसी दिए हुए समय की सामाजिक प्रकृति (लोकाचार- सोशल इथोस) को समझने का उद्देश्य रखता है। साहित्य ऐसा माध्यम है जिसमें न केवल किसी समय की सामाजिक प्रकृति, लोकाचार उपस्थित होता है, बल्कि वह नए लोकाचार को फैलाने एवं सृजित करने का समान रूप से सशक्त यंत्र भी है।

स्त्रीवादी आलोचकों द्वारा प्रस्तुत एक तथ्य है कि पुरुषों के लेखन को सामान्यत: 'कायदे' (द नॉर्म) की तरह बुलाया जाता है जैसे कि यह सभी महान रचनाओं का प्रतिनिधित्व करता हो। साहित्य धारा में महान रचनाओं को शामिल करने हेतु चुनने की प्रक्रिया में यह शामिल है कि कुछ पूर्व धारणाओं का समुच्चय होता है जो निर्धारित करता है कि किसी भी रचना को क्या महान बनाता है।

साहित्य सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों (दृश्य कलाएँ, चित्र, विज्ञापन, फिल्म, टी.वी. की तरह) के अनेक रूपों में से एक रूप है, जिनमें जेंडर रिश्तों का सामान्यत चित्रण किया जाता है। साहित्यिक पाठ एक ओर जेंडर रूढ़ छवियों को मज़बूत बना सकते है। वहीं दूसरी ओर जेंडर मुक्ति की अभिव्यक्ति भी बन सकते हैं। साहित्य निर्माण में नस्ल, वर्ग, आयु, राष्ट्रीयता, यौनिकता, नृजातीयता और भाषा सभी तत्व प्रभाव डालते हैं। साहित्य सामाजिक प्रकृति, लोकाचार की अभिव्यक्ति होता है। टेरी ईगलटन के अनुसार साहित्य सामाजिक उत्पादन के साथ साथ सामाजिक ताकत भी है।

स्त्रीवादी आलोचकों की अन्य खोज यह भी है कि लेखन का एक ऐसा महत्वपूर्ण हिस्सा भी है, जो अधिकांशत: स्त्रियों द्वारा लिखा गया है परंतु पीढ़ियों द्वारा या तो उसकी उपेक्षा कर दी गई या उस पर चुप्पी साध ली गई। ये स्त्री लेखिकाएँ या तो गलत व्याख्यायित की गई या उनका चित्रण इस तरह किया गया कि उनके कार्य की महत्ता समाप्त हो जाए। अत: यह सबसे महत्वपूर्ण काम हो गया कि ऐसा अज्ञात स्त्री लेखिकाओं का पता लगाया जाए और उन्हें इतिहास के पन्नों पर दृश्यमान किया जाए। मीरा कौसानी ने अपनी रचनाओं 'क्रॉसिंग थ्रेशोल्ड फेमिनिस्ट ऐसेज इन सोशल हिस्ट्री' (2007) और 'फेमिनिस्ट और ट्रीजन अगेस्ट मैन? काशीबाई कानिटकर एण्ड द इनजेंडरिंग ऑफ मराठी लिट्रेचर' (2008) में महाराष्ट्र के जेंडर इतिहास की अज्ञात रूपरेखा की खोज की है। विद्युत भागवत, तारा भावलकर एवं विनया खादपेकर जैसी विदूषियों ने ताराबाई शिंदे, गीतासाने, शकुंतला परांजपे, कमला देसाई, गौरी देशपांडे जैसी मराठी स्त्री लेखिकाओं को सामने लाने में बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया है। 'स्त्री साहित्याचा मागोवा' तीन खंडों का एक वृहद विश्वकोश है जो मध्ययुग से बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक मराठी स्त्री लेखिकाओं के व्यवस्थित इतिहास को प्रस्तुत करता है। अनेक विद्वानों/विदूषियों ने स्त्री लेखन का विद्वतापूर्ण उपयोग अतीत में स्त्रियों के पुनर्निर्माण पर किया है। रोमिला थापर का 'शकुंतला : टेक्स्ट, रीडिंग, हिस्ट्रीज' (1999) इसका एक उदाहरण है। यह पुस्तक शकुंतला के वर्णन के विभिन्न संस्करणों के अध्ययन के आधार पर साहित्य और इतिहास व संस्कृति, इतिहास और जेंडर के बीच रिश्ते खोजने का प्रयास करती है। इसमें महाभारत की कथा, कालीदास रचित नाटक, बृज में अठ्ठारहवीं सदी की कथा, प्राच्यवादियों एवं राष्ट्रवादियों का शकुंतलना पर लेखन शामिल है। जहाँ तक आधुनिक बंगाल के इतिहास का सवाल है मालविका कार्लेकर और तनिका सरकार जैसी इतिहासकारों ने बंगाल में जेंडर संरचना के निर्माण और उभरते हुए हिंदू राष्ट्रवाद के साथ इसके रिश्ते पर केंद्रित काफी महत्वपूर्ण काम प्रस्तुत किया है।

यहाँ कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकों की सूची है जो अतीत में स्त्रियों की छवि विषय पर केंद्रित है-

- कुमकुम संगारी, सुदेश वेद (सं.) : वूमन एंड कल्चर (1985)
- विजया रामास्वामी : डिवीनिटी एंड डेविएंस: वूमन एंड वीराशैविज्म (1996)
- विजया रामास्वामी : वॉकिग नेकेड : वूमन, सोसायटी, स्प्रिचुअलिटी इन साउथ इंडिया (1997)
- विजया रामास्वामी और कुमकुम रॉय (सं.) : इमेजेज एण्ड सेल्फ इमेज : इंडियन वूमन इन हिस्ट्री, मिथ एण्ड फिक्शन (1998)
- एलिस थोर्नर और मैत्रेयी कृष्णराज (सं.) : आईडिएल्स, इमेजेज एंड रीयल लाईफ : वूमन इन लिट्रेचर एंड हिस्ट्री (2000)
- मंदाक्रांता बोस (सं.) : फेसेज ऑफ द फेमिनाइन इन एशियंट, मिडाइवल एंड मॉडन इंडिया (2000)
- सुप्रिया चौधरी और सजनी मुखर्जी (सं.) : लिट्रेचर एंड जेंडर : ऐसेज फॉर जसोधरा बागची (2002)
- जूडिथ ई वाल्श : डोमिस्टीसिटी इन कॉलोनियल इंडिया : व्हाट वूमन लर्नड वेन मैनगेव देम एडवाइज (2004)

कुछ नए अध्ययन राष्ट्र निर्माण की राजनीति तथा सांप्रदायिक राजनीति में जेंडर के आयाम पर भी केंद्रित रहे हैं। उदाहरण के लिए पार्था चटर्जी और प्रदीप जगन्नाथ की 'कम्युनिटी जेंडर एंड वायलेंस : सब्लटर्न स्टडीज' (2000) तथा तनिका सरकार की 'हिंदू वाईफ, हिंदू नेशन : कम्युनिटी एंड कल्चरल नेशनलिज्म' (2001) है।

पूर्णिमा मानकेकर की पुस्तक 'स्क्रीनिंग कल्चर, विव्यूइंग पॉलिटिक्स : टेलीविजन, वूमनहुड एण्ड नेशन इन मॉडन इंडिया' (2000) ने बताया कि आधुनिक भारत में भारतीय स्त्रीत्व को चित्रित करने एवं 80 के दशक के बाद की राजनीति के साथ इसके रिश्ते बनाने में टेलीविजन कैसे एक साथ महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली माध्यम के रूप में उभरा।

भारतीय स्त्री पर प्रारंभिक कार्यों में अधिकांश रचनाएं ऊँची जाति की स्त्रियों पर केंद्रित थे। 1990 के बाद के दशक में वर्ग, जाति, क्षेत्र के संदर्भ में हाशिए की स्त्रियों पर काम सामने आए। इनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं।

- चतुर्भुज साहू : द संथाल वूमन : ए सोशल प्रोफाइल (1996)
- मीना आनंद (सं.) : दलित वूमन : फिअर एण्ड डिसक्रिमिनेशन (2005)
- बद्रीनारायण : वूमन हीरोज एण्ड दलित एसर्सन इन नार्थ इंडिया : कल्चर आईडेंटिटी एंड पॉलिटिक्स (कल्चरल सबओर्डिनेशन एंड सोशल चेंज) 2006

- नारायण भोंसले : भटक्यांची पितृसत्ताक जात पंचायत आणि संघर्ष (मराठी) (2008)
- शर्मिला रेगे : राईटिंग कास्ट, राईटिंग जेंडर : नरेटिंग दलित वूमन्स टेस्टीमोनिज (2008)
- सामंथा बनर्जी : द डेंजरस आउटकास्ट : द प्रोस्टीट्यूट इन नाइनटीज सेंचुरी बंगाल (2000)
- के के जार्डन : फ्रॉम सेक्रेड सर्वेट टू प्रोफेन प्रोस्टीट्यूट : ए हिस्ट्री ऑफ द चेंजिंग लीगल स्टेटस ऑफ द देवदासी इन इंडिया (2003)
- आर.के. गुप्ता : चेंजिंग स्टेटस ऑफ देवदासीज इन इंडिया (2007)

पिछले कुछ वर्षों से अनेक क्षेत्रीय अध्ययन सामने आए हैं जो पंजाब, ओडिशा, बंगाल और महाराष्ट्र में जाति, वर्ग जेंडर निर्माण के मुद्दे पर व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इन अध्ययनों से भारत में कई क्षेत्रों के तुलनात्मक अध्ययन के आयाम खुले हैं-

- ए. मल्होत्रा : जेंडर, कास्टएण्ड रीलिजियस आईडेंटिटी रीस्ट्रकचरिंग क्लास इन कोलोनियल पंजाब (2002)
- सच्चिदानंद मोहंती : अर्ली वूमन्स राईटिंग इन उड़ीसा (1898-1950) : ए लॉस्ट ट्रेडीशन (2005)

कुछ विद्वतापूर्ण अध्ययन विभाजन और नजरिए से विभाजन के इतिहास पर सामने आए है। विभाजन के स्त्री अनुभव बहुतेरे बलात्कार, अपहरण और जबरन शादी के आधार पर बने हैं। इतिहासकारों ने जेंडर और पितृसत्ता के संदर्भ में विभाजन के स्त्री अनुभवों को समझने का प्रयास किया है। इनमें से अधिकांश काम स्त्रियों के वृतांत, साक्षात्कार और रचनाओं पर आधारित है। इस प्रकार मौखिक इतिहास स्त्री की आवाज को संगठित करने और स्त्री इतिहास के पुनर्लेखन का महत्वपूर्ण औजार है। स्त्री इतिहास अतीत का स्मृतिधन है। इस संबंध में महत्वपूर्ण काम है :

- गार्गी चक्रवर्ती : कमिंग ऑफ पार्टीशन : रिफ्यूजी वूमन ऑफ बंगाल (2005)
- उर्वशी बुटालिया : द अदर साइड ऑफ साइलेंस (2007)

अनेक विद्वानों/विदूषियों ने चित्रों और पोस्टरों जैसे नए स्रोतों का उपयोग करते हुए कुछ काम प्रस्तुत किए हैं:

- गीति सेन : फेमिनाइल फेबल्स : इमेजिंग द इंडियन वूमन इन पेंटिंग, फोटोग्राफी एंड सिनेमा (2002)
- मालविका कार्लेकर : री-विजलिंग द पास्ट-अर्ली फोटोग्राफी इन बंगाल 1875-1915 (2005)

- मालविका कार्लेकर : विजुअलाईजिंग इंडियन वूमन : ए डाक्यूमेंट्री 1847-1947 (2005)
- मालविका कार्लेकर : पोस्टर वूमन : ए विजुअल हिस्ट्री ऑफ द वूमन्स मूवमेंट इन इंडिया (2006)

साउंड एण्ड पिक्चर आर्काइवज फॉर रिसर्च ऑन वूमन (स्पेरो)

यह मुंबई स्थिति संगठन है। यहाँ स्त्री इतिहास लेखन पर महत्वपूर्ण काम हुए हैं। इनमें कुछ प्रमुख निम्नलिखित है :

- नीरा देसाई : फेमिनिज्म एज एकसपिरीयन्स थॉट एण्ड नेरेटिव्स
- माया कामत : द वर्ल्ड ऑफ माया
- रोशन जी शाहनी: एलन, हर इनफिनिट वेरायटी
- वीना पूनांचा : फ्राम द लैंड ऑफ ए थाउजेंड हिल्स
- रोहिनी गावांकर : पानीवाली बाई
- शांतु गुरनानी : द वर्ल्ड एज माई लेबेरेट्री विथ साइंज
- कला शाहनी : स्टेडिंग ऑन हर ओन फीट
- प्रमिला : इस्थर विक्टोरिया अब्राहम
- कनक : स्टोन एण्ड गोल्ड
- उर्मिला पंवार : द मेकिंग ऑफ हिस्ट्री
- दमयंती जोशी : मनेकाज डॉटर
- सखुबाई : व्हे मी सावित्री बाई
- जमीला निशत : ए पोएम स्लमबर्स इन माई हार्ट
- माया : विषमाया
- नीला : कलर्स ऑफ ट्रेडीशन
- स्पीकिंग फ्रॉम द गट्स : मेमोरीज् ऑफ कम्युनल राइट्स

1.2.8. सारांश

हमने भारत में इतिहास लेखन की विभिन्न शाखाओं को अपना विषय बनाया, जिसमें उपनिवेशी शासन की शुरुआत से 20वीं शताब्दी का पहला दशक शामिल है। हमने यह भी विश्लेषित करने का प्रयास किया कि इन विभिन्न शाखाओं में स्त्री के इतिहास को किस प्रकार विभिन्न तरीके से बताया गया। हमने यह भी समझने का प्रयास किया कि कैसे वर्तमान की प्रभुत्वशाली विचारधारा स्त्री संबंधी इतिहास लेखन को प्रभावित करती है, जिसने विभिन्न समय में भारत को एक रूप प्रदान किया। हमने प्रमुख रचनाओं को भी अपने अध्ययन का विषय बनाया जो पिछले कुछ दशकों में भारत में आए है और स्त्री इतिहास को पुनर्रचित करने में योगदान दे रहे हैं।

1.2.9. बोध प्रश्न

1. भारत में इतिहास लेखन की राष्ट्रवादी धारा में स्त्री की पुनर्रचना में क्या समस्याएं हैं?
2. स्त्रियों के सहयोगी इतिहास की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।
3. स्त्रीवादी इतिहास लेखन के योगदान पर चर्चा कीजिए। (प्रो. उमा चक्रवर्ती के विशेष संदर्भ में)
4. जेंडर क्या है? भारत में इतिहास लेखन को जेंडर शब्दावली ने किस प्रकार प्रभावित किया है?
5. आधुनिक भारत के संदर्भ में स्त्रीवादी इतिहास लेखन की चर्चा कीजिए।

1.2.10. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Agrawal, Bina. (1988). *Structures of Patriarchy Kali for Women*. New Delhi.
2. Altekar, A.S. (1962). The Position of Women in Hindu Civilization. Delhi: Motilal Banarsidass.
3. Chakravarti, Uma. & Roy, Kumkum, 'In Search a our Past: A Review of the Limitations and Possibilities of the Historiography of Women in Early India', Economic and Political Weekly, April 30, 1988.
4. Desai, Neera. (1957). *Women in Modern India*. Bombay: Vora and Co.
5. Desai, Neera. & Krishmaraj, Maithreyi. (1987). *Women and Society in India*. New Delhi: Ajanta Publications.
6. Engineer, Ashgar. Ali. (1999). *The Status of Women in Islam*. Bombay: Institute of Islamic Studies n.d.
7. Forbes, Geraldine. (1999). *Women in Modern India*. Cambridge: Cambridge Uni. Press.

8. Josji, Pushpa. (1988). *Gandhi on Women*. Gujrat: Navjivan Publishing House.

9. Kaar, Manmohan. (1992). *Women in India's Freedom struggle (1857-1947)* New Delhi: sterling Publishers.

10. Karmarkar, Preeti. (1998). *Feminist theory and Knowledge*. Pune: Women's Studies Centre, Department of Sociology, University.

11. Nanda, B. R. (1979). *Indian Women: From Pardah to Modernity.* New Delhi: Vikas Publishing House.

12. Nanda, B. R. (1987). *Indian Women: From Purdah to Modernity.* New Delhi: Vikas Publishing House.

13. Suryakumari, A. (1993). *Women's Studies: An Emerging Discipline*. New Delhi: Gyan Publishing House.

14. Talim, M. (1972). *Women in Early Buddhist Literature*. Bombay: University of Bombay.

15. Thomas, P. (1967). *Indian Women through the Ages*. New York: Asia Publishing House.

16. Tong, Rosemarie. (1992). *Feminist thought: A Comprehensive Introduction.* London: Rutledge.

17. अनामिका. (1999). *स्त्रीत्व का मानचित्र*. दिल्ली: सारांश प्रकाशन.

18. राजे, सुमन. (2003). *हिंदी साहित्य का आधा इतिहास*. दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ.

19. कुमार, राधा. (*2002*). *स्त्री संघर्ष का इतिहास*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

इकाई-3 पितृसत्ता

इकाई की रूपरेखा

1.3.0. उद्देश्य

1.3.1. पितृसत्ता क्या है

1.3.1.1. पितृसत्ता का अर्थ

1.3.1.2. पितृसत्ता: स्त्रीवाद के संदर्भ में

1.3.1.2.1. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

1.3.1.2.2. पितृसत्ता रेडिकल स्त्रीवाद की नज़र में

1.3.1.2.3. रेडिकल स्त्रीवाद की आलोचना

1.3.1.2.4. पितृसत्ता का अर्थविस्तार

1.3.2. पितृसत्ता की उत्पत्ति और निरंतरता संबंधी मत

1.3.2.1. पितृसत्ता सार्वभौम और सर्वकालिक है

1.3.2.1.1. धार्मिक तर्क

1.3.2.1.2. शिकारी पुरुष का तर्क

1.3.2.1.3. समाज-जीवविज्ञानी ई. ओ. विल्सन

1.3.2.2. पितृसत्ता सार्वभौम और सर्वकालिक नहीं है

1.3.2.2.1. फ्रेडरिक एंगेल्स

1.3.2.2.2. एंगेल्स की आलोचना

1.3.2.2.3. लेवीस्ट्रास और क्लाउड मेलेसा (Claude Meillassoux)

1.3.2.2.4. गर्दा लर्नर

1.3.3. मातृवंशीयता और मातृसत्ता

1.3.4. भारतीय समाज में पितृसत्ता

1.3.5. सारांश

1.3.6. बोध प्रश्न

1.3.7. संदर्भ ग्रंथ सूची

1.3.0. उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे कि -

- पितृसत्ता की अवधारणा और स्वरूप से परिचित होंगे।
- पितृसत्ता की उत्पत्ति संबंधी विभिन्न मत से परिचित होंगे।
- भारतीय समाज में पितृसत्ता के वैशिष्टय से परिचित होंगे।

1.3.1. पितृसत्ता क्या है?

हमारे समाज में कई तरह की असमानताएँ हैं। स्त्री और पुरुष के बीच की असमानता उन में से एक है। आम तौर पर पितृसत्ता का प्रयोग इसी असमानता को व्यक्त करने के लिए होता है। इस रूप में यह हमारे सहज बोध में इस कदर रचा-बसा है कि इसे परिभाषित करना फिजूल लग सकता है, लेकिन स्त्रीवादियों के बीच इसकी परिभाषा को लेकर मतभेद रहा है। कुछ स्त्रीवादी तो ऐसी हैं जो इसके प्रयोग को ही अनुपयोगी मानती हैं। इसका एक कारण पितृसत्ता शब्द का पहले जिस अर्थ में प्रयोग होता आ रहा था, वह है। दूसरा कारण वह पृष्ठभूमि है जिसमें स्त्री की अधीन स्थिति के लिए इस शब्द का प्रयोग होना शुरू हुआ था। आगे इन कारणों पर विचार किया गया है।

1.3.1.1. पितृसत्ता का अर्थ

पितृसत्ता अंग्रेज़ी के *पैट्रियार्की* (Patriarchy) का हिंदी समानार्थी है। अंग्रेज़ी में यह शब्द यूनानी शब्दों *पैटर* (Pater) और *आर्के* (Arche) को जोड़कर बनाया गया। *पैटर* का अर्थ पिता तथा *आर्के* का अर्थ शासन होता है। इस तरह *पैट्रियार्की* का शाब्दिक अर्थ है *पिता का शासन*। पीटर लेसलेट ने अपनी किताब द *वर्ल्ड वी हैव लॉस्ट* (1965) में औद्योगीकरण से पहले के इंग्लैंड के समाज की परिवार-व्यवस्था का वैशिष्टय उसका *पितृसत्तात्मक* होना बताया है। यहाँ परिवार के साथ व्यवस्था का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिए किया जा रहा है कि आम तौर पर परिवार के सदस्य के रूप में केवल पति-पत्नी का एक जोड़ा और बच्चे ही नहीं गिने जाते थे, बल्कि दादा-दादी, चाचा-चाची, भतीजा-भतीजी नौकर-चाकर आदि सभी उसके दायरे में आते थे। परिवार न केवल उत्पादन की इकाई, बल्कि सामाजिक इकाई भी था। पिता अथवा सबसे बुजुर्ग पुरुष का संपत्ति और बाकी सारे सदस्यों, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, पर निरंकुश अधिकार रहता था। यह अधिकार उत्तराधिकार के निश्चित नियमों के तहत एक पुरुष से दूसरे पुरुष को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता था। परिवार के बाहर राजा प्रजा के लिए पिता समान था। भारत में इस तरह की परिवार-व्यवस्था (संयुक्त-परिवार) आज़ादी प्राप्त होने के बहुत बाद तक बनी रही और यहाँ भी राजा को प्रजा-पालक (पिता) माने जाने की रीति रही है।

1.3.1.2. पितृसत्ता: स्त्रीवाद के संदर्भ में

यहाँ हम उस पृष्ठभूमि के बारे में विचार करेंगे, जिसमें स्त्री पर पुरुष की सत्ता के लिए पितृसत्ता शब्द का प्रयोग होना प्रारंभ हुआ था।

1.3.1.2.1. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सत्तर के दशक में अमेरिका में वियतनाम युद्ध के विरोध में और नागरिक अधिकारों के पक्ष में जन्में आंदोलनों में स्त्रियों ने भी बड़ी संख्या में भाग लिया था। उन स्त्रियों ने पाया कि आंदोलन में शांति, न्याय और समता की बड़ी-बड़ी बातें करने वाले साथी पुरुषों का उनके प्रति जो व्यवहार था वह आम पुरुषों से भिन्न नहीं था। ये वे स्त्रियां थीं जो अपने लिए निर्धारित कर दी गई पारंपरिक भूमिकाओं के दायरों में सीमित नहीं रहना चाहती थीं। ये वे स्त्रियां थीं जो पितृसत्तात्मक समाज द्वारा थोपे गए नीति-नियमों का विरोध कर समान मानवीय अधिकारों की मांग कर रही थीं। वे यौन संबंधी रूढ़ियों को उखाड़ फेंकने की बात कर रही थीं। स्त्री समूह की मांग ने पितृसत्तात्मक समाज के सामने एक बड़ी चुनौती खड़ी कर दी थी। उनकी मांगों पर ध्यान नहीं दिया गया और वियतनाम-युद्ध विरोधी मुहिम का झंडा थामे संगठन के नेतृत्व ने उनसे कहा कि आंदोलन में स्त्रियों को पुरुषों के पीछे रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में, स्त्रियों को नेतृत्व क्षमता से हीन भोग की वस्तु और अनुगामिनी के रूप में ही लिया जा रहा था, जबकि उन स्त्रियों ने यह सोचा था कि शोषण और अन्याय के खिलाफ मुहिम चलाने वाले पुरुषों की मानसिकता बदली हुई होगी और कम-से-कम आंदोलन में वे उन्हें अपने बराबर समझेंगे। वहाँ के कड़वे अनुभवों से वे इस नतीजे पर पहुँचीं कि घर हो या बाहर, पुरुषों की स्थिति शोषक और स्त्रियों की शोषित के रूप में ही अवस्थित हैं।

1.3.1.2.2. पितृसत्ता: रेडिकल स्त्रीवाद की नज़र में

उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रेडिकल स्त्रीवाद पनपा और सबसे पहले केट मिलेट की कृति **सेक्सुअल *पॉलिटिक्स प्रकाशन वर्ष* (1970)** में व्यवस्थित रूप में व्यक्त हुआ। केट मिलेट ने ही स्त्री और पुरुष के बीच की सत्ता की स्थिति के लिए सबसे पहले पितृसत्ता शब्द का प्रयोग किया। ऐसा करने के पीछे उनका मंतव्य यह जाहिर करना था कि स्त्री की दोयम स्थिति व्यवस्थागत है और उसकी अस्मिता स्वायत्त है। इस तरह मिलेट ने *पिता के शासन* के अर्थ में प्रयुक्त किए जाते रहे शब्द का *पुरुष की सत्ता* के अर्थ में प्रयोग कर उसका रूपांतरण कर दिया। मिलेट द्वारा स्त्री की दोयम स्थिति को व्यवस्था के रूप में रेखांकित करना स्त्रीवादी चिंतन और आंदोलन दोनों के लिहाज से बड़ी महत्वपूर्ण बात थी। उससे पहले यह मान्यता व्याप्त थी कि स्त्री की अधीनता अपने आप में एक व्यवस्था न होकर पूंजीवाद अथवा इसी तरह की किसी अन्य वृहत्तर व्यवस्था का हिस्सा है।

यहाँ गौरतलब है कि मिलेट ने पितृसत्ता का केवल स्वरूप ही उकेरा था। वे इसका कोई ठोस आधार नहीं विश्लेषित कर पाई। पितृसत्ता क्यों है, स्त्री की स्थिति दोयम क्यों है, पुरुष शोषण करने की स्थिति में क्यों हैं – इन प्रश्नों को उन्होंने अनुत्तरित ही छोड़ दिया।

मिलेट के बाद रेडिकल स्त्रीवादी शुल्मिथ फायरस्टोन ने ***द डायलेक्टिक ऑफ सेक्स*** **(1970)** में मिलेट द्वारा अधूरे छोड़ दिए कार्य को पूरा किया। सबसे पहले तो उन्होंने पितृसत्ता को ही केंद्रीय संरचना सिद्ध किया। इसके लिए उन्होंने मार्क्स-एंगेल्स के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को दुरुस्त किया। फायरस्टोन के मुताबिक, मार्क्स-एंगेल्स ने वर्ग, वर्ग-संघर्ष, अंतर्विरोध और शोषण को केवल आर्थिक परिक्षेत्र तक ही सीमित करके देखा था। अन्य अंतर्विरोधों को उन्होंने द्वितीयक और इसलिए आर्थिक वर्ग के खत्म होने के साथ स्वत: मिट जाने लायक माना था। फायरस्टोन ने यह प्रस्तावित किया कि इतिहास में प्रमुख अंतर्विरोध और संघर्ष आर्थिक धरातल पर श्रम करने वालों और उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व या नियंत्रण रखने वालों के बीच नहीं रहा है। उन्होंने आर्थिक वर्ग की जगह *यौन वर्ग* शब्द का प्रयोग करते हुए मानव समाज को मूलत: पुरुष वर्ग और स्त्री वर्ग में बंटे होने और मानव इतिहास को मुख्य तौर पर इन्हीं के बीच अंतर्विरोध और संघर्ष का इतिहास घोषित किया। उन्होंने दावा किया कि इतिहास की उनकी इस नई भौतिकवादी व्याख्या की तर्ज पर होने वाली क्रांति ही सच्ची और असली क्रांती होगी।

इस तरह की क्रांति के लिए फायरस्टोन ने उन कारणों को रेखांकित किया जो स्त्री की दोयम स्थिति के लिए ज़िम्मेदार रहे हैं। स्त्री की शारीरिक संरचना में उसकी अधीनता की खोज करते हुए उन्होंने जो कारण गिनाए वे निम्नलिखित हैं –

- स्त्री की गर्भधारण और संतानोत्पति की क्षमता;
- गर्भ की अवस्था में शारीरिक विवशता और अर्थोपार्जन न कर पाने के कारण पुरुषों पर निर्भर रहने की उसकी विवशता;
- शिशु की देखभाल;
- माता पर शिशु की लंबे समय तक निर्भरता
- इस लंबी अवधि के अनन्तर माँ और बच्चे के बीच पनपे संवेदनात्मक संबंध और
- अपनी इस प्रजनन क्षमता के कारण विशेष प्रकार के ही श्रम करने की बाध्यता ।

चूँकि यह सब पारंपरिक पारिवारिक संरचना के दायरे में घटित होता है, इसलिए फायरस्टोन जिस क्रांति की ज़रूरत की बात कर रही थी उसके लिए उनके मुताबिक, परिवार नाम की इस संरचना को खत्म करना पहला उपाय था। दूसरा उपाय उन्हें कृत्रिम गर्भाधान और गर्भ निरोध जैसी तकनीक के विकास में दिखा। उन्हें लगा कि इनसे स्त्री प्रजनन की अनिवार्यता और अनचाहे गर्भ से मुक्त हो जाएंगी। तीसरा उपाय

उन्होंने यह सुझाया कि बच्चे की देखभाल की ज़िम्मेदारी समाज को लेनी पड़ेगी और उन्होंने सामुदायिक शिशु देखभाल केंद्रों की कल्पना भी की।

यह प्रश्न उठ सकता है कि फायरस्टोन इस कदर मार्क्सवाद से क्यों उलझ पड़ी? उन्हें तो स्त्री अधीनता और स्त्री मुक्ति पर अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए था। दरअसल, फायरस्टोन को मार्क्सवाद से यह शिकायत थी कि उसे आर्थिक धरातल की असमानता ही सभी असमानताओं की जड़ में क्यों दिखाई देती है? इससे स्त्री अधीनता के केवल उस पहलू पर विचार की राह खुलती है, जिसका सीधा संबंध आर्थिक दायरे से है। ऐसे में, स्त्री अधीनता के जो धागे यौनिकता, प्रजनन, विवाह, पत्नीत्व, मातृत्व, घरेलू काम-काज आदि से जुड़े हुए हैं, वे अदृश्य रह जाते हैं, जबकि स्त्री के जीवन में यही धागे अधिक मायने रखते हैं। फायरस्टोन का प्रयास यह था कि यह हकीकत जगजाहिर हो। यह और बात है कि ऐसा करने के क्रम में उनसे अन्य कई असमानताओं को नज़रअंदाज़ करने की चूक हो गई।

1.3.1.2.3. आमूल परिवर्तनवादी (रेडिकल) स्त्रीवाद की आलोचना

रेडिकल स्त्रीवाद द्वारा पितृसत्ता के उकेरे गए स्वरूप और उसकी व्याख्या की स्त्रीवादियों ने कई कारणों से आलोचना की।

- स्वरूप की आलोचना

स्त्रीवादियों का मत है कि स्त्री और पुरुष के बीच के सत्ता संबंध के विशिष्ट समीकरण की जिस तरह उपेक्षा की जाती रही है, उसके स्वरूप के रेखांकन का जो काम रेडिकल स्त्रीवाद ने किया उसके बिना स्त्रीवाद की यात्रा संभव नहीं थी। रेडिकल स्त्रीवाद ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि स्त्रियों के बीच की भिन्नताएँ इतनी मामूली नहीं हैं कि उन्हें दरकिनार कर सभी स्त्रियों को एक ही धरातल पर स्थित मान लिया जाए। विभिन्न वर्गों में बंटे समाज में सभी स्त्रियों के अनुभव एक समान नहीं होते। उदाहरण के लिए, निम्न जातियों की स्त्रियों को जाति-व्यवस्था और पितृसत्ता दोनों का ही दोहरा दंश झेलना पड़ता है। उन्हें न केवल सभी पुरुषों, बल्कि उच्च जातियों की स्त्रियों की अधीनता भी झेलनी पड़ती है। इतना ही नहीं, उच्च जातियों की स्त्रियाँ खुद को निम्न जातियों के पुरुषों से भी श्रेष्ठ स्थिति में पाती हैं। जातिजन्य श्रेष्ठता इन स्त्रियों को निम्न जातियों की स्त्रियों के साथ मिलकर पितृसत्ता के खिलाफ मोर्चा खड़ा करने से रोक देती है। इसी तरह, उच्च वर्ग की स्त्रियों और निम्न वर्ग अथवा मज़दूर स्त्रियों के हित समान नहीं होते।

सभी पुरुषों की स्थिति भी एक-समान नहीं है। न केवल पुरुषों के बीच सत्ता मौजूद है, बल्कि ऐसी भी स्थितियाँ है जिनमें स्त्री भी सत्ता की स्थिति में होती है और पुरुष सत्ताहीनता की स्थिति में। उदाहरण के लिए, जाति आधारित विभाजन के कारण निम्न जातियों के पुरुष खुद को उच्च जातियों की स्त्रियों से हीन स्थिति में पाते हैं। कहने का आशय यह है कि सामाजिक संरचना इतनी सरल नहीं है कि एक ओर पुरुषों को रख दिया जाए और दूसरी ओर स्त्रियों को।

इसके अलावा, पितृसत्ता को एक अलग स्वायत्त संरचना मानकर चलने पर स्त्री-पुरुष संबंधों में देश और काल के आधार पर जो भिन्नताएँ रही हैं, वे नज़रअंदाज़ हो जाती हैं। मध्यकालीन समाज में पितृसत्ता का स्वरूप वैसा नहीं था जैसा कि आधुनिक समाज में है। आज के समय में ही दुनिया भर की सभी स्त्रियों के पितृसत्ता के अनुभव एक-समान नहीं हैं। आदिवासी और गैर-आदिवासी स्त्रियों, दलित और गैर-दलित, उच्च और निम्न वर्ग, मुसलमान और हिंदू स्त्रियों के जीवनानुभव अथवा उनकी समस्याएँ और संघर्ष एक-सा नहीं हैं।

- व्याख्या की आलोचना

स्त्रीवादियों ने रेडिकल स्त्रीवाद द्वारा पितृसत्ता की प्रस्तुत की गई व्याख्या की भी आलोचना की। रेडिकल स्त्रीवाद के मुताबिक, स्त्री अधीनता का कारण उसकी प्रजनक क्षमता है जो स्त्री अधीनता के पक्षधर रहे हैं, वे भी वर्षों से यही तर्क प्रस्तुत करते रहे हैं। स्त्रीवादियों ने पाया कि रेडिकल स्त्रीवाद जाने-अनजाने उन्हीं की पंक्ति में खड़ा हो जाता है। जबकि उन्होंने इसी तर्क को काटने के लिए सेक्स/जेंडर विभेद की अवधारणा विकसित की थी। वैसे भी, किसी भी सामाजिक सत्ता-संरचना की उत्पत्ति और निरंतरता के पीछे किसी एक ही कारक की भूमिका नहीं होती। आखिर, रेडिकल स्त्रीवाद ने मार्क्सवाद की इसीलिए तो आलोचना की थी कि वह समूचे समाज को आर्थिक तत्वों के पदों में ही विघटित कर देता है। स्त्रीवादियों का मत है कि स्त्री-अधीनता के विभिन्न कारणों के बीच के अंतसंबंधों को समझने की ज़रूरत है न कि किसी एक कारण की केंद्रीयता के बरक्स दूसरा कारण खड़ा करने की। अब आइए हम यह देखें कि रेडिकल स्त्रीवाद की पितृसत्ता की संकल्पना की आलोचना के क्रम में स्त्रीवादियों ने इसे कैसे परिभाषित करने के प्रयास किए हैं।

1.3.1.2.4. पितृसत्ता का अर्थ-विस्तार

रेडिकल स्त्रीवाद द्वारा पितृसत्ता पद के प्रयोग में विद्यमान कमियों के आधार पर बैरेट और शीला रोबोथम जैसी स्त्रीवादी विद्वानों ने तो इसे एक सिरे से अनुपयोगी करार दिया।

सिल्विया वाल्बी बैरेट और शीला रोबोथम के रुख से सहमत नहीं हैं। वे स्त्री अधीनता के विभिन्न आयामों की गहराई, व्यापकता और अंतसंबंध की सटीक समझ विकसित करने के लिहाज से पितृसत्ता जैसी संकल्पना या सिद्धांत को अनिवार्य मानती हैं। उनका मत है कि अनुपयोगी मानने की जगह इसे एक संकल्पना और सिद्धांत के रूप में इस तरह विकसित किया जा सकता है कि स्त्री अधीनता की देश, काल, जाति, नस्ल, वर्ग, धर्म, जातीयता आदि आधारित भिन्नताएँ नज़रअंदाज़ न हो पाएँ।

मार्क्सवादी स्त्रीवाद पितृसत्ता को पूंजीवाद की उपज मानता है। उसके मुताबिक, परिवार स्त्री के शोषण का प्राथमिक स्थल है। यहाँ स्त्रियों द्वारा किए जाने वाले घरेलू-श्रम से सीधे पूंजीपतियों को लाभ होता है न कि पुरुषों को। पितृसत्ता को इस तरह पूंजीवाद से जोड़कर मार्क्सवादी स्त्रीवाद पूंजीवाद-पूर्व समाज-व्यवस्थाओं में विद्यमान स्त्री अधीनता की व्याख्या कर पाने में असमर्थ हो जाता है।

समाजवादी स्त्रीवाद पितृसत्ता को पूंजीवाद की उपज नहीं मानता। उसके मुताबिक, दोनों ही एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इस जुड़ाव की प्रकृति को लेकर मतभेद की स्थिति है। जिल्ला आइजेन्स्टिन इस जुड़ाव को *दो जिस्म एक जान* की तरह देखती हैं। वे मानती हैं कि दोनों एक-दूसरे में गुथ कर एक हो गए हैं। अपना मंतव्य व्यक्त करने के लिए उन्होंने *कैपिटलिस्ट पैट्रियार्की* का प्रयोग किया है। हार्टमैन और मिशेल इन दोनों संरचनाओं को इतना एकमेव नहीं मानतीं कि उनकी अपनी पहचानें खो गई हों। उनका मत है दोनों के तार जुड़े हुए हैं लेकिन, दोनों अलग-अलग रेखांकित और विश्लेषित किए जा सकते हैं।

गर्दा लर्नर ने पितृसत्ता की सबसे सटीक परिभाषा दी है। उनके मुताबिक, पितृसत्ता का अर्थ *परिवार के भीतर स्त्रियों और बच्चों पर पुरुष आधिपत्य का संस्थानीकरण और प्रदर्शन तथा बाहरी समाज में भी स्त्रियों पर प्रसार* है। इससे यह पता चलता है कि समाज के सभी महत्वपूर्ण संस्थानों पर पुरुष काबिज हैं और स्त्रियाँ इस तरह की किसी भी सत्ता से वंचित हैं। इसका मतलब यह नहीं कि स्त्रियाँ एकदम से पूरी तरह सत्ताहीन हैं अथवा अधिकारों, प्रभाव, और संसाधनों से पूरी तरह वंचित हैं। यह आमतौर पर व्याप्त इस धारणा का द्योतक है कि *पुरुष स्त्री से श्रेष्ठ होते हैं*।

1.3.2. पितृसत्ता की उत्पत्ति संबंधी मत

किसी भी सत्ता संरचना के साथ ऐसे तर्क भी जुड़े रहते हैं जो उसे स्वाभाविक ठहराएँ, ताकि जो सत्ताहीन हैं वे सवाल न उठाएँ और जो सत्तासीन हैं उन्हें सत्ता-संबंध बनाए रखने के लिए दमनात्मक तरीकों पर ज़्यादा निर्भर न रहना पड़े। कारण यह है कि दमनशीलता प्रतिरोध को जन्म देती है। पितृसत्ता को भी स्वाभाविक ठहराने के लिए ज़रूरत के हिसाब से समय-समय पर तर्क गढ़े जाते रहे हैं। ये तर्क इसे सार्वभौम और सर्वकालिक यानि कभी न खत्म होने वाली कहानी सिद्ध करते हैं। वहीं, स्त्री मुक्ति के पक्षधर और स्त्रीवादी उन तर्कों को न केवल गलत सिद्ध करते रहे हैं, बल्कि ऐसे तर्क प्रस्तुत करते रहे हैं जो पितृसत्ता के चेहरे से सार्वभौमिकता और सर्वकालिक ता का आवरण हटाकर उसे खत्म होने वाली कहानी सिद्ध करते हैं।

1.3.2.1. पितृसत्ता सार्वभौम और सर्वकालिक है

पितृसत्ता के पक्ष में प्रस्तुत किए गए तर्कों की चारित्रिक खासियत यह है कि वे स्त्री अधीनता और पुरुष आधिपत्य को उनके शरीर के साथ अनिवार्य तौर पर जुड़ा हुआ मानते हैं। समाज विज्ञान में इसे *जैविक निर्धारणवाद* कहा जाता है। यहाँ हम एक-एक करके इन तर्कों और स्त्रीवादियों द्वारा दिए गए उनके जवाबों पर विचार करेंगे।

1.3.2.1.1. धार्मिक तर्क

धार्मिक दृष्टिकोण वाले ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानते हैं। वे जीव-जगत के समस्त कार्य-व्यापारों और घटनाओं का नियंता ईश्वर को ही मानते हैं। उनके मुताबिक, चूंकि ईश्वर ने स्त्री शरीर की इस तरह से रचना की कि वह गर्भ धारण कर संतान को जन्म दे, इसलिए उसके लिए भिन्न सामाजिक भूमिका का निर्धारण उचित है। उनका मत है किस्त्री माँ बनने के लिए ही रची गई है और यही उसके जीवन का ध्येय होना चाहिए, इसी से उसके जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। स्त्री इस ध्येय से न डिगे इसके लिए हर समाज अपने-अपने तरीके से मातृत्व का महिमामंडन करता है। मातृत्व में भी पुत्र को जन्म देने वाली स्त्री ज़्यादा सम्मान पाती है। हम अपने समाज में भी शास्त्रों से लेकर व्यवहार तक में नववधू को *पुत्रवती भव* का आशीर्वाद दिए जाने का व्यापक चलन पाते हैं। स्त्री के मानस में बचपन से ही यह धारणा इस कदर जड़ जमा लेती है कि उसे भी विवाह और तत्पश्चात पुत्रवती बनने में ही अपना जन्म और जीवन सार्थक दिखाई देता है। बाँझ और पुत्रहीन स्त्रियाँ हिकारत भरी निगाहों से देखी जाती है। उसे हर रोज, हर पल यह एहसास करा कर हीन ग्रंथि से भर दिया जाता है कि उसका जीवन निरर्थक चला गया।

यहाँ ध्यान देने की ज़रूरत है कि पितृसत्ता के पक्षधर धार्मिक तर्क के सहारे लंबी अवधि तक अपनी नैया खेते रहे, लेकिन ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ वज़ूद में आई वैज्ञानिक दृष्टिकोण के समक्ष जब धार्मिक दृष्टिकोण का प्रभाव मंद पड़ गया तब उन्हें भी अपनेबचाव के लिए वैज्ञानिक तर्क गढ़ने पड़े। इसका मतलब यह नहीं कि धार्मिक तर्क पूर्णत: निष्प्रभावी हो गए। हम अपने आस-पास आज भी ऐसे बहुत से लोग पा सकते हैं, जो स्त्री-पुरुष असमानता को ईश्वरीय नियम मानते हैं ।

1.3.2.1.2. शिकारी पुरुष का तर्क

वैज्ञानिक तर्कों की बात करें तो मानवविज्ञानी शेरवुड वाशबर्न और सी. लैंकेस्टर द्वारा प्रस्तुत 'शिकारी पुरुष' की धारणा सबसे प्रभावी सिद्ध हुई। उनकी यह धारणा मानव के उद्विकास संबंधी सिद्धांत से जुड़ी हुई है। इस सिद्धांत के प्रणेता चार्ल्स डार्विन थे। सर्वप्रथम डार्विन ने ही यह प्रतिपादित किया कि पृथ्वी पर जीवन का विकास विशुद्ध जैव-रासायनिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप हुआ है न कि ईश्वर अथवा उस जैसी किसी अन्य अलौकिक सत्ता के प्रताप से। सबसे पहले एककोशकीय जीव वज़ूद में आए और फिर उसके बाद बहुकोशकीय जीव। ऐसा विकास की लंबी और जटिल प्रक्रिया के तहत हुआ। आज का मानव विकास की इस लंबी श्रृंखला की ही कड़ी है। उसके ठीक पहले वानर आते हैं। कहने का आशय यह कि मानव प्रजाति का विकास वानरों से हुआ। डार्विन के ये विचार उनकी कृतियों 'ओरिजिन ऑफ स्पिशीज' और 'दी डिस्सेंट ऑफ मैन' में दर्ज हैं। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ये कृतियाँ प्रकाशित हुई तो लोगों के बीच सनसनी फैल गई। स्थापित धार्मिक मान्यताओं के खिलाफ जाने के कारण डार्विन को लोगों का कोप-भाजन भी बनना पड़ा,

लेकिन धर्मावलंबी, विज्ञान के उफान को रोक पाने में असफल रहे और डार्विन मानव-उत्पत्ति के अध्ययन का प्रस्थान बिंदु और संदर्भ बिंदु दोनों हो गए।

डार्विन के बाद मानव के विकास की कहानी में बहुत कुछ जुड़ा। हमारे लिए इस कहानी का पहला अध्याय यहाँ मायने रखता है, जिसे शिकार-संग्रह युग या पुरापाषाण युग के नाम से जाना जाता है। कारण, इस युग में मनुष्य आजीविका के लिए सीधे प्रकृति पर निर्भर था।

वाशबर्न और लैंकेस्टर का मत है कि केवल पुरुष ही शिकार पर जाया करते थे। स्त्रियाँ उनके साथ शरीक नहीं होती थीं। विकास के क्रम में स्त्रियों के शरीर में महत्वपूर्ण अंदरूनी परिवर्तन हुए। अब वे वर्ष भर गर्भ धारण कर सकती थीं। इसके अलावा, मानव शिशु के अल्पविकसित अवस्था में ही जन्म लेने और अपेक्षाकृत लंबी अवधि तक देखभाल पर निर्भर रहने की उसकी ज़रूरत ने स्त्रियों को बांध-सा दिया था। बड़े शिकार के लिए ज़रूरी बलिष्ठ शरीर और तेज दौड़ सकने की क्षमता उसमें नहीं थी। वह और बच्चे, पुरुष के शिकार पर आश्रित थे। आवास के इर्द-गिर्द जितना संभव हो सकता था, वे कंद मूल-फल एकत्र किया करती थीं। शिकार अकेले पुरुष के वश की बात नहीं थी। इसके लिए उन्हें संगठित होकर नित नई परिस्थितियों के मुताबिक नई-नई युक्तियाँ बनानी पड़ती थीं। इसके साथ ही, शिकार के दौरान उनके बीच परस्पर संवाद की ज़रूरत से भाषा विकसित हुई। आवास पर इंतजार कर रही स्त्रियों और बच्चों के लिए मांस लाने की क्रिया ने भावनात्मक और सामाजिक बंधन के विकसित होने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसलिए, वाशबर्न और लैंकेस्टर इंसानों के जैविक, मनोवैज्ञानिक और आचार-व्यवहार के स्तर पर वानरों से दूर निकल आने का श्रेय उन शिकारी पुरुषों को ही देते हैं। दूसरे शब्दों में, पुरुष के शिकार करने की क्षमता की मानव के उद्विकास में निर्णायक भूमिका रही है। ये विद्वान मानते हैं शिकार पुरुष की फितरत है। इसके पक्ष में वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि आधुनिक मनुष्य भी शिकार पर जाता है, जबकि आजीविका के लिए उसकी ज़रूरत नहीं रह गई है।

शिकारी पुरुष का तर्क पुरुष के आश्रयदाता और मज़बूत होने तथा स्त्री के आश्रित और कमज़ोर होने के पक्ष में पुरापाषाण अवस्था से लेकर आज तक निरंतरता स्थापित करता है। इसके मुताबिक, स्त्रियाँ अपनी प्रजनक क्षमता के कारण ही पिछड़ गईं। नतीजतन, यह तर्क वैज्ञानिक होने का दावा करने के बावज़ूद जैविक निर्धारणवाद के दायरे में ही सीमित होकर रह जाता है। इससे स्त्री और पुरुष की सापेक्षिक स्थितियाँ स्वाभाविक और इसलिए अपरिवर्तनीय और असमाप्य होकर रह जाती हैं।

स्त्रीवादी आलोचना

मानवविज्ञानी सैली स्लोकम ने शिकारी पुरुष के तर्क को पुरुष पूर्वाग्रह से ग्रस्त सोच का परिणाम माना है। उनका मत है कि यदि हम यह मान लें कि मानव शिशु को अपेक्षाकृत लंबी अवधि तक देखभाल की ज़रूरत पड़ने लगी और स्त्रियाँ आवास पर ही ज़्यादा समय व्यतीत करने लगीं तो यह निष्कर्ष निकालना अधिक तर्कसंगत होगा कि उन्होंने इस समय का अपने और बच्चों के लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा कंद मूल फल

एकत्र करने और अन्य उन रचनात्मक गतिविधियों में सदुपयोग करना शुरू कर दिया होगा जो मानव-सभ्यता के विकास के लिए ज़रूरी सिद्ध हुए।

यदि हम यह स्वीकार कर लें कि पुरुष की मूल प्रवृत्ति 'शिकारी' है और इसी ने मानव-विकास में निर्धारक भूमिका निभाई है तो हमें यह मानना पड़ेगा कि समूची मानव सभ्यता आक्रामकता और हिंसा की बुनियाद पर टिकी है। गर्दा लर्नर कहती हैं कि थोड़ी देर के लिए यदि हम यह मान भी लें कि पाषाणकालीन अवस्था में मानव प्रजाति को विकास की राह पर बचाए रखने के लिए पुरुषों को आक्रामक होने और स्त्रियों को प्रजनन के मोर्चे पर लगातार जुटे रहने की ज़रूरत रही होगी। लेकिन, आज हम पल भर में समूचे मानव प्रजाति को नष्ट कर देने की क्षमता रखने वाले अस्त्रों के युग रह रहे हैं। इसके साथ ही, जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि और सिकुड़ रहे सीमित प्राकृतिक संसाधन ने भी मानव के भविष्य पर प्रश्न चिन्ह लगा रखा है। इन दो स्थितियों को ही ध्यान में रखें तो मानव प्रजाति को बचाए रखने के लिए ज़रूरी तर्क के हिसाब से पुरुष को अनाक्रामक और स्त्री को प्रजनन के मोर्चे पर सक्रिय हो जाना चाहिए।

वैसे भी सामान्य बोध के स्तर पर भी पुरुष के स्वभावत: आक्रामक होने की दलील हजम नहीं होती। हम दिन-प्रतिदिन के जीवन में अपने आस-पास ऐसे ढ़ेरों पुरुष पा सकते हैं जो अत्यंत शांत और अहिंसक होते हैं। आखिर, महात्मा बुद्ध और महात्मा गांधी या ईसा मसीह पुरुष ही तो थे।

इतिहासकार गर्दा लर्नर के अनुसार, शिकार-संग्रह अवस्था के समाजों के मानव-वैज्ञानिक साक्ष्यों ने भी यह जाहिर किया है कि ये समाज भोजन के लिए मुख्य तौर पर स्त्रियों और बच्चों के खाद्यसंग्रह और छोटे-छोटे शिकारों पर निर्भर करते हैं न कि पुरुषों के बड़े शिकारों पर। इसके साथ ही, स्त्रीवादी मानव-विज्ञानियों ने यह तथ्य भी उद्घाटित किया है कि शिकार-संग्रह अवस्था में स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के पूरक माने जाते हैं; उनके बीच भले ही श्रम का विभाजन रहता है, लेकिन एक के श्रम को दूसरे से हीन नहीं माना जाता। ऐसे समाजों में स्त्री और पुरुष के बीच समानता की स्थिति पाई गई।

स्त्रीवादी विद्वानों की इस व्याख्या की पुष्टि मध्य भारत के भीमबेटका की गुफाओं में ईसा पूर्व 5000 (मध्यपाषाणकालीन) की मिली चित्रकारी भी करती हैं। चित्रों में स्त्रियों को फल और खाद्य पदार्थ बटोरने के साथ-साथ टोकरी और जाल द्वारा मछली पकड़ने जैसे छोटे-मोटे आखेट करते हुए भी चित्रित किया गया है। एक स्त्री के कंधे से टोकरी लटक रही है, जिसमें दो बच्चे हैं और उसके सिर पर एक पशु लदा हुआ है। भारत में पितृसत्ता के निर्माण और उसके स्वरूप पर कार्य करने वाली इतिहासकार उमा चक्रवर्ती कहती हैं कि इससे यह जाहिर होता है कि कैसे स्त्रियाँ एक साथ माँ और संग्रहकर्ता दोनों ही भूमिकाएँ निभाती थीं। एक अन्य स्त्री हिरण का सींग पकड़कर खींच रही है, तो एक मछली पकड़ रही है। टोकरी लिए हुई स्त्रियों को प्राय: गर्भवती ही चित्रित किया गया है। सामूहिक शिकार-दृश्यों में भी स्त्रियाँ शरीक होती चित्रित की गई हैं। उमा के मुताबिक, अनुमानत: कहा जा सकता है कि शिकार की सफलता के लिए उनकी सांकेतिक और वास्तविक दोनों स्तरों पर भागीदारी थी। चित्रकारी में गर्भवती स्त्रियों, माँ की भूमिकाएँ निभाती स्त्रियों और प्रसव के

कतिपय चित्रण के आधार पर वे इस नतीजे पर पहुँची हैं कि स्त्रियों की प्रजनक भूमिका को काफी महत्वपूर्ण माना जाता था।

1.3.2.1.3. समाज-जीवविज्ञानी ई. ओ. विल्सन

समाज जीव विज्ञानी ई. ओ. विल्सन ने स्त्री-पुरुष असमानता को उचित ठहराने के लिए डार्विन के प्राकृतिक चुनाव की धारणा का सहारा लिया है। उनके मुताबिक, जो मानव व्यवहार समूची मानव प्रजाति की रक्षा के अनुकूल होते हैं वे जीनों (जैविक) में अंकित हो जाते हैं। उनका यह भी मत है कि जिस समूह में मादाएँ बच्चों को पालने-पोसने का काम करती हैं और नर भोजन जुटाने का काम करता है वह विकास की राह पर आगे निकाल आता है। श्रम का यह विभाजन और तदजन्य आचार व्यवहार जीनीय संरचना का हिस्सा हो जाता है। मानव प्रजाति इसी तरह के समूह का एक उदाहरण है इस तर्क के हिसाब से मातृत्व सामाजिक या सांस्कृतिक प्रकार्य न होकर स्त्री के शरीर और मन का अनिवार्य हिस्सा होता है। इस तरह, विल्सन भी जैविक निर्धारणवाद के दायरे में सीमित होकर रह जाते हैं।

- **स्त्रीवादी आलोचना**

गर्दा लर्नर ने विल्सन जैसे समाज-जीवविज्ञानियों की इस आधार पर आलोचना की है कि वे मानव सभ्यता के विकास के क्रम में स्त्री और पुरुष के जीवन-यापन के तरीकों से लेकर अन्य परिक्षेत्रों में आए बदलावों को नज़रअंदाज़ करते हैं। वे यह नहीं देखते कि तकनीकी के स्तर पर हुए विकास की वजह से आज बच्चे आहार और देखभाल के लिए केवल माँ पर निर्भर नहीं रह गए हैं। आज का बच्चा बोतल-डिब्बा बंद आहार और आया अथवा केयर सेंटर के भरोसे बड़ा किया जा सकता है। इसके साथ ही, चिकित्सा विज्ञान के विकास ने बाल-मृत्यु दर भी कम कर दिया है। इससे पहले यह उम्मीद नहीं की जा सकती थी कि जो शिशु जन्मा है वह जिंदा भी रहेगा। इसलिए स्त्रियाँ लगातार कई बच्चों को जन्म देने के लिए मज़बूर थीं। अब वे एक या दो बच्चे जन्म देकर फुरसत पा जाती हैं। इस फुरसत ने उन्हें उन कार्यों में शिरकत होने का अवसर दिया है, जिसे पारंपरिक तौर पर उनके लिए वर्जनीय माना जाता था।

विल्सन जैसे परंपरावादी इस हकीकत को नज़रअंदाज़ कर जाते हैं और स्त्रियों को प्रजनन और बच्चों को पाल-पोस कर बड़ा करने जैसे पारंपरिक दायित्वों को पूरा करने में ही बंधे रहना देखना चाहते हैं। यदि तकनीकी ने पुरुषों के शारीरिक श्रम को हल्का कर उन्हें मुक्त किया है तो स्त्रियों से यह उम्मीद कैसे की जा सकती है वे इसी तकनीकी का सहारा न लेकर अपनी पाषाणकालीन पुरखिनों की ही अवस्था में बनी रहें। जहाँ तक समूची मानव प्रजाति के विकास की राह पर बने और बचे रहने के लिए स्त्री और पुरुष के बीच श्रम विभाजन की ज़रूरत की बात है तो हो सकता है कि यह उस समय ज़रूरी रहा हो जब आधुनिक मानव का प्रकृति के बरक्स प्रादुर्भाव हो रहा था। लेकिन, आज मनुष्य जिस अवस्था में है उसमें श्रम-विभाजन का कोई औचित्य नहीं रह गया है।

1.3.2.2. पितृसत्ता सार्वभौम और सर्वकालिक नहीं है

अब तक हमने देखा स्त्रीवादी चिंतकों ने एक-एक कर उन सभी तर्कों को गलत किया जो पितृसत्ता को सार्वभौम, सर्वकालिक और स्वाभाविक मानते आ रहे थे। लेकिन, कुछ तर्क ऐसे भी रहे हैं जो पितृसत्ता को सार्वभौम, सर्वकालिक और स्वाभाविक नहीं मानते। ये मानते हैं कि पितृसत्ता इतिहास के एक पड़ाव पर कुछ निश्चित कारणों से उत्पन्न हुई और इसलिए, उन कारणों को दूर कर उसे खत्म भी किया सकता है। यहाँ हम ऐसे ही कुछ तर्कों पर विचार करेंगे।

रेडिकल स्त्रीवादियों पर हम पहले बात कर चुके हैं। उन्होंने पितृसत्ता के इतिहास के किसी मोड़ पर ही उत्पन्न होने की बात तो की, लेकिन इस क्रम में वे जैविक-निर्धारणवाद को गले लगा बैठीं, जो कि पितृसत्ता के पक्षधरों के तरकश का सबसे शक्तिशाली तीर रहा है। इसलिए, स्त्रीवाद स्त्री-मुक्ति के अभियान में उनकी व्याख्या के साथ आगे नहीं बढ़ सकता था। रेडिकल स्त्रीवादियों से बहुत पहले मार्क्सवाद स्त्री के अधीन स्थिति में आने को ऐतिहासिक परिघटना बता चुका था और वह भी जैविक-निर्धारणवाद के भंवर में फंसे बिना।

यहाँ हम फ्रेडरिक एंगेल्स की कृति **'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति'** पर विचार करेंगे, क्योंकि मार्क्स-एंगेल्स के समूचे लेखन कार्य में यही एक ऐसी कृति है, जिसमें स्त्री विषयक मसलों का व्यवस्थित विवेचन किया गया है

1.3.2.2.1. फ्रेडरिक एंगेल्स: 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति'

फ्रेडरिक एंगेल्स की यह कृति 1884 में प्रकाशित हुई थी। इसे लिखने के लिए उन्होंने मानवविज्ञानी लुईस हेनरी मॉर्गन की 1877 में प्रकाशित रचना **'प्राचीन समाज'** का सहारा लिया था। मॉर्गन ने मानव सभ्यता के विकास को मंजिलों के क्रम के रूप में देखने का प्रयास किया था। उन्होंने वन्य-जीवन, बर्बरता और सभ्यता–इन तीन मंजिलों की बात की और मानव के एक मंजिल से दूसरे मंजिल की ओर की विकास-यात्रा के पीछे मुख्य तौर पर आजीविका के साधनों और उनमें हुई उत्तरोत्तर उन्नति का हाथ बताया। मॉर्गन ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संरचनाओं के स्वरूप के निर्धारण में आजीविका के साधनों की निर्धारक भूमिका रही है। जैसे-जैसे आजीविका और उन्हें जुटाने के साधन सरल से जटिलतर होते गए वैसे-वैसे परिवार और इसलिए स्त्री-पुरुष संबंधों के स्वरूप में परिवर्तन होता गया।

मार्क्स और एंगेल्स ने भी इतिहास की जो भौतिकवादी धारणा विकसित की थी, उसमें उन्होंने उत्पादन के साधनों की भूमिका को ही निर्धारक माना था। एंगेल्स के शब्दों में '*भौतिकवादी धारणा के अनुसार, इतिहास में अंतत: निर्णायक तत्व तात्कालिक जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन है, लेकिन यह खुद दो प्रकार का होता है। एक ओर तो भोजन, वेशभूषा तथा आवास जैसे जीवन-निर्वाह के साधनों और*

उन्हें प्राप्त करने के लिए ज़रूरी औज़ारों का उत्पादन होता है। दूसरी ओर स्वयं मनुष्यों का उत्पादन, यानि पीढ़ी-दर-पीढ़ी वंश-वृद्धि होती रहती है।

मॉर्गन मानवविज्ञानी पद्धति और विपुल आंकड़ों के साथ मार्क्स-एंगेल्स की स्थापना की पुष्टि कर रहे थे। यही कारण है कि मार्क्स-एंगेल्स ने मॉर्गन के कार्य को हाथों-हाथ लिया। उन्होंने मॉर्गन के कार्य को सैद्धांतिक परिपक्वता प्रदान की। मॉर्गन ने जिन तीन मंजिलों की बात की उन्हें स्वीकार करते हुए एंगेल्स ने स्त्री की अधीनता को दूसरी मंजिल यानि बर्बरता की अवस्था की परिघटना बताया।

यहाँ वन्य-जीवन और बर्बरता की अवस्था के बारे में मॉर्गन और एंगेल्स के विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है, ताकि एंगेल्स जिस रास्ते स्त्री-अधीनता संबंधी अपने निष्कर्ष पर पहुंचे वह स्पष्ट हो सके।

वन्य-जीवन

इस अवस्था में मनुष्य मुख्य तौर पर कंद, मूल, फल और शिकार पर निर्भर था। इसलिए इसे शिकार-संग्रह अवस्था कहा गया। इस अवस्था के बारे में आपने ऊपर पढ़ा भी है। खुदाई में पुरातत्वविदों को मिले पत्थर के अनगढ़ और खुरदरे औजार इसी अवस्था के माने जाते हैं। इसलिए इसे पुरापाषाण अवस्था भी कहा गया है। मॉर्गन ने इस अवस्था को निम्न, मध्यम और उन्नत - इन तीन चरणों में बांटा है।

1. **निम्न चरण** : यह मानव जाति का शैशव काल रहा है। इस चरण में मनुष्य आंशिक रूप से पेड़ों पर भी रहता था। इसी कारण वह जंगली जानवरों से खुद को बचा पाया। कंदमूल और फल उसके भोजन थे। शिकार-संग्रह अवस्था वाले ज्ञात समाजों में से कोई भी इस चरण में नहीं पाया गया, लेकिन एंगेल्स का तर्क है कि यदि हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि मानव का उद्भव पशु-लोक से हुआ है तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वह इस तरह के संक्रमणकालीन चरण से गुजरा ही होगा।
2. **मध्यम चरण :** भोजन के रूप में मछली का उपयोग करने और आग का इस्तेमाल करना सीखने के साथ मानव वन्य-जीवन के मध्यम चरण में पहुँचा। इस नए आहार ने उसे जलवायु और स्थान के बंधनों से मुक्त कर दिया। नदियों और समुद्रों के तटों के साथ चलता हुआ वह धरती के अधिकांश हिस्से में फैल गया। आग उत्पन्न करने की कला में निपुण हो जाने के कारण वह अब ऐसे कंद और मूल भी खाने लगा जो पका कर ही खाए जा सकते थे। गदा और भाले के उपयोग से यदा-कदा शिकार किए पशुओं का मांस भी उसके आहार का हिस्सा हो गया।
3. **उन्नत चरण :** यह चरण धनुष-बाण के आविष्कार से शुरू हुआ। इसके कारण जंगली पशुओं का शिकार अपेक्षाकृत आसानी से संभव हो पाया । नतीजतन, मांस अब मानव के भोजन का नियमित अंग

हो गया। इस चरण में मनुष्य ने गांवों में बसना शुरू कर दिया था और जीवन निर्वाह के साधनों के उत्पादन पर काबू पा लिया था। वह लकड़ी के बर्तन भी बनाने लगा था।

बर्बरता की अवस्था

पशुपालन और कृषि इस अवस्था के लक्षण हैं। इसे भी मॉर्गन ने निम्न, मध्यम और उन्नत – इन तीन चरणों में बांटा है।

1. **निम्न चरण :** मिट्टी के बर्तन बनाकर मानव ने इस चरण में प्रवेश किया। एंगेल्स ने लिखा है कि यहीं तक मानव विकास का क्रम सब जगह एक-सा रहा है। लेकिन, बर्बर अवस्था में पहुँचने पर पूर्वी और पश्चिमी गोलार्धों की प्राकृतिक परिस्थितियों का अंतर अपना प्रभाव दिखाने लगता है।
2. **मध्यम चरण :** पूर्वी गोलार्ध में यह चरण पशुपालन से और पश्चिमी गोलार्ध में कुछ खाद्यान्नों की खेती से शुरू हुआ। यह खेती बागवानी के स्तर से ज़्यादा ऊपर नहीं उठ पाई थी।
3. **उन्नत चरण :** लौह खनिज को गलाकर लोहा प्राप्त करने की **क**ला में दक्ष होने के साथ मानव ने इस चरण में प्रवेश किया। लोहे के हल के इस्तेमाल ने ज़मीन की जुताई को संभव किया तो बड़े पैमाने पर खेती करना संभव हुआ।

यह तो हुई आजीविका के साधनों के स्तर पर हुए विकास-क्रम की संक्षिप्त रूप-रेखा। आइए अब हम यह देखें कि परिवार और संपत्ति के विकास-क्रम के बारे में मॉर्गन के क्या विचार थे। कारण, एंगेल्स ने स्त्री-अधीनता को इसी के साथ जोड़कर देखा है।

परिवार का विकास-क्रम

मॉर्गन ने परिवार के विकास-क्रम की जो रूपरेखा प्रस्तुत की वह निम्नानुसार है:

1. **रक्त-संबंद्ध परिवार :** मॉर्गन ने इसे परिवार की पहली अवस्था माना है। यूथ(समूह)-विवाह के इस रूप में एक पीढ़ी के सभी पुरुष और सभी स्त्री एक-दूसरे के पति-पत्नी होते थे, लेकिन पीढ़ियों के बीच यौन-संबंध पर निषेध रहता था। इसका अर्थ यह हुआ कि माता-पिता और उनकी संतानों के बीच विवाह नहीं होता था। लेकिन सगे-भाई-बहन, निकट के और दूर के चचेरे, ममेरे, फुफेरे भाई-बहन सब एक-दूसरे के भाई-बहन होने के कारण एक-दूसरे के पति-पत्नी होते थे। चूँकि परिवार की इस अवस्था में सभी पुरुष और सभी स्त्री परस्पर पति-पत्नी होते थे यानि स्त्री और पुरुष जोड़े के रूप में नहीं बंधे होते थे, इसलिए यह निश्चित नहीं हो पाता था कि बच्चे का पिता कौन है, लेकिन माता कौन है यह निश्चित था। हालाँकि हरेक माँ अपने बच्चों समेत परिवार के अन्य बच्चों को भी अपनी संतान कहती थी और उनके प्रति माता का कर्तव्य निभाती थी। विवाह का यह रूप वन्य-जीवन की अवस्था के उन चरणों के अनुकूल है जब मनुष्य घुमंतू और सामुदायिक जीवन व्यतीत कर रहा था।

2. **पुनालुआन परिवार :** यह भी यूथ-विवाह का ही रूप था। लेकिन परिवार की यह अवस्था भाई-बहनों के बीच यौन-संबंध पर निषेध से शुरू हुई। पहले सगे भाई-बहनों और बाद में धीरे-धीरे दूर के भाई-बहनों के बीच यौन-संबंध पर रोक लगायी गई होगी। चूँकि भाई-बहन की आयु में ज़्यादा फासला नहीं होता इसलिए उनके बीच यौन-संबंध पर रोक लगाना अधिक कठिन रहा होगा। इस तरह के परिवार में होता यह था कि बहनों का एक अथवा अनेक समूह एक गृहस्थी का मूल केंद्र बन जाते थे, जबकि उनके सगे भाई दूसरी गृहस्थी का। कई बहनों के कुछ समान पति होते थे। उनके भाइयों को इस संबंध से दूर रखा जाता था, यानि वे उनके पति नहीं हो सकते थे। पति अब एक-दूसरे को भाई न कहकर 'पुनालुआ' कहते थे। 'पुनालुआ' का अर्थ होता है अंतरंग सखा, सहभागी। इसी प्रकार भाइयों का एक दल कुछ स्त्रियों के साथ विवाह-संबंध में बंधा होता था। ये स्त्रियाँ उनकी बहनें नहीं होती थीं। ये स्त्रियाँ भी एक-दूसरे को 'पुनालुआ' कहती थीं। रक्त-संबंद्ध अवस्था के समान परिवार की इस अवस्था में भी बच्चे की माँ की पहचान ही सुनिश्चित होती थी, पिता की पहचान सुनिश्चित करना कठिन था। यही कारण था कि इन दोनों ही परिवारों में वंश माँ के नाम पर चलता था। परिवार के इस रूप के लिए आदिम साम्यवादी अवस्था वाले समुदायों की अपेक्षाकृत स्थायी बस्तियाँ पूर्वमान्य हैं।

मॉर्गन और एंगेल्स से पहले बखोफेन नामक विद्वान ने परिवार के इन आरंभिक रूपों पर कार्य किया था। उनकी पुस्तक **मदर राईट्स** का प्रकाशन 1861 में हो चुका था। इसमें उन्होंने माँ के नाम पर वंश चलने के उपर्युक्त कारण प्रस्तुत किए थे और इस आधार पर इस नतीजे पर भी पहुँचे थे कि माँ का और आमतौर पर स्त्रियों का समाज में इतना ऊँचा स्थान था, जितना कि उनको बाद में कभी नहीं मिला। इसे व्यक्त करने के लिए उन्होंने मातृ-अधिकार (Maternal Right) धारणा का प्रयोग किया था। यहीं से मातृसत्ता की धारणा के विकसित होने की राह खुली, जिसके बारे में आप आगे पढ़ेंगे।

गोत्र : मॉर्गन का मत है कि अधिकतर स्थानों में गोत्र का उद्भव पुनालुआन परिवार से ही हुआ होगा। गोत्र के तहत वे लोग आते हैं जो आपस में यौन संबंध स्थापित नहीं कर सकते। पुनालुआन परिवार की नींव सगे भाई-बहनों के विवाह पर प्रतिबंध लगाने से पड़ी। बाद में धीरे-धीरे नज़दीक और दूर के सभी भाई-बहन इस प्रतिबंध के दायरे में आते गए। मॉर्गन ने लिखा है कि जब एक बार ज़्यादा-से-ज़्यादा दूर के रिश्ते के मौसेरे भाई-बहनों समेत तमाम भाई-बहनों के यौन-संबंध पर प्रतिबंध लग जाता है तो उपर्युक्त समूह गोत्र में बदल जाता है यानि तब उन मातृवंशी रक्त-संबंधियों का बहुत सख्ती के साथ एक सीमित दायरा बन जाता है, जिन्हें आपस में विवाह करने की इजाजत नहीं होती। मातृ-परंपरा यानि माता के नाम पर वंश चलने के कारण गोत्र की पुत्रियों की संतान ही उसकी सदस्य रह पाती थी।

यहाँ ध्यान देने की ज़रूरत है कि जब किसी कबीले में गोत्र का निर्माण हो रहा होता है तो एक साथ कम-से-कम दो गोत्र ज़रूर वज़ूद में आते हैं। कारण, यदि कुछ लोग इस आधार पर एक समूह में संगठित होंगे

जिनके बीच आपस में विवाह नहीं हो सकता तो इसी क्रम में ऐसे लोग भी चिन्हित होते जाएंगे जिनके साथ उक्त समूह के लोग विवाह संबंध कायम कर सकें। इसलिए मॉर्गन ने लिखा है कि हर कबीला कम-से-कम दो गोत्रों में तो ज़रूर बँटा होता है। कबीले की आबादी बढ़ जाने पर इन आदिम गोत्रों से पुन: पुत्री-गोत्रों की शाखा-प्रशाखा फूटती जाती है। गोत्र बहिर्विवाही समूह था। यानि गोत्र के सदस्य आपस में विवाह नहीं कर सकते था। इस रीति का आज भी पालन होता है। कबीला अंतर्विवाही समूह था। यानि कबीले के सदस्य उसके भीतर ही अपने से भिन्न गोत्र में विवाह करते थे। युग्म-परिवार गोत्र-व्यवस्था का अभिन्न अंग था।

गोत्र-व्यवस्था : गोत्र-व्यवस्था के आधार पर संगठित समाज के बारे में एंगेल्स ने लिखा है कि उसमें न तो कोई शासक था और न ही कोई शासित। श्रम विभाजन यदि था भी तो स्वाभाविक स्वरूप का ही यानि केवल स्त्री और पुरुष के बीच ही। *पुरुष युद्ध में भाग लेते थे, शिकार करते थे, मछली मारते थे, आहार की सामग्री जुटाते थे और इन तमाम कार्यों के लिए आवश्यक औजार तैयार करते थे। स्त्रियाँ घर की देखभाल करती थीं। वे खाना पकाती थीं, कपड़े बुनती और सिलाई करती थीं। दोनों अपने-अपने कार्य-क्षेत्र के स्वामी थे। पुरुषों का जंगल में आधिपत्य था और स्त्रियों का घर में। प्रत्येक उन औज़ारों का स्वामी था जिन्हें उसने बनाया था और जिनका वह इस्तेमाल करता था।* गृहस्थी आदिम साम्यवादी अवस्था का स्वरूप लिए हुई थी। एक गृहस्थी में कई परिवार साथ-साथ रहते थे।

1. **युग्म-परिवार :** युग्म यानि जोड़ी में एक पुरुष और एक स्त्री के साथ-साथ रहने का बीज यूथ-विवाह या उससे पहले ही पड़ गया होगा। आखिर, अनेक पतियों और अनेक पत्नियों वाले समूह में भी अस्थायी तौर पर ही सही, लेकिन जोड़ियाँ बनती ही होंगी। यह और बात है कि जैसे-जैसे गोत्र का विकास हुआ और उन 'भाइयों' और 'बहनों' के वर्गों की संख्या बढ़ती, जिनमें विवाह नहीं हो सकता था, वैसे-वैसे जोड़े में रहने की लोगों की प्रवृत्ति तेज होती गई। एंगेल्स का मत है यह वन्य-जीवन के उन्नत चरण और बर्बरता के निम्न चरण यानि वन्य-जीवन और बर्बरता के सीमांत पर वज़ूद में आता है।

युग्म-परिवार में पति या पत्नी कभी भी अपनी इच्छा से विवाह भंग कर सकते थे। इसके इस कदर कमज़ोर और अस्थायी होने के कारण पहले से चली आ रही आदिम साम्यवादी अवस्था वाली गृहस्थी को कोई आंच नहीं आई। स्त्री के नाम पर वंश का चलना और उसका महत्व बरकरार रहा। एक नई बात यह हुई कि अब बच्चे के पिता की पहचान भी सुनिश्चित हो गई। युग्म-परिवार में यूथ सीमित होते-होते अंतिम इकाई में बदल गया। मॉर्गन ने माना है कि रक्त-संबंधियों के बीच विवाह पर प्रतिबंध लगाने में नैसर्गिक वरण की भी भूमिका होती है। नैसर्गिक वरण के सिद्धांत के मुताबिक, मनुष्य उन्हीं आचार-विचार को अपनाता है, जो समूची मानव प्रजाति के बचे रहने और सभ्यता की ओर की विकास-यात्रा पर उसके बने रहने के अनुकूल हो। यदि वह ऐसा न करे तो उसका पीछे छूटते चले जाना और अंतत: नष्ट हो जाना तय है। मॉर्गन ने लिखा है कि जिन कबीलों में रक्त-संबंध आधारित विवाह नहीं होते थे यानि जो बहिर्विवाही थे उनमें होने वाले विवाहों से

पैदा हुई संतानें शरीर और मस्तिष्क से अपेक्षाकृत अधिक बलवान होती थी। जब दो विकासशील कबीले मिलकर एक जनसमूह बन जाते....तो एक नया और विकसित मस्तिष्क तैयार हो जाता था, इसलिए गोत्रों के आधार पर संगठित कबीले अधिक पिछड़े हुए कबीलों पर हावी हो जाते थे या अपनी तर्ज पर उनको भी साथ-साथ खींच ले चलते थे।

यूथ के धीरे-धीरे युग्म-परिवार में रूपांतरण के पीछे नैसर्गिक वरण का हाथ होता है यानि यह स्वाभाविक है। इस हिसाब से युग्म-परिवार की अवस्था तक मानव को पहुँचना ही था। इसलिए एंगेल्स ने लिखा है कि यदि नई *सामाजिक* प्रेरक शक्तियाँ आकार नहीं लेतीं तो परिवार का कोई नया रूप उत्पन्न नहीं होता। एंगेल्स के मुताबिक, अमरीका की खोज और उस पर कब्जा होने से पहले तक वहाँ सर्वत्र परिवार का यही रूप विद्यमान था। वहाँ इसके रूपांतरण के लिए आवश्यक सामाजिक शक्तियाँ नहीं पनप पाईं। लेकिन, एशिया में पशुपालन के रूप में इस प्रकार की प्रेरक शक्ति ने ज़रूर आकार लिया।

निजी संपत्ति का प्रादुर्भाव : एशिया में मनुष्य को ऐसे पशु मिल गए, जिन्हें पालतू बनाया जा सकता था। यह बर्बर अवस्था का मध्य चरण था। पालतू पशु के रूप उसे ऐसी संपदा मिल गई थी, जिसके ऊपर शिकार अथवा खाद्य-संग्रह की तुलना में कम मेहनत करनी पड़ती थी और जिससे मांस और दूध के रूप में अत्यधिक स्वास्थ्यकर भोजन मिलने लगा था। यह संपदा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती जाती थी। आर्य और सामी जनों जैसे उन्नत कबीलों ने पशुपालन को मुख्य पेशा बना लिया और बर्बर लोगों के विशाल जनसमुदाय से अलग हो गए।

इसे एंगेल्स ने *पहला बड़ा श्रम-विभाजन* कहा है। पशुपालक कबीले दूध, दूध से बनी वस्तुएँ, मांस, खालें, ऊन, ऊन कातकर और बुनकर बनाए गए कपड़े आदि जैसे विविध और विपुल वस्तुओं के स्वामी होते गए। इन चीजों की जैसे-जैसे वृद्धि होती गई वैसे-वैसे व्यक्तिगत उपयोग के अलावा बहुत कुछ शेष भी बचने लगा। उधर ऐसे कबीले भी थे जिन्होंने पशुपालन नहीं अपनाया था। नतीजतन, विनिमय की शुरुआत हो गई। बर्बर अवस्था के इस चरण से पहले भी विनिमय अपवादस्वरूप ही होता था, लेकिन पशुपालन के परिणाम स्वरूप विनिमय सामान्य सामाजिक रीति हो गया।

आरंभ में पशुओं पर गोत्र/कबीले का ही स्वामित्व था, और इसलिए विनिमय गोत्र के मुखिया अथवा कबीले के प्रमुख के माध्यम से ही होता था, लेकिन जैसे-जैसे पशुओं के रेवड़ लोगों की पृथक संपत्ति बनते गए, वैसे-वैसे विनिमय भी व्यक्तियों के बीच ही होने लगा। एंगेल्स के मुताबिक, *सामूहिक संपत्ति का निजी संपत्ति में रूपांतरण कब और कैसे हुआ, यह हम आज तक नहीं जान सके हैं। लेकिन मुख्यत: यह इसी बर्बर अवस्था के मध्यम चरण में हुआ होगा।*

जहाँ तक खेती की बात है तो एंगेल्स का अनुमान है कि बर्बर अवस्था के निम्न चरण में एशियाई लोगों को बागवानी, जो कि खेती का पूर्ववर्ती रूप है, का ज्ञान नहीं था। लेकिन मध्यम चरण तक आते-आते वह शुरू हो गई होगी। लंबे और कड़ाके के जाड़े के दिनों के दौरान ज़रूरी चारे और अनाज का पहले से ही

इंतजाम किए बिना पशुपालन संभव नहीं था। पशुपालन के लिए चारे और अनाज की खेती करना ज़रूरी था। इस तरह *पशुओं के चारे की ज़रूरत ने खेती को जन्म दिया* और एक बार जब पशुओं के लिए अनाज का उत्पादन किया जाने लगा तो फिर उसे मनुष्यों का भोजन बनने में देर न लगी। ध्यान देने की ज़रूरत है कि पशु भले ही अलग-अलग परिवारों की संपत्ति हो गए थे पर खेती की ज़मीन कबीले की संपत्ति बनी रही।

दास-प्रथा की शुरुआत : पशुपालन, खेती, घरेलू दस्तकारी आदि का विकास हुआ तो गोत्र या गृह-समुदाय के सदस्यों के ज़िम्मे रोजाना पहले से कहीं ज़्यादा काम आ पड़े। जितनी तेजी से पशुधन में वृद्धि होती जाती थी उतनी तेजी से परिवार नहीं बढ़ता था। काम का बोझ तो बढ़ रहा था, लेकिन काम करने वाले हाथ नहीं। ऐसे में बाहर से काम करने वालों को लाने की ज़रूरत उत्पन्न हुई। यही कारण है कि अब युद्ध में बंदी बनाए गए लोग पहले की तरह मार दिए जाने अथवा विजयी कबीला द्वारा भाइयों के रूप में स्वीकार किए जाने की जगह दास बनाए जाने लगे। इस तरह समाज दो वर्गों में बंट गया। एक ओर दासों के स्वामी हो गए और दूसरी ओर दास।

मातृसत्ता का विनाश: पशु और उसके उत्पाद अलग-अलग परिवारों की निजी संपत्ति बने तो युग्म-विवाह और मातृवंशीयता आधारित गोत्र समाज पर खतरा मंडराने लगा। हमने युग्म-परिवार के सदर्भ में देखा कि किस तरह परिवार में जो श्रम विभाजन था, उसके अनुसार आहार जुटाने और उसके लिए आवश्यक औज़ार जुटाने का काम पुरुष का था। इसलिए इन औज़ारों पर उसी का अधिकार होता था। पति-पत्नी अलग होते थे तो घर का सामान स्त्री के पास रह जाता था और पुरुष अपने औजार साथ ले जाता था। यह उस जमाने की सामाजिक रीति थी। इस रीति के अनुसार आहार के नए स्रोत पशु और बाद में श्रम के नए औजार दास – इन दोनों पर ही पुरुष का ही अधिकार हुआ।

पशु और उसके उत्पाद भोजन के स्रोत होते गए तो आजीविका के लिए घरेलू परिक्षेत्र और इसलिए, स्त्रियों पर पुरुषों की निर्भरता भी कम होती गई। अब उत्पादन का स्थल घरेलू दायरा नहीं, बल्कि बाहरी दायरा हो गया था, जहाँ के स्वामी पुरुष थे। उत्पादन के साधन पर भी उन्हीं का स्वामित्व था। श्रम-विभाजन पहले-सा ही था। हुआ केवल यह था कि स्त्रियों का श्रम उत्पादनमूलक न रह जाने के कारण महत्वहीन हो गया था। एंगेल्स ने ***स्त्रियों के उत्पादन की प्रक्रिया से दूर होने और घरेलू श्रम के भर के दायरे में सीमित हो जाने*** को उनके कमज़ोर पड़ने का महत्वपूर्ण कारण माना है। यही वजह है कि एंगेल्स ने घोषणा के स्वर में कहा कि *जब तक स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन के काम से अलग और केवल घर के के काम-काज तक ही सीमित रखा जाएगा, तब तक स्त्रियों का स्वतंत्रता प्राप्त करना और पुरुषों के समान अधिकार पाना असंभव है और असंभव ही बना रहेगा।*

यहाँ उत्तराधिकार की रीति पर गौर करना ज़रूरी है। मातृवंशीयता के कारण गोत्र के किसी पुरुष सदस्य की मृत्यु के बाद उसकी संपत्ति उसके गोत्र-संबंधियों को मिलती थी। चूँकि उसके बच्चे उस गोत्र के सदस्य नहीं होते थे, जिसका कि वह सदस्य होता था, इसलिए बच्चे मरहूम पिता की संपत्ति के उत्तराधिकार

से वंचित थे। शुरू में संपत्ति साधारण होती थी, इसलिए वह किसे मिल रही है यह महत्वपूर्ण नहीं था। लेकिन, पशु-संपदा जैसे-जैसे बढ़ती गई और आहार का प्रमुख जरिया बनती गई वैसे-वैसे परिवार में पुरुष की स्थिति भी श्रेष्ठ होती गई। उसकी मज़बूत होती स्थिति ने उसके भीतर उत्तराधिकार की पुरानी रीति को पलट देने की लालसा पैदा कर दी। फिर क्या था यह फैसला लिया गया कि आगे से गोत्र के पुरुष सदस्यों के वंशज गोत्र में ही रहेंगे और स्त्रियों के वंशज गोत्र से बाहर कर पिताओं के गोत्रों में शामिल कर दिए जाएंगे। इस प्रकार, मातृ-सत्ता और मातृ-वंशानुक्रम का विनाश कर पितृ-सत्ता और पितृ-वंशानुक्रम की स्थापना को एंगेल्स ने ***स्त्री-जाति की विश्व ऐतिहासिक महत्व की पराजय*** कहा। चूँकि यह सब निजी संपत्ति के प्रादुर्भाव का परिणाम था, इसलिए स्त्री अधीनता के खत्म होने के लिए एंगेल्स ने निजी संपत्ति के खत्म किए जाने को ज़रूरी माना।

4. **पितृसत्तात्मक परिवार :** पुरुषों की सत्ता स्थापित हुई तो परिवार का यह रूप वज़ूद में आया। इसमें परिवार के मुखिया पुरुष के अधीन उसकी पत्नी, उसके बच्चे और कुछ दास होते थे। इन सब पर उसकी निरंकुश सत्ता होती थी। पितृत्व सुनिश्चित करने के लिए स्त्री की यौनिकता पर कठोर नियंत्रण ज़रूरी हो गया था। इसलिए परिवार के ऐसे रूप का विकसित होना लाज़िमी था जिसमें उसे पुरुष की निरंकुश सत्ता के अधीन कर दिया जाए। एंगेल्स के अनुसार, परिवार के मातृ-अधिकार आधारित रूप का चोला उतारकर पितृ-अधिकार आधारित एकनिष्ठ रूप का चोला पहनने के बीच की संक्रमणकालीन अवस्था में पितृसत्तात्मक परिवार ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
5. **एकनिष्ठ विवाह वाला परिवार :** परिवार का यह रूप युग्म-परिवार से प्रस्फुटित हुआ। कृषि की शुरुआत और विनिमय-प्रक्रिया के सुव्यवस्थित रूप लेते जाने के साथ-साथ वर्ग-व्यवस्था ने आकार लेना आरंभ किया तो मनुष्य सभ्यता की अवस्था में पहुँचा। इस अवस्था में एकनिष्ठ विवाह सुदृढ़ हुआ। युग्म परिवार की अपेक्षा इसमें विवाह का संबंध ज़्यादा दृढ़ हो गया है। अब स्त्री विवाह-विच्छेद के बारे में सोच भी नहीं सकती थी। पुरुष को पूर्व की भांति विवाह-विच्छेद की आज़ादी बरकरार रही है। स्त्री से अब यह अपेक्षित था कि वह पति के प्रति वफादार रहे। किसी अन्य पुरुष का उसके मन में ख्याल आना भी अनैतिक हो जाता है। यदि कोई स्त्री पहले की तरह ही आचरण करने की कोशिश करती तो उसे दंडित किया जाता है। एंगेल्स के शब्दों में अब परिवार आर्थिक इकाई हो जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि एंगेल्स ने स्त्री की अधीनस्थ स्थिति के लिए मुख्य तौर पर दो कारण बताए- पहला, निजी संपत्ति का प्रादुर्भाव और दूसरा, उत्पादन के स्थल के रूप में बाहरी दायरे का घरेलू दायरे की जगह ले लेना और इसलिए, स्त्री का उससे दूर होते जाना। यही कारण है कि एंगेल्स ने स्त्री की मुक्ति के लिए निजी संपत्ति के खात्मे और स्त्रियों की उत्पादन में भागीदारी को ज़रूरी माना। अपनी इन स्थापनाओं के साथ एंगेल्स न केवल समाजवादी व्यवस्थाओं बल्कि दुनिया भर के वामपंथी संगठनों और पार्टियों के स्त्री मुक्ति कार्यक्रम के लिए पथ-प्रदर्शक बने हुए हैं।

1.3.2.2.2. एंगेल्स की आलोचना

एंगेल्स ने स्त्री अधीनता को इतिहास के एक पड़ाव पर उत्पन्न होने की स्थापना देकर स्त्रीवादियों के लिए जैविक निर्धारणवाद से निपटने के लिए मज़बूत हथियार मुहैया किया। गर्दा लर्नर के अनुसार, उनकी स्थापना के महत्व का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि स्त्री-अधीनता की उत्पत्ति के प्रश्न पर होने वाली सैद्धांतिक बहस कमोबेश एंगेल्स की ही स्थापना को सही ठहराने, विकसित करने या फिर गलत सिद्ध करने पर केंद्रित रही हैं।

स्त्रीवादियों ने एंगेल्स की जिन बातों को लेकर आलोचना की है वे इस प्रकार हैं:

1. एंगेल्स ने भी लिंग के आधार पर स्त्री और पुरुष के बीच श्रम विभाजन को प्राकृतिक मान लिया। स्त्रियों के घरेलू दायरे और पुरुषों के बाहरी दायरे में संलग्न और सक्रिय होने को उन्होंने भी प्रजनन की प्रक्रिया में उनकी भूमिकाओं में भेद के साथ जुड़ा हुआ मान लिया। स्त्री बच्चे को जन्म देती है। यह प्राकृतिक है। थोड़ी देर के लिए हम बच्चे की माँ की देखभाल की ज़रूरत को इससे जुड़ा हुआ मान सकते हैं, लेकिन घर में स्त्रियाँ इसके अलावा झाड़ू-पोंछा, चूल्हा-चौकी जैसे घरेलू कार्य निरंतर करती हैं उसके तार उनकी प्रजनक क्षमता से नहीं जुड़े हुए हैं। स्त्रीवादियों का मानना है कि एंगेल्स यह भेद नहीं कर पाए। स्त्रियों के हिस्से आए घरेलू काम-काज को उनकी प्रजनक क्षमता से जुड़ा हुआ मान कर चलने पर तो हम इसी नतीजे पर पहुंचेंगे कि स्त्रियों का घरेलू श्रम में लिप्त होना प्राकृतिक है। यानि स्त्री और पुरुष के बीच का श्रम विभाजन स्वाभाविक है, जो स्त्री-मुक्ति के लिहाज से प्रतिगामी सिद्ध होगा। गर्दा लर्नर का मत है कि एंगेल्स जिन नृजातिविवरणों के आधार पर उपर्युक्त नतीजे पर पहुंचे थे वे गलत सिद्ध हो चुके हैं। न केवल अतीत में, बल्कि आज भी जो समाज शिकार-संग्रह की अवस्था में हैं उनमें आहार का औसतन 60% या उससे भी अधिक स्त्रियाँ ही जुटाती हैं। इसके साथ ही श्रम विभाजन का स्वरूप भी सभी जगह एक-सा नहीं रहा है। लर्नर के मुताबिक, विभिन्न संस्कृतियों में पुरुषों और स्त्रियों के ज़िम्मे सौंपे गए कार्यों में भारी विविधता रही है। यानि ज़रूरी नहीं कि बच्चे की देखभाल, खाना बनाने, कपड़े साफ करने आदि जैसे काम सभी संस्कृतियों में स्त्रियाँ ही करती हों। वी. गीता ने अफ्रीका और एशिया के ऐसे ग्रामीण समाजों का जिक्र किया है जिनमें बच्चों के देखभाल की ज़िम्मेदारी पड़ोसियों, बुजुर्ग पुरुष संबंधियों और यहाँ तक कि युवकों पर रहती है।
2. एंगेल्स ने यह महत्वपूर्ण सूत्र तो गढ़ डाला कि स्त्री की अधीन स्थिति का कारण निजी संपत्ति की उत्पत्ति है, लेकिन उन्होंने इस सवाल को अनुत्तरित ही छोड़ दिया पशुपालन के उपरांत पशुधन के रूप में जमा हुई संपदा कब और कैसे समूचे कबीले या गोत्र की संपत्ति न रहकर निजी हो गई? यदि निजी संपत्ति की उत्पत्ति का कारण नहीं बताया जा सकता तो स्त्री अधीनता के उससे आबद्ध होने का सूत्र सही कैसे हो सकता है?

3. उत्पादन और पुन:उत्पादन को बराबर के महत्व का और समांतर प्रक्रियाएँ मानने के बावज़ूद एंगेल्स ने अंतत: उत्पादन को ही तरजीह दी।
4. क्रिश हर्मन का मानना है कि खेती की शुरुआत पशुओं को पालतू बनाए जाने के साथ ही हुई न कि बाद में, जैसा कि एंगेल्स मान बैठे। खेती का यह रूप बागवानी (होर्टीकल्चर) के स्तर का था। वनों को काटकर, झाड़ियों को जलाकर और छोटे औज़ारों से ज़मीन खोदकर की जाने वाली यह खेती मुख्यत: स्त्रियाँ ही करती थीं। यही कारण है कि खेती की खोज का श्रेय स्त्रियों को जाता है। जब तक मनुष्य ने लोहे का आविष्कार नहीं किया था और हल तथा सिंचाई से खेती करना शुरू नहीं किया था तब तक खेती का बागवानी वाला रूप ही कायम रहा। गेल ओम्वेट लिखती हैं कि यदि एंगेल्स के इस तर्क को मान लिया जाए कि उत्पादन के साधनों (पशु) और उत्पाद पर नियंत्रण के कारण पुरुष-सत्ता स्थापित हुई तो कायदे से बर्बरता की अवस्था के दौरान स्त्रियों की स्थिति हीन होने के बजाय पहले से भी ज़्यादा मज़बूत हो जानी चाहिए थी। आखिर, खाद्यान्न-संग्रह तो वे करती ही आ रही थीं, पुन:उत्पादन पर उन्हीं का हक था, ऊपर से अब खेती (उत्पादन का साधन) और उसके उत्पाद पर भी उन्हीं का अधिकार था। पुरुष-सत्ता की स्थापना तो खेती में हल का प्रयोग शुरू होने, पुरुष के उत्पादन की प्रक्रिया पर हावी होने और राज्य के वज़ूद में आने यानि बर्बरता के अंतिम चरण में आकर होनी चाहिए थी।
5. एंगेल्स की सबसे कड़ी आलोचना रेडिकल स्त्रीवादियों ने की। रेडिकल स्त्रीवाद के बारे में हम पहले ही विचार कर चुके हैं कि कैसे वह पारंपरिक मार्क्सवाद द्वारा स्त्री के मसले को केवल उत्पादन के पदों में समझने की आलोचना करते हुए विकसित हुआ और स्त्री-अधीनता के कारण के रूप में पुन:उत्पादन की महत्ता स्थापित की।
6. एंगेल्स ने घरेलू श्रम की महत्ता को कम करके आंका। घरेलू श्रम साधारण उपयोग मूल्य उत्पन्न करता है, इसलिए उन्होंने इसे गंभीरता से नहीं लिया, जबकि स्त्रीवादियों ने अपना पक्ष रखते हुए जाहिर किया है कि उत्पादक श्रम और उससे प्राप्त होने वाले अधिशेष मूल्य में घरेलू श्रम की बड़ी भूमिका होती है।
7. एंगेल्स ने मातृवंशीयता और मातृसत्ता को एक ही समझ लिया, जबकि दोनों में भेद है। मातृवंशीयता का अर्थ यह होता है कि वंश माता के नाम पर चलता है। इसका अर्थ यह नहीं कि ऐसी व्यवस्था में स्त्रियों का ही प्रभुत्व हो।

1.3.2.2.3. लेवीस्ट्रास

आपने गोत्र के बनने के बारे में ऊपर पढ़ा है। गोत्र के तहत वे लोग आते थे जिनके बीच विवाह निषिद्ध था। अब तक ज्ञात सभी समाजों में कुछ निकट लोगों का एक सीमांकित दायरा ज़रूर पाया गया है जिनके बीच विवाह निषिद्ध होता है। इसे निषिद्ध निकटाभिगमन (Incest Taboo) कहा जाता है। मॉर्गन ने इसे प्राकृतिक वरण के तहत होने वाली परिघटना माना। मानव के विकास की राह पर बने रहने के लिए यह ज़रूरी

था। मॉर्गन के मुताबिक, इस निषेध को अपनाने वाले कबीले की संतानें अपेक्षाकृत ज़्यादा उन्नत मस्तिष्क शरीर वाली होती थीं।

संरचनावादी मानवविज्ञानी लेवीस्ट्रास का मत है कि निषिद्ध निकटाभिगमन की सभी समाजों में पाई जाने वाली रीति का ताल्लुक माँ, बहन, बेटी या निकट के अन्य संबंधियों के साथ विवाह पर निषेध लगाने से उतना नहीं है जितना कि उन्हें अन्य पुरुषों को देने और बदले में उनसे स्त्रियाँ लेने से है। *स्त्रियों के विनिमय* को वे विनिमय का पहला रूप मानते हैं। उनके साथ मनुष्य की तरह नहीं, बल्कि *पण्य* (Commodity) की तरह व्यवहार किया जाता है। *स्त्रियों के विनिमय की प्रक्रिया में ही लेवीस्ट्रास को स्त्री अधीनता की शुरुआत दिखाई देती है।*

मानव संस्कृति के निर्माण के लिहाज से लेवीस्ट्रास ने भी निषिद्ध निकटाभिगमन को सकारात्मक माना है। इसे अपनाने के उपरांत ही कबीलों या गोत्रों के बीच स्त्रियों के विनिमय की संभावना उत्पन्न हो सकती थी। इस विनिमय के माध्यम से कबीलों के बीच का संबंध प्रगाढ़ होता था। इससे किसी क्षेत्र विशेष के कबीलों के बीच लगातार लड़ाई-झगड़े की जगह मिलजुल कर रहने का माहौल तैयार होता था।

यहाँ सवाल यह उठता है कि आखिर स्त्रियाँ ही विनिमय की वस्तु क्यों बनी, पुरुष क्यों नहीं? इसकी विद्वानों ने अलग-अलग व्याख्या की है। यहाँ उनमें से कुछ महत्वपूर्ण व्याख्याएँ निम्न हैं -

1. सी. डी. डार्लिंगटन का मत है कि विकास के पथ पर अग्रसर मनुष्य में अपने निवास स्थल की सीमित भौतिक परिस्थितियों के अनुकूल जीवित रहने के तौर-तरीके विकसित करने की अंतर्जात प्रवृत्ति थी। एक खास सीमा के बाद जनसंख्या को न बढ़ने देने के उपाय करना उसकी इसी प्रवृत्ति का हिस्सा था। स्त्रियों की यौनिकता पर नियंत्रण इसी के लिए किया गया उपाय था।
2. संरचनावादी मानवविज्ञानी क्लाउड मेलेसा ने भी स्त्री यौनिकता पर नियंत्रण को उसके विनिमय की शुरुआत का कारण माना है, लेकिन वे इसे जनसंख्या नियंत्रण के उद्देश्य से किया गया उपाय नहीं मानते। क्लाउड मेलेसा के मुताबिक, शिकार-संग्रह अवस्था में स्त्री, पुरुष और बच्चे सभी आहार जुटाने और उसके उपभोग में शरीक होते हैं। उनके बीच का सामाजिक संबंध अस्थायी और अनिश्चित होता है। नातेदारी संरचना की कोई आवश्यकता नहीं होती। बागवानी-स्तर वाली खेती की अवस्था में इतनी उपज नहीं होती कि मनुष्य शिकार, मछली पकड़ना और खाद्य-संग्रह करना छोड़ दे। इस अवधि में, समाज-व्यवस्था मुख्य तौर पर मातृवंशीय और मातृस्थानिक स्वरूप लिए हुई थी, कबीले की सुरक्षा और निरंतरता स्त्री और पुरुष की संख्या में संतुलन बने रहने पर निर्भर करता था। लेकिन, प्रसव के दौरान स्त्रियों की जान को खतरा बना रहता था और कई स्त्रियों की मौत भी हो जाया करती थीं। ऐसे में कबीलों के बीच स्त्रियों की चोरी और इस क्रम में उनके बीच लड़ाई-झगड़े होने लगे। चोरी करके लाई गई स्त्री की सुरक्षा या तो वह करता था जो उसे चुरा कर लाया या फिर समूचा कबीला। उसकी रक्षा करने की प्रक्रिया की स्वाभाविक परिणति उस पर हक जमाने के रूप में हुई। हक ज़माने का नतीजा यह हुआ कि

उसे सामान समझा जाने लगा। उसकी प्रजनन क्षमता पहले तो कबीले की संपदा मानी गई, लेकिन जैसे ही शासक वर्ग का उदय हुआ वैसे ही उस पर खास कुलों का आधिपत्य होता गया।

मेलेसा ने स्त्री की प्रजनक क्षमता के निजी संपदा में तब्दील होने की प्रक्रिया का ऊपर जो खाका खींचा है, वह हल आधारित कृषि के विकास के साथ-साथ चलती है। बागवानी वाली खेती में ज़मीन खोदने का काम नुकीले छोटे हस्त-औजार से संभव था, इसलिए उसे मुख्यत: स्त्रियाँ ही करती आ रही थीं। उसमें गर्भवती अथवा नवजात शिशु को दूध पिलाती स्त्रियाँ भाग ले सकती थीं, लेकिन ऐसी स्त्रियाँ हल खींचने का काम नहीं कर सकती थीं। वैसे भी, हल खींचकर ज़मीन खोदने में किसी छोटे हस्त-औजार से ज़मीन खोदने की तुलना में ज़्यादा ताकत की ज़रूरत थी। इसलिए पुरुष का दबदबा बढ़ता गया। इसका अर्थ यह नहीं कि स्त्रियों की भूमिका कम हो गई, बल्कि अब तो और भी ज़्यादा श्रम करने वाले हाथ चाहिए थे। उत्पादन की इस प्रणाली में श्रम के ऐसे कई स्तर थे जहाँ संतानें और स्त्रियाँ दोनों लगाए जा सकते थे। संतानें अब आर्थिक दृष्टि से संपदा थे। इसलिए कबीले स्त्री की प्रजनक क्षमता को अपने वश में करने की ओर अग्रसर हुए।

मेलेसा का मत है कि *चूँकि गर्भधारण और संतान को जन्म देने की क्षमता स्त्रियों में ही होती है न कि पुरुषों में, इसलिए स्त्रियों का ही विनिमय होना शुरू हुआ न कि पुरुषों का*।

यहाँ ध्यान देने की ज़रूरत है कि मेलेसा ने स्त्री की प्रजनक क्षमता पर नियंत्रण को पहले और निजी संपत्ति की उत्पत्ति को उसके बाद घटने वाली घटना माना, जबकि एंगेल्स के सूत्रीकरण के बाद यह धारणा आम हो चली थी कि पहले निजी संपत्ति का प्रादुर्भाव होता है और फिर स्त्री अधीनता की स्थिति में आती है।

3. मानवविज्ञानी पीटर आबी ने भी एंगेल्स की आलोचना करते हुए यही प्रतिपादित किया है कि स्त्रियों की प्रजनक क्षमता के नियंत्रण की बुनियाद पर ही निजी संपत्ति और राज्य के ढाँचे खड़े हुए। स्त्रियों की यौनिकता ही सबसे पहली निजी संपदा बनी। उनके मुताबिक, किसी समूह-विशेष के ऊपर प्रतिकूल पारिस्थितिकी और अनियमित प्रजनन रूपी मँडराते विनाश के बादल ने स्त्रियों की प्रजनक क्षमता को बहुमूल्य निधि बना डाला और इसलिए उक्त समूह को उसे नियंत्रित करने की ओर अग्रसर किया।

1.3.2.2.5. गर्दा लर्नर

स्त्रीवादी इतिहासकार गर्दा लर्नर का हमने पहले भी कई बार जिक्र किया है। पितृसत्ता की शुरुआत और उसकी निरंतरता से जुड़े सवालों पर उन्होंने अपनी किताब 'द क्रिएशन ऑफ पैट्रियार्की'(1986) में बड़े विस्तृत तरीके से विचार किया है। यहाँ हम उनके विचारों को बिंदुवार प्रस्तुत कर रहे हैं -

- गर्दा लर्नर ने भी पितृसत्ता को ऐतिहासिक संरचना माना है। पर वे इसके पीछे किसी एक कारण का हाथ होने अथवा इसके इतिहास के किसी पड़ाव पर उत्पन्न होने की धारणा को यथार्थपरक नहीं मानतीं।

उनका कहना है कि पितृसत्ता को घटना के रूप में नहीं, बल्कि प्रक्रिया के रूप में देखने की ज़रूरत है। यही वजह है कि उन्होंने अपनी किताब का नाम *क्रिएशन ऑफ पैट्रियार्की* रखना उचित समझा न कि *ऑरिजिन ऑफ पैट्रियार्की*। क्रिएशन यानि निर्माण, रचना या बनना। लर्नर लिखती हैं कि पितृसत्ता के निर्माण में लगभग 2500 वर्ष लगे होंगे और इसमें किसी एक की नहीं, बल्कि कई कारकों की मिली-जुली भूमिका रही होगी।

- लर्नर की सबसे महत्वपूर्ण स्थापना यह है पितृसत्ता को पुरुषों की सोची-समझी रणनीति का परिणाम नहीं माना जाना चाहिए। चीजें कुछ खास रास्ते विकसित होती हैं। कुछ खास नतीजे सामने आते हैं, जिनके बारे में पहले किसी को तनिक भी अंदाजा नहीं रहता और जब यह सामने आते हैं तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। उनका कहना है कि जिस तरह आधुनिक मनुष्य को औद्योगीकरण का रास्ता पकड़ते वक्त प्रदूषण और पर्यावरण-क्षति जैसे विनाशकारी नतीजों का अंदाजा नहीं था उसी तरह आरंभ में स्त्रियों और पुरुषों के बीच विद्यमान अनायास श्रम विभाजन बाद में सायास ही नहीं, बल्कि ज़बरन लागू किया जाएगा और उनकी अधीनता की स्थिति में आने का कारण बनेगा, इसका तनिक भी आभास स्त्रियों को नहीं रहा होगा।
- लेवीस्ट्रास और मेलेसा की तरह लर्नर का भी यही मत है कि निजी संपत्ति और वर्ग-व्यवस्था का निर्माण न केवल स्त्री की यौन-प्रजनक क्षमता के पण्यीकरण (कोमोडिफिकेशन) के बाद, बल्कि उसी की बुनियाद पर हुआ।
- आरंभिक राज्य पितृसत्ता के रूप में गठित हुए और इसी कारण वे शुरू से पितृसत्तात्मक परिवारों को संरक्षण प्रदान करने में ही रुचि लेते रहे।
- अपने समूह की स्त्रियों के नियंत्रण से प्राप्त अनुभव से ही पुरुषों ने दूसरों पर अधिकार जताना सीखा। इसकी अभिव्यक्ति सर्वप्रथम पराजित समूह की स्त्रियों को दास बनाने और अंतत: दास-प्रथा की स्थापना के रूप में हुई।
- प्राचीन क़ानून संहिताओं में स्त्रियों के यौन-नियंत्रण के उद्देश्य से नियम बनाए गए और उन्हें राज्य ने कठोरतापूर्वक लागू किया।
- स्त्रियों से उनकी अपनी ही अधीनता में सहयोग के लिए बल-प्रयोग के अलावा कई तरीके ईजाद किए गए। उदाहरण के लिए, आर्थिक तौर पर उन्हें घर के पुरुष मुखिया पर निर्भर कर दिया जाना; स्त्रियों को अच्छी/बुरी, पतिव्रता/पतिता आदि जैसी श्रेणियों में वर्गीकृत करना; नियम-कायदों का पालन करने वाली स्त्रियों को जाति और वर्ग आधारित विशेषाधिकार प्रदान करना इत्यादि।
- पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना में स्त्रियों की स्थिति के लिए शोषण शब्द के प्रयोग को लर्नर उपयुक्त नहीं मानती हैं। शोषण बल-प्रयोग को इंगित करता है। जबरन सत्ता की स्थिति हो तो इसका प्रयोग होना

चाहिए। पितृसत्ता पितृसंरक्षणमूलक (पैटर्नलिस्टिक) है। पितृसंरक्षणता में शोषण का अंश तो रहता है, लेकिन कर्तव्य, दायित्व और अधिकार के लबादे में यह ओझल रहता है। इसके अलावा, हमारा समाज इस तरह संरचित है कि स्त्रियाँ केवल-और-केवल पीड़ित की ही स्थिति में नहीं हैं। बहुत सी ऐसी स्त्रियाँ हैं जो एक ओर पिता या पति के नियंत्रण में होती हैं तो दूसरी ओर कई स्त्रियों और पुरुषों पर सत्ता का सुख भी उठती हैं। इसलिए लर्नर स्त्री की स्थिति की यथार्थपरक अभिव्यक्ति के लिए शोषण की जगह पराधीनता शब्द के प्रयोग को उचित बताती हैं।

- लर्नर की एक और महत्वपूर्ण स्थापना यह है कि यदि घटनाएँ एक साथ घट रही हों तो ज़रूरी नहीं कि उनके बीच कार्य-कारण संबंध ही हो। वे एक-दूसरे से जुड़ी हो सकती हैं। यह जुड़ा होना अन्योन्याश्रय भी हो सकता है। इस सूत्र के जरिए उन्होंने यह दिखलाने की कोशिश की है कि कैसे आरंभ से ही स्त्री-अधीनता और वर्ग आधारित सत्ता-संरचना नाभिनालबद्ध रहे हैं।

1.3.3. मातृवंशीयता और मातृसत्ता

किसी तर्क या स्थापना को गलत प्रमाणित करने के क्रम में कई बार हम एकदम से दूसरे छोर पर चले जाते हैं और उसे उलटकर ही चैन लेते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण स्त्रियों की स्थिति के लिहाज से वैदिक युग को स्वर्ण युग प्रमाणित करना रहा है। अंग्रेज़ों ने भारत पर अपनी औपनिवेशिक सत्ता के औचित्य के लिए भारतीय समाज को असभ्य और पिछड़ा हुआ जाहिर करने की कोशिश की थी। इसके लिए बतौर पैमाना उन्होंने स्त्रियों की दयनीय स्थिति को प्रस्तुत किया था। उन्हें गलत सिद्ध करने के लिए जो वैचारिक प्रयास किए गए उनमें से एक की परिणति प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति किसी भी अन्य समाज की तुलना में श्रेष्ठ घोषित करने के रूप में हुई।

इसी तर्ज पर स्त्री-पराधीनता के सर्वकालिक और सार्वदेशिक होने की मान्यता को गलत ठहराने के लिए की गई कवायदों में से एक की परिणति मानव-सभ्यता की शैशवावस्था में मातृसत्ता के विद्यमान होने की धारणा के रूप में हुई।

मातृसत्ता के पहले सिद्धांतकार जे. बखोफेन थे। उनकी किताब ***'मदर राईट्स'*** का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। मातृ अधिकार से उनका आशय यह था कि पुरुषों का आधिपत्य स्थापित होने से पहले स्त्रियों का राज था। आरंभ में यौन-स्वच्छंदता की स्थिति थी। ऐसे में केवल बच्चे की माता ही सुनिश्चित की जा सकती थी, पिता कौन है – यह तय कर पाना मुश्किल था। नाम और संपत्ति के पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचरण का जरिया भी वही थी। धार्मिक परिक्षेत्र में भी देवी और पुरोहित के रूप में स्त्रियों का ही दबदबा था।

बखोफेन के बाद रॉबर्ट ब्रिफो ने और भी जानकारियाँ जोड़कर मातृसत्ता के सिद्धांत को पुख्ता किया। ***'द मदर्स'*** (1960) नामक किताब में उन्होंने यही प्रतिपादित किया है कि पुरुषों द्वारा सत्ता हासिल करने से

पहले मातृ-अधिकार ही संस्कृति और सामाजिक गठन का स्रोत था। नातेदारी, राजनीतिक संगठन, क़ानून, जादू, धर्म और आर्थिक जीवन – सब कुछ स्त्रियों के हाथों में था।

एंगेल्स से प्रेरणा लेते हुए भारतीय विद्वान देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय और शरद पाटिल ने भारत में आर्यों के आने से पहले के जनजातीय समाज के मातृसत्तात्मक संरचना होने का दावा किया है। शरद पाटिल ने इसके बारे में अपनी किताब *'द शूद्र स्लेवरी इन एंशिएण्ट इंडिया'* (1982) में विचार किया है। उन्होंने न केवल आर्य-पूर्व भारतीय समाज, बल्कि हड़प्पा सभ्यता तक में मातृसत्ता और मातृवंशीयता के होने का दावा किया है। वे इसे स्त्री-राज्य कहते हैं। इसमें स्त्रियाँ शासक वर्ग थीं। हल आधारित खेती और पशुपालन शुरू हुआ, तो मातृ-अधिकार की जगह पितृ-अधिकार की स्थापना हुई और मातृसत्ता की जगह पितृसत्ता वज़ूद में आ गई।

चट्टोपाध्याय या पाटिल एंगेल्स से प्रेरित होने के बावज़ूद यह गौर नहीं कर पाए कि एंगेल्स ने पितृसत्ता की उत्पत्ति के पहले की समाज-व्यवस्था के वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन होने की बात की है। स्त्रियों की बेहतर स्थिति के लिए उन्होंने भी मातृ-अधिकार, मातृसत्ता और मातृवंशीयता का प्रयोग किया है, लेकिन उनका आशय पाटिल के स्त्री-राज्य जैसी किसी व्यवस्था से कदापि न था।

एंगेल्स ने राज्य को राजनीतिक सत्ता के ही एक और रूप भर के रूप में नहीं लिया। राज्य एक विशिष्ट और केंद्रीकृत संस्था के रूप में वर्ग समाज में आकार लेता है। उसका स्थान न केवल समाज के दायरे के बाहर, बल्कि उसके ऊपर होता है। दिखाने को तो यह खुद को निष्पक्ष के रूप में प्रस्तुत करता है, लेकिन वास्तव में यह अधिपति वर्ग का पक्ष लेता है। एंगेल्स के मुताबिक, अलग प्रशासनिक और सैन्य ताकतों से लैस यह संस्था क्षेत्रमूलक होती है, यानि किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले बाशिंदे इसके दायरे में आते हैं। जबकि वर्ग-पूर्व सामाजिक संगठन – जो अमूमन कबीलाई होता है – का आधार नातेदारी/कुटुंब आधारित होता है। उसमें राज्य जैसी संस्था के लिए कोई जगह नहीं होती है। इसलिए समाज की इस अवस्था में एंगेल्स ने यदि मातृ-अधिकार के विद्यमान होने की बात की है तो उसे स्त्री-राज्य नहीं माना जाना चाहिए। इतिहास में ऐसा कोई भी क्षण या दौर नहीं रहा है जिसमें स्त्रियाँ शासक रही हों और पुरुषों के जीवन में उनका दखल रहा हो अथवा पुरुषों के श्रमोत्पाद पर उनका हक रहा हो। मातृ-अधिकार से एंगेल्स का आशय स्त्रियों की अपेक्षाकृत बेहतर अथवा पुरुषों के समान स्थिति से था।

मातृसत्ता की बात करने वालों से सबसे बड़ी चूक यह होती रही है कि वे मातृवंशीयता और इसमें भेद नहीं करते। मातृवंशीयता यानि माता के नाम पर वंश चलने के आधार पर वे सीधे उसकी सत्ता के निष्कर्ष तक पहुँच जाते हैं। स्त्रीवादी मानवविज्ञानियों ने मातृवंशीय समाजों का अध्ययन करके यह तथ्योद्घाटन किया है कि मातृवंशीयता मातृसत्ता का पर्याय नहीं है।

भारत के केरल का नायर समुदाय न केवल मातृवंशीय, बल्कि मातृस्थानिक भी रहा है। मातृस्थानिक का अर्थ यह हुआ कि विवाहोपरांत पत्नी पति के घर नहीं जाती थी। वह अपने ही परिवार में रहती थी। पति

रात्रि-निवास भर के लिए उसके पास आता था। पत्नी के घरेलू जीवन में उसका कोई दखल नहीं था। विवाह-बंधन भी ढीला ही था। अपने समुदाय के किसी पुरुष के साथ विवाह के उपरांत स्त्री अपने या अपने से ऊँची जातियों के अन्य पुरुषों के साथ अस्थायी यौन-संबंध बना सकती थी। शेनेडर और कैथलीन गफ ने इस समाज का अध्ययन कर यह जाहिर किया है कि अपेक्षाकृत खुले परिवेश के बावज़ूद स्त्रियाँ अंतत: भाइयों पर निर्भर थीं। फर्क सिर्फ इतना था कि यहाँ पुरुष सत्ता की अभिव्यक्ति पति के माध्यम से न होकर भाई के माध्यम से हो रही थी।

स्त्रीवादियों के बीच अब इस पर आम सहमति है कि मातृसत्ता कभी भी अस्तित्व में नहीं रही है। लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने स्त्री के सर्वदा अधीन होने की धारणा को अंगीकार कर लिया है। स्त्रीवादी मानवविज्ञानियों ने बागवानी वाली खेती की अवस्था में कतिपय समाजों में स्त्रियों की स्थिति को पुरुषों के समान पाया। यह और बात है इनमें से अधिकांश हल आधारित कृषि अथवा वाणिज्य की ओर संक्रमण कर रहे थे और इसलिए पुरुष आधिपत्य आकार ले रहा था।

1.3.4. भारतीय समाज में पितृसत्ता

पितृसत्ता और समाज की अन्य संरचनाओं के बीच गहरा जुड़ाव रहता है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न समाजों में पितृसत्ता का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न रहा है। भारतीय उपमहाद्वीप में जाति व्यवस्था की व्याप्ति ने यहाँ की समाज-व्यवस्था को एकदम अनूठा बना रखा है। जाति-व्यवस्था के कारण पितृसत्ता के निर्माण की प्रक्रिया और उसके स्वरूप के स्तर पर भी भारतीय समाज अन्य समाजों से भिन्नता लिए हुए है। भारत में ही सभी समाज जाति के आधार पर ही गठित नहीं हैं। यहाँ जनजातीय समाज-व्यवस्थाएँ भी हैं। दोनों ही तरह के समाजों में पितृसत्ता अलग-अलग स्वरूप लिए हुए है।

इसलिए भारतीय पितृसत्ता नामक किसी संरचना की हम बात नहीं कर सकते, लेकिन जाति व्यवस्था के निरंतर फैलते जाने और धीरे-धीरे कतिपय जनजातीय समाजों द्वारा इसे अपना लिए जाने की व्यापक परिघटना को देखते हुए स्त्रीवादी विद्वानों ने जाति समाज की पितृसत्ता को वर्चस्वशाली करार दिया है, जिससे जनजातीय पितृसत्ताएँ प्रभावित हुए बिना नहीं रही होंगी।

जाति-समाज के साथ आबद्ध पितृसत्ता का नामकरण *ब्राह्मणवादी पितृसत्ता* किया गया है। उमा चक्रवर्ती ने इस संबंध में निम्नलिखित मत व्यक्त किए हैं –

- यह स्त्री पराधीनता के विभिन्न रूपों में से कोई एक रूप भर नहीं बल्कि हिंदू समाज और जाति आधारित व्यवस्था से आबद्ध खास संरचना है। भारत के अधिकतर क्षेत्रों में जड़ जमा चुकी इस पितृसत्तात्मक संरचना की अलग पहचान चिन्हित करने के लिए ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का प्रयोग उचित है।

- यह वस्तुत: नियमों और संस्थानों का ऐसा पुंज है, जिसमें जाति और जेंडर एक-दूसरे से गुंथे हुए हैं और एक-दूसरे का स्वरूप तय करते हैं; जिसमें स्त्री जातियों के बीच का पदानुक्रम बनाए रखने के लिए बतौर साधन इस्तेमाल होती है।
- इसने ऐसे नियम बना रखे हैं कि दायराबद्ध विवाह-वृत्तों की पदानुक्रमता का उल्लंघन हुए बिना जाति व्यवस्था का पुनरुत्पादन होता रहे। जाति की स्थिति और तदजन्य रुतबा (शुद्ध/अशुद्ध) के अनुसार ही उसकी स्त्रियों के लिए नियम तय किए गए हैं। इन नियमों को तय करने का अधिकार ऊँची जातियों के पास रहा है।
- यह पतिव्रता और साध्वी स्त्रियों के महिमामंडन द्वारा स्त्रियों से उनकी अपनी ही अधीनता के लिए सहमति प्राप्त करता है। ज़रूरत पड़ने पर इसने दंड की भी व्यवस्था कर रखी है।
- आनुष्ठानिक हैसियत उठाने के लिए निम्न जातियाँ अक्सर इन नियमों का अनुसरण करना शुरू कर देती हैं। इस क्रम में वे यह नहीं समझ पातीं कि उच्च और निम्न जातियों की स्त्रियों के लिए विवाह और यौन संबंधी अलग-अलग नियमों का ऊँची जातियों द्वारा निम्न जातियों के श्रम के दोहन से गहरा संबंध है। यह इस बात की व्याख्या करता है कि क्यों एक तरफ तो ऊँची जातियों में विधवा पुनर्विवाह भी निषिद्ध है और दूसरी तरफ निम्न जातियों की स्त्रियों के लिए पुनर्विवाह ही नहीं बल्कि उनसे जबरन सहवास तक की संभावना खुली रखी गई।
- श्रम दोहन जाति-व्यवस्था का मूल मंतव्य है, कारण इसी के लिए जेंडर आधारित नियम बनाए गए ताकि ऊँची जातियों का हित सध सके।

दलित पितृसत्ता

दलितों का मुखर होना समकालीन भारतीय राजनीति का अहम पहलू है। इस मुखरता का एक आयाम दलित स्त्रियों का अपनी अधीनता की विशिष्टता के प्रति सजग होना और उससे मुक्ति के लिए लामबंद होना है। दलित स्त्रीवाद इसी लामबंदी का नतीजा है। दलित स्त्रीवादियों के मुताबिक, दलित स्त्रियों को एक साथ त्रि-स्तरीय शोषण झेलना पड़ता है:

1) ऊँची जातियों के पुरुषों का जाति आधारित शोषण;
2) श्रमिक के रूप में भू-स्वामियों (जो प्राय: ऊँची या मध्य जातियों के होते हैं) का वर्ग आधारित शोषण; और
3) स्त्री के रूप में दलित पुरुषों और अन्यान्य ऊँची जातियों के पुरुषों का पितृसत्तात्मक शोषण।

गौरतलब है कि दलित स्त्रियों के बारे में यह यूटोपियाई धारणा व्याप्त रही है कि वे उच्च जातियों की स्त्रियों की तुलना में अपेक्षाकृत स्वायत्त हैं। ऐसा माना जाता रहा है कि उच्च जातियों की स्त्रियों के जीवन में उनके

पुरुषों का जितना हस्तक्षेप रहता है, उतना दलित स्त्रियों के जीवन में दलित पुरुषों का हस्तक्षेप नहीं रहता; दलित स्त्रियों को उच्च जातियों की स्त्रियों की भाँति वर्जनाओं और निषेधों का सामना नहीं करना पड़ता; दलित पति पितृसत्तात्मक आग्रहों से मुक्त होता है। लेकिन दलित स्त्रियों के मुखर होने तथा आत्मकथाओं और अन्य माध्यमों के जरिए उनके जीवनानुभवों के उजागर होने के बाद उपर्युक्त मिथक टूट गया। दलित स्त्रियाँ यह सच सामने लायी कि दलित पुरुष भी अपनी स्त्रियों के प्रति पितृसत्तात्मक आग्रहों से ग्रस्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, दलित स्त्रियों ने अब तक अदृश्य रही 'दलित पितृसत्ता' को दृश्य किया।

1.3.5. सारांश

स्त्री अधीनता और पुरुष आधिपत्य की स्थिति अपने आप में एक सत्ता संरचना है न कि किसी वृहत्तर सत्ता-व्यवस्था का हिस्सा, इस तथ्य को उजागर करने के उद्देश्य से रेडिकल स्त्रीवादियों ने सर्वप्रथम पितृसत्ता का प्रयोग करना शुरू किया। उन्होंने पितृसत्ता की जो तस्वीर खींची उसमें सत्ताहीन समूह के रूप में एक ओर स्त्रियाँ थीं और दूसरी ओर सत्तावान समूह के रूप में पुरुष। स्त्रियों के बीच विद्यमान भिन्नताओं को उन्होंने नज़रअंदाज़ किया। उन्होंने इस तथ्य की तरफ भी ध्यान देना ज़रूरी नहीं समझा कि सभी पुरुष सत्तावान ही नहीं हैं। इसके अलावा, स्त्री अधीनता की जड़ें उन्हें उसकी प्रजनक क्षमता में नज़र आई, जिसके नाम पर परंपरावादी स्त्री अधीनता को उचित ठहराते आ रहे थे। इसलिए, स्त्रीवादियों के लिए पितृसत्ता की इस संकल्पना के साथ आगे बढ़ना उचित नहीं जान पड़ा।

रेडिकल स्त्रीवाद की पितृसत्ता की संकल्पना में जो कमियाँ थीं, उन्हें ध्यान में रखते हुए इसे परिष्कृत करने के कतिपय प्रयास हुए। यह पाया गया कि पितृसत्ता का अलग स्वायत्त वज़ूद रहा है, लेकिन उसे निर्धारित करने में उत्पादन-प्रणाली और अन्य सामाजिक संरचनाओं की भूमिका रही है। इसलिए, इसका स्वरूप हर समाज में हमेशा एक-सा नहीं रहा है।

स्त्रीवादियों के बीच पितृसत्ता की उत्पत्ति भी बहस का मसला रहा है। एंगेल्स स्त्रीवाद के मुखर होने के बहुत पहले इसके निजी संपत्ति और परिवार के साथ उत्पन्न होने का सूत्र विकसित कर गए थे। इस रूप में वे परंपरावादियों के इस तर्क की काट प्रस्तुत कर गए थे कि पितृसत्ता हमेशा से और हर काल में विद्यमान रही है। इसलिए स्त्रीवादियों ने एंगेल्स को बहुत ही गंभीरता से लिया। यह और बात है कि मानव-विज्ञान की प्रगति और नई जानकारियों के सामने आते जाने के साथ एंगेल्स के सूत्र में दोष नज़र आने लगा। गर्दा लर्नर ने यह प्रस्तावित किया कि पितृसत्ता इतिहास के किसी पड़ाव पर उत्पन्न नहीं हुई थी और न ही इसके पीछे किसी एक कारण का हाथ था। इसके आकार लेने में लगभग 2500 वर्ष लगे होंगे। आकार लेने की उसकी यह प्रक्रिया समाज की अन्य संरचनाओं के विकसित होने की प्रक्रिया से जुदा नहीं रही है। इसलिए अलग-अलग समाजों में यह अलग-अलग रूप लिए होता है।

इसके अलावा, स्त्रीवादियों ने पितृसत्ता की तरह कभी मातृसत्ता के भीहोने की धारणा का भी खंडन किया है।

1.3.6. बोध प्रश्न

1. स्त्रीवादियों को स्त्री अधीनता के लिए पितृसत्ता का प्रयोग करने की आवश्यकता क्यों पड़ी ?
2. रेडिकल स्त्रीवादियों द्वारा पितृसत्ता की विकसित धारणा में क्या कमियॉं थी ? उसमें क्या सुधार किए गए?
3. पितृसत्ता की उत्पत्ति के संबंध में एंगेल्स के मत क्या हैं ? स्त्रीवादियों ने एंगेल्स के सूत्रीकरण में क्या कमियां पायीं ?
4. मातृवंशीयता और मातृसत्ता में क्या अंतर है ?
5. पितृसत्ता का स्वरूप भिन्न–भिन्न समाजों में अलग-अलग क्यों हैं ?
6. ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की विशेषताएं क्या है ?
7. दलित पितृसत्ता क्या है ?
8. भिन्न-भिन्न समाजों में पितृसत्ता का स्वरूप परस्पर भिन्न क्यों हैं ?

1.3.7. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. एंगेल्स, फ्रेडरिक. (2008). *परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति*. नई दिल्ली : ग्रंथ शिल्पी.
2. चक्रवर्ती, उमा. (2011). *जाति समाज में पितृसत्ता (अनुवादक – विजय झा)*. नई दिल्ली : ग्रंथ शिल्पी.

इकाई-4 जाति व्यवस्था और पितृसत्ता का अंत:संबंध विवाह संस्था

इकाई की रूपरेखा

1.4.0. उद्देश्य
1.4.1. प्रस्तावना
1.4.2. जेंडर
1.4.3. लिंग भेद और पितृसत्ता
1.4.4. पितृसत्ता एक विश्लेषण
1.4.5. पितृसत्ता और विवाह संस्था
1.4.6. बोध प्रश्न
1.4.7. संदर्भ ग्रंथ सूची

1.4.0. उद्देश्य

इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी निम्नलिखित में सक्षम हो सकेंगे-

- जाति व्यवस्था से परिचित होंगे।
- भारतीय जाति व्यवस्था की विशेताओं एवं कार्य पद्धतियों से परिचित होंगे।
- पितृ सत्ता एवं जाति संबंधों को समझने में सक्षम होंगे।

1.4.2. प्रस्तावना एवं जेंडर

इस शब्द का प्रयोग दो रूपों में होता है। पहले यह एक व्याकरणिक इकाई के रूप में प्रयुक्त होता था, जिसे हिंदी में लिंग कहते हैं। अंग्रेज़ी में हम मैस्कुलीन और फेमिनिन जेंडर के रूप में इसे देखते हैं। परंतु यहाँ जेंडर का संबंध किसी पुरुष अथवा स्त्री की सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान से है। जैविक रूप में किसी का स्त्री या पुरुष होना एक प्राकृतिक घटना है, परंतु इसी के आधार पर जब समाज एक खास तरह का पूर्वग्रह या अवधारणा विकसित कर उसके लिए तमाम तरह के नियम क़ानून लगा देता है और जैविक लिंग के आधार पर कई प्रकार के भेद करने लगता है तो उसे जेंडर से जोड़ा जाता है। कहा जा सकता है कि जैविक पहचान से जुड़े होने के कारण जेंडर सामाजिक भेद की प्राचीनतम और (लगभग शाश्वत जैसी बना दी गई) व्यवस्था है। यह व्यवस्था किसी के स्त्री या पुरूष होने के आधार पर सामाजिक दृष्टि से भिन्न व्यवहार करती है। जेंडर का संबंध एक खास तरह की सोच या विचारधारा से है, जिसमें धार्मिक विश्वास, रीति रिवाज, मूल्य, परंपराएं आदि शामिल होती हैं जो नवजात बच्चे को जन्म से ही इस संरचना के अनुकूल बनाने का काम करती हैं।

इस विचारधारा को स्वाभाविक रूप से सामाजिक व्यवस्था एवं संस्कृति का अंग बना दिया जाता है जो समाज में पीढ़-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती रहती है। यह व्यवस्था जीवन की मूलभूत जरूरतों, जैसे-वस्त्र, भोजन, भाषा आदि को जेंडर के आधार पर तय करते हुए इसे तार्किक जामा पहनाती है और इसे न्यायोचित सिद्ध करती है।

जेंडर समाज की प्राचीनतम स्त्री-पुरुष भेद को निर्धारित करने वाली संस्था है। प्राचीनकाल से आधुनिक औद्योगिक काल तक स्त्रियों के कार्य पुरुषों से अलग निर्धारित किए जाते रहे हैं। स्त्रियों का कार्य गृहस्थी, संतान उत्पत्ति, पुरुष की सेवा तथा घर के काम जैसे-भोजन पकाना, सफाई करना, कपड़े धोना इत्यादि था। स्त्रियाँ घर के सदस्यों की देखभाल करती थीं, कुछ स्थानों पर तो उन्हें अतिथियों की सेवा में भी प्रस्तुत किया जाता था। इसके विपरीत पुरुष घर के बाहर सुरक्षा का दायित्व, भोजन उपलब्ध कराना, व्यापार तथा सत्ता के कार्यों से जुड़ा रहता था। इस तरह लैंगिक विभाजन के आधार पर स्त्री पुरुषों में भेद बनता गई है। स्त्री और पुरुषों में श्रम विभाजन का आधार दो तरह से देखा जा सकता है। कुछ स्थानों पर मनुष्य स्त्री और पुरुष के मध्य जैविक आधार पर तथा अनुवांशिक परंपरा के आधार पर अंतर निर्धारित करते है। जैविक आधार का मतलब संतानोत्पत्ति, उनकी देखभाल तथा घरेलू गतिविधियाँ हैं। यह समाज द्वारा निर्मित नियम हैं। स्त्रीवादियों ने क़ानूनी आधार पर पितृसत्ता और सामाजिक संबंधों को सुनिश्चित कर लागू करने का तर्क दिया। उनके अनुसार क़ानून मनुष्य द्वारा बनाए जाते हैं और वह स्त्रियों पर थोप दिए जाते हैं, उसमें कहीं भी स्त्रियों के अनुभव उनकी इच्छा एवं आवश्यकताओं को देखा नहीं जाता। इस तरह से समाज में पुरुष एकाधिकार की स्थिति पैदा होती है जो लैंगिक भेद को बढ़ावा देती है। परिणामतः समाज में स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार बढ़ जाते हैं। इस लिंग असमानता के विरुद्ध अनेक सामाजिक आंदोलन उठ खड़े हुए। जिनका उद्देश्य स्त्रियों को पुरुषों के समान राजनीतिक, आर्थिक, व सामाजिक क्षेत्रों में अधिकार दिलाना है। लिंग असमानता के अंतर्गत स्त्रीवादी विचारकों ने स्त्रियों पर पाँच तरह के अत्याचारों का उल्लेख किया है।

1) **शोषण -** स्त्रियों द्वारा किए गए कार्य के लाभ को पुरुष द्वारा हड़प लेना। इसके अंतर्गत स्त्रियों का बल पूर्वक शारीरिक शोषण, स्त्री मजदूरों द्वारा बेगारी करवाना, स्त्री की इच्छा के विरूद्ध उसे गर्भ धारणा करवाना, कन्या व बालक संबंधी जन्म को लेकर स्त्री को दोषी ठहराना अर्थात यदि कन्या जन्म लेती है तो जैविक स्थितियों को न समझते हुए कन्या के जन्म के लिए स्त्री को ही दोषी माना जाता है। पुरुष में बालक के प्रति इच्छा का मुख्य कारण आर्थिक है, इसलिए कन्या के प्रति पुरुष का हीन भाव होता है। अतं: वह कन्या को हर परेशानी का उत्तरदायी भी ठहराता है। ऐसे में सामाजिक अधिकार न मिलने से स्त्रियाँ शोषण का शिकार हो जाती है।

2) तटस्थ रखना - पुरुष समाज में किसी भी निर्णय के लिए स्त्रियों के विचारों को महत्व नहीं देता है यहाँ तक की स्त्रियों संबंधी निर्णय भी पुरुष ही लेता है। घरेलू क्रिया-कलापों में पुरुष का निर्णय सर्वोपरि होता है। स्त्री को शिक्षा दी जाए या नहीं, उसको अपना व्यवसाय व कार्य चुनने की इजाज़त दी जाए, व उसकी शादी की जाए तथा घर के बाहर बाज़ार में खरीददारी करने के लिए उसे जाने दिया जाए या नहीं- ये सभी निर्णय पुरुष ही लेते हैं। इसलिए उन्हें तटस्थ रखा जाता है तथा स्त्री के प्रति कोई निर्णय लेने के बाद ही उससे अवगत कराया जाता है

3) व्यवस्था संबंधी कार्यों से वंचित रखना - स्त्रियों को सत्ता राजनीति तथा वोट डालने संबंधी निर्णय के लिए पुरुषों के आदेशों का पालन करना होता है। राजनीतिक हिस्सेदारी में भी वे पुरुषों के इशारे पर ही काम करती हैं। किसी भी तरह की त्रुटी होने पर सारा दोष स्त्रियों पर थोप दिया जाता है। अतः राजनीति में स्त्रियाँ मोहरे के रूप में उपयोग की जाती हैं। स्त्रीवादियों को भ्रमित करने के लिए यह पुरुषवादी सोच की नई नीति है। सत्ता में रहते हुए भी स्त्रियों को सत्ता से वंचित रखा जाए।

4) सांस्कृतिक वर्चस्व - सांस्कृतिक परिवेश में पुरुष शोषण को एक नया आयाम देते हैं, अर्थात स्त्रियाँ पूजयनीय है। कहा भी गई है - जहाँ स्त्री की पूजा होती है वहाँ देवता रहते हैं अर्थात स्त्री पूजा की वस्तु है। उसे सजावट के रूप में घरों में, मंदिरों में, बाज़ार में, कार्यालयों में रखा जाता है। उसे लोक लुभावन आकार दिया जाता है। उसी अनुरूप स्त्री की व्याख्या भी की जाती है। परंपरा में स्त्री के ऐसे क्रिया-कलापों का विश्लेषण किया जाता है जो पुरुषों के अनुकूल हों। वह आशीर्वाद देती है। संतति सुख देती है। पुरुष को संतुष्ट करती है और नृत्य करती हुई मनोरंजन करती है। कहीं भी स्त्री को समाज की विकृतियों एवं पुरुष के अत्याचारों का विरोध करते दिखाया नहीं गई है।

5) हिंसा - स्त्रियों पर हिंसा एक सामान्य बात हो गई है। आधुनिक पुरुषवादी सोच में इसे बहुत महत्त्व भी नहीं दिया जाता। जन्म लेने से पहले और मृत्यु तक वह कहीं-न-कहीं हिंसा का शिकार होती रहती है। भ्रूण हत्या पुरुष के वर्चस्ववादी सोच का परिणाम है। यदि किसी तरह से उसे जीवन मिल गई तो परिवार में उसको वह स्थान नहीं मिलेगा जो बालक को मिलता है। खान-पान, रहन-सहन, शिक्षा, पहनावा सभी में उसके साथ दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था यह निर्धारित करती है कि लड़की वंश परंपरा की आगे ले जाने वाली नहीं है। इसके लिए बालक का होना ज़रूरी है। लड़की को शिक्षा देना उसके चाल-चलन को बिगाड़ना है। इसलिए यथाशीघ्र उसका विवाह कर देना ज़रूरी है। विवाह के पश्चात जनन-क्रिया, घर-गृहस्थी, बच्चों का पालन-पोषण, पति की सेवा, के अतिरिक्त उसकी अन्य भूमिका समाज में बाधित कर दी जाती है। इस तरह से लैंगिक भेद के आधार पर स्त्रियाँ जीवन भर हिंसा का शिकार होती रहती है।

स्त्रियों के विचार, उनके अनुभव, उनकी आवश्यकताएँ, कोई महत्त्व नहीं रखती हैं। 'मेरियन यंग' के अनुसार-''स्त्रियों को नीति निर्णय में महत्त्वपूर्ण भूमिका मिलनी चाहिए। शोषित और पीड़ित स्त्रियों के अनुभव सार्वजनिक किए जाने चाहिए, जिससे कि अन्य स्त्रियां किसी भी अत्याचार के प्रति सचेत रहें। 'मेरियन यंग' ने

स्त्रियों के स्वगठित समूह की संरचना पर बल दिया। वे इस संगठन के तीन कत्र्तव्य बताती हैं। 1) अपने अधिकारों के लिए सामूहिक संघर्ष तथा अनुभवों को सार्वजनिक कर स्त्रियों में चेतना जागृत करना। 2) संगठन, नीति और सुझावों संबंधी निर्णय स्वयं लेना तथा उन्हें लागू करने के लिए दबाव बनाना। 3) पारिवारिक संपत्ति में हिस्सेदारी तथा प्रजनन संबंधी अधिकारों को स्त्रियों के लिए सुनिश्चित करना, जिससे वे अपना निर्णय स्वयं लें तथा संपत्ति में हिस्सेदारी की माँग कर सकें।

1.4.2. लिंग भेद और पितृसत्ता

पितृसत्ता और लिंग भेद के बीच प्राचीनकाल से ही एक समानता दिखाई देती है। पितृसत्ता में लैंगिकता के आधार पर स्त्री और पुरुष के बीच जो मानदंड बनाए गए हैं वे सभी समाजों में एक जैसे हैं। लैंगिक असमानता पर पितृसत्ता के प्रभाव सब जगह देखे जाते हैं। स्त्रीवादियों ने इसे कई तरह से व्याख्यायित किया है, जिनकी आगे क्रमशः चर्चा की जाएगी-

1) जातिगत पेशा तथा लैंगिक असमानता- प्रत्येक जाति में स्त्रियों के लिए कार्य निर्धारित हैं। वे अपने परंपरागत कार्य को छोड़कर जीविकोपार्जन के लिए अन्य किसी कार्य या व्यवसाय को नहीं अपना सकती हैं। स्त्रियाँ वही कार्य या व्यवसाय अपने लिए निश्चित कर सकती हैं जो उनकी जाति के लिए निर्धारित किए गए हैं। इस स्थिति में स्त्रियों की हालत दयनीय हो जाती है। व्यवसाय की रूपरेखा, उसका ढाँचा तैयार करना, कार्य का समय सुनिश्चित करना तथा समय पर कार्य की पूर्ति इत्यादि का बोझ स्त्रियों पर आ जाता है। अनिच्छा के बावज़ूद वे अपने कार्य में संलग्न रहती हैं। कर्मकर जातियों, जैसे- कुम्हार, लोहार, बढ़ई, बुनकर, धोबी आदि के कार्य मौसम आधारित होते हैं। समय पर कार्य की आपूर्ति न होने पर उनके उत्पाद का उचित मूल्य नहीं मिल पाता है। पुरुष अपनी सारी ज़िम्मेदारियाँ घर के बाहर निभाता है, परंतु उत्पादन संबंधी कार्य का बोझ स्त्रियों पर आ जाता है। इसलिए स्त्रियों को शिक्षा से वंचित कर पारंपरिक पेशे में लगा दिया जाता है, ताकि उनमें जातिगत पेशे संबंधी कार्य कुशलता बनी रहे। उनके विवाह में भी यह बंधन रहता है कि वह अपने पेशे से जुड़ी हुई जाति या उपजाति में ही ब्याही जाए। इस तरह जातीयता के आधार पर निर्धारित व्यवसाय लैंगिक असमानता को बढ़ावा देता है।

2) सांस्कृतिक मान्यताएँ - भारत में सभी जातियों के अपने-अपने रीति-रिवाज और त्यौहार हैं। उनको मनाने के तरीके, विवाह संबंधी नियम भी अलग-अलग हैं। इसका सीधा प्रभाव लैंगिक संबंधों पर पड़ता है। खाना बनाने का तरीका, उसको परोसने और खाने का तरीका आदि अनेक व्यवहार स्त्रियों की कार्य कुशलता एवं सामाजिक स्थिति को दर्शाते हैं। यह उसे जाति विशेष से चिह्नित भी करते हैं। स्त्रियां अपने सांस्कृतिक परिवेश में इस तरह बंधी होती हैं कि उनके कार्य का विवरण संस्कृति संबंधी क्रियाकलापों से जुड़ा होता है, यद्यपि पुरुष इस तरह की स्थितियों से पूर्णतः स्वतंत्र होते हैं। स्त्रियों पर संस्कृति के संरक्षण का दायित्व होता है। वे घर में पीढ़ी-दर-पीढ़ी पेशे के संरक्षण का कार्य करती हैं। उन पर यह ज़िम्मेदारी होती है कि जातीय संस्कारों

का क्षरण न होने पाए। वयस्क पुरुष स्त्रियों को पारंपरिक पेशे के प्रति सचेत करता रहता है और स्त्रियाँ जी जान से उसके संरक्षण में लगी रहती हैं। यहाँ उन्हें पारंपरिक पेशे से इतर स्वतंत्र पेशा चुनने की इजाज़त नहीं होती है। यद्यपि उन्हें पितृसत्ता संस्कृति के संरक्षण के प्रति प्रोत्साहित करती रहती है। कार्य से होने वाली आमदनी में पुरुष पूरी हिस्सेदारी करता है और स्त्रियाँ शोषण का शिकार हो अभाव की ज़िंदगी जीने पर मजबूर होती हैं।

3) गृहस्थ संरचना और लैंगिक संबंध- भारत में लैंगिक संबंध का जातीयता से गहरा जुड़ाव है। उच्च जातियों की स्त्रियों में स्वच्छता एवं पवित्रता का भाव बोध होता है। यद्यपि निम्न जाति की स्त्री को अपवित्र माना जाता है। स्त्रियों को उनके रंग के आधार पर स्वच्छ एवं आकर्षक माना जाता है। विधवा स्त्री की स्थिति तो और भी दयनीय होती है। किसी भी जाति की विधवा को अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक अधिकारों से वंचित रहना पड़ता है, जबकि पुरुषों के लिए इस तरह के नियम नहीं हैं। विवाह में स्त्रियों के रंग, उनकी शारीरिक बनावट, आकर्षण आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है। यह धारणा है कि सुंदर स्त्री से सुंदर बालक पैदा होगा - जो श्रेष्ठ, सुयोग्य व सुंदर पुरुषों की वंश परंपरा को आगे बढ़ाएगा। यद्यपि पुरुषों में इस तरह का भेदभाव नहीं रखा गई है। वहाँ आर्थिक हैसियत को ही विशेष महत्त्व दिया गई है। उच्च जाति और निम्न जाति के स्त्री पुरुषों के बीच मेल-मिलाप को अपराध माना गई है। स्त्रियों के लिए नियम कठोर बनाए गए हैं, जिसका पालन न करने पर उन्हें दंड का भागीदार होना पड़ता है।

4) लैंगिकता और संस्कृति के अंत:संबंध - स्त्री और पुरुष के बीच जैविक भिन्नताओं के कारण उनके क्रिया-कलाप बचपन से ही भिन्न-भिन्न दिखाई देने लगते हैं और यह भिन्नता उनके लैंगिक निर्धारण का कारण बनती है। समाज में स्त्री और पुरुष की भूमिकाएँ भी इसी लैंगिक भिन्नता के आधार पर बनी हुई हैं। यह भूमिका पुरुष में पुरुषत्व और स्त्री में स्त्रीत्व के गुणों को निर्धारित करती है। यहाँ पितृसत्तात्मक मानसिकता काम करती है। स्त्रीवादी चिंतक इस वर्चस्व की भावना को पुरुष के एकाधिकार से जोड़कर देखती हैं। स्त्रीवादी चिंतक 'एनन ऑकले' ने लैंगिक भेद को संस्कृति से जोड़कर देखा है। उनके अनुसार- ''विभिन्न संस्कृतियों में 'ज्ञान, आस्था, विश्वास, कला, आचरण और रीति-रिवाज के व्यावहारिक प्रयोग स्त्रियों और पुरुषों में अलग-अलग होते हैं। चूँकि संस्कृति का संबंध परंपरा में प्रचलित रीतियों को सीखने से जुड़ा हुआ है और बच्चे इन्हें सीखते हुए अपने समाज का विकास करते हैं। उनके सीखने की प्रक्रिया उनके लैंगिक भेद के कारण अलग-अलग तरीके से होती है। यह उनके व्यवहार, हाव-भाव में दिखाई देती है।'' इस तरह 'ऑकले' जेंडर को संस्कृति के साथ जोड़कर देखती हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति जेंडर के विशिष्ट लक्षणों का निर्माण करती है। जैसे - बालक में पुरुषत्व, क्रोध, आक्रोश, वर्चस्व की भावना का विकसित होना तथा लड़की में शर्मीलापन, अकेलापन, दूरी बनाकर रहना, खेल और पहनावे में स्त्रियोचित गुणों को प्रदर्शित करना इत्यादि। इस तरह बचपन से ही लैंगिक भेद निर्धारित कर दिए जाते हैं।

4) धर्म - स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों पर नियंत्रण धर्म द्वारा होता है। हिंदू धर्म-शास्त्र पितृसत्तात्मक स्थितियों को दर्शाते हैं। मनुस्मृति में पति-पत्नी के संबंधों को भूमि और बीज के रूप में व्याख्यायित किया गई है। अर्थात संपति का विकास समाज की उर्वरा भूमि पर ही संभव है। मनु ने स्त्रियों को उपनयन संस्कार में शामिल होने पर प्रतिबंध लगाया है। उन्होंने उपनयन संस्कार को ज्ञान प्राप्ति का प्रारंभिक बिंदू कहा है। स्त्रियाँ ज्ञान प्राप्ति से विद्रोह कर सकती हैं तथा पुरुष के समकक्ष अधिकारों की माँग कर सकती हैं। इसलिए उन्हें वे ज्ञान दिए जाएँ जो पितृसत्ता द्वारा निर्धारित हों। अतः स्त्रियों को विवाह संस्था में ही शामिल होने का अधिकार दिया गई और कहा गई है कि - ''यह उपनयन संस्कार के समकक्ष है।'' इस तरह से घरेलू काम को लिंग भेद के आधार पर मनु ने स्त्रियों के लिए अलग कर दिया। पुरुष-प्रधान समाज में धर्म ने स्त्री का दर्जा पुरुष से नीचे रखा और कहा कि स्त्री पुरुष के लिंग भेद जैविक और सांस्कृतिक दोनों हैं। यद्यपि स्त्रीवादी चिंतकों ने श्रम के आधार पर लिंग भेद की स्थितियों को समाज में देखा। उनके अनुसार - ''संतान जनने के अतिरिक्त वे सभी कार्य पुरुष कर सकते हैं जो स्त्रियाँ करती हैं। लेकिन इन कार्यों को स्त्रियों का काम कहकर लैंगिक आधार पर श्रम विभाजन कर दिया गई।'' संतानोत्पत्ति के कार्य में स्त्रियों की योग्यता के कारण पुरुष ने स्त्रियों को नियंत्रित करने के लिए सामाजिक, राजनीतिक स्तर पर नैतिक नियमों का सहारा लेना शुरू किया। यद्यपि धर्म ग्रंथ स्त्रियों और पुरुषों के लिंग भेद में पितृसत्तात्मक मानसिकता का एक तरफा प्रदर्शन करते दिखाई देते हैं। पौराणिक अख्यानों में स्त्रियों को सहनशील, सुकुमार, सेवाभाव से ओत-प्रोत एवं समर्पण की भावना में दिखाया गई है। स्त्रीवादियों ने सीता का उदाहरण दिया। 'वन गमन में सीता राम के साथ सभी तरह की समस्याएँ सहती है।

लंका विजय के बाद अपनी पवित्रता की प्रामाणिकता के लिए अग्नि परीक्षा देती हैं। उलाहना देकर निकाल दिए जाने पर जंगल में चली जाती हैं। इसी तरह से महाभारत में द्रौपदी पाँच पुरुषों को उपहार में दे दी जाती है। वह पुरुषों की गलती की सजा स्वयं भुगतती है। उसको संपत्ति की तरह प्रयोग किया जाता है और जुए में दाँव पर लगा दिया जाता है। अर्थात स्त्री का वज़ूद वस्तु के अतिरिक्त कुछ नहीं है। स्त्रियां पुरुषों द्वारा जीत ली जाती थी और उपहार में सगे संबंधियों को सौंप दी जाती थीं। महाभारत में अंबा, अंबिका और अंबालिका का प्रसंग इसी तथ्य को दर्शाता है। स्त्रियाँ पुरुषों की प्राप्ति के लिए तपस्या करती थीं और पुरुष उनका अपहरण करते थे। पौराणिक अख्यान में पुरुषों की वर्चस्ववादी मानसिकता और एकाधिकार की भावना ने लिंग भेद की स्थिति पैदा की। पुरुष नियम स्वयं बनाते थे और उसे स्त्रियों पर थोप देते थे। श्वेतकेतु और उद्दालक का ऋग्वेद में आख्यान महत्त्वपूर्ण है। ये दोनों वैदिक ऋषि हैं। प्रसंग में एक व्यक्ति श्वेतकेतु की माता का पीछा करता हुआ, उसकी कुटिया में घुस गई और उसके साथ बलात् संबंध बनाकर चला गई, अपनी माँ की चित्कार को सुनकर श्वेतकेतु ने कुटिया के द्वार पर बैठे पिता उद्दालक से कहा - 'आप की पत्नी के साथ बलात संबंध बनाया गई और आप कुछ नहीं बोले।' तब उद्दालक ने कहा - ''एषः धर्म सनातनः''। तत्पश्चात् श्वेतकेतु ने विवाह संस्था का नियम बनाया। रामायण में गौतम ऋषि और अहिल्या का उपाख्यान

आता है। अहिल्या को पाषाण होने का श्राप दे दिया गई, जबकि इंद्र द्वारा बलात् अनुचित संबंध बनाने पर इंद्र को कहीं भी दंडित नहीं किया गई। दंड की भागीदार अहिल्या बनी। इस तरह के लैंगिक भेद दर्शाने वाले आख्यान सभी धर्म ग्रंथों में पाए जाते हैं। आदम और हौआ के प्रसंग में हौआ को ही शांति भंग का दोषी बताया गई। यह सिर्फ इसलिए था की स्त्रियाँ शारीरिक स्तर पर पुरुषों से कमज़ोर होती थीं और असुरक्षा के कारण पुरुषों पर निर्भर रहती थीं। जैविक भेद के कारण उन्हें पवित्रता की परीक्षा देने के लिए हमेशा तैयार रहना पड़ता था।

5) समाजीकरण- समाजीकरण की प्रक्रिया में मनुष्य अपने समाज की संस्कृति, आचार-विचार और व्यवहार सीखने की कोशिश करता है। ग्रीन के अनुसार - ‘‘बालक द्वारा सांस्कृतिक विशेषताएँ अपनाना, व्यक्तित्व का विकास एक विशिष्ट समाज में करना समाजीकरण है।’’ ‘निमकॉफ’ ने व्यक्ति के चाल-चलन और व्यवहार सीखने की क्रिया को समाजीकरण कहा है। मनुष्य में लिंग भेद का प्रारंभिक ज्ञान समाजीकरण की प्रक्रिया में ही होता है। परिवार समाज की प्राथमिक इकाई है। ‘काम्टे’ ने तो परिवार को ‘सामाजिक जीवन की प्रथम पाठशाला’ कहा है। यह सत्य है कि बालक परिवार में ही प्रेम, सहयोग, भाषा, व्यवहार, रहन-सहन और पहनावे का ज्ञान प्राप्त करता है और यहीं से उसमें लैंगिक भेद की स्थिति उत्पन्न होती जाती है। बचपन से ही उसके सीखने की क्रिया लैंगिकता की पहचान दर्शाती है। ‘ग्लीटमैन रेजबर्ग’ ने एक प्रयोग के द्वारा इस क्रिया को समझाने की कोशिश की है। उन्होंने एक शिशु को, बिना जेंडर बताए उसे दो परिवारों को अलग-अलग समय पर सौंपा। एक परिवार ने उसे लड़का शिशु समझकर झुनझुना और डुगडुगी दिया। दूसरे परिवार ने उसे लड़की समझकर गुड़िया पकड़ा दिया। यही नहीं उस शिशु के साथ बर्ताव भी अलग-अलग तरह से किया गई। जिन्होंने उसे लड़का समझा वे उसे गोंद में उछाल-उछाल कर खेलते रहे और जिन्होंने उसे लड़की समझा वे उसे हल्के और आराम से पुचकारते और सहलाते रहे। इससे जाहिर है कि परिवार में व्यवहार द्वारा लैंगिक प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिलता है। आगे चलकर यही जैविक पुरुष और जैविक स्त्री में तब्दील हो जाते हैं।

‘रुथ हर्टले’ नामक समाजशास्त्री ने समाजीकरण को चार प्रक्रिया से गुजरने की स्थिति में समझाया है-

1) प्रभावित करते हुए

2) किसी एक भावधारा में समाहित होकर

3) प्रदर्शन के द्वारा

4) वाचिक आकर्षण पैदा करके।

पहली स्थिति में बच्चों की देखभाल की प्रक्रिया होती है लड़के की शारीरिक क्षमता बढ़ाई जाती है। लड़की में स्त्रियोचित गुणों और खूबसूरती को बढ़ावा दिया जाता है। दूसरे चरण में लड़के का दृष्टिकोण शक्ति प्रदर्शन और लड़की का दृष्टिकोण सौंदर्य प्रदर्शन की ओर बढ़ाया जाता है। तीसरे चरण में बालक अपनी लैंगिक पहचान निर्धारित करने लगता है। वह सचेत होकर अपने लैंगिक गुणों को प्रदर्शित करता है और

लड़की स्त्रियोचित भावों को प्रदर्शित करती है। चैथी स्थिति में लड़का पिता के व्यवसाय अपने लिए कारोबार एवं नौकरी में संलग्न हो जाता है। लड़की माँ के साथ घर के कार्य में जुट जाती है और भावी जीवन के प्रति स्त्रियोचित चिंतन करती है, जिसमें पत्नी और माँ की भूमिका होती है। इस तरह समाज में स्त्री-पुरुष के बीच जैविक भिन्नता आकार लेती चली जाती है।

6) मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण- फ्रायड ने जेंडर संबंधी प्रक्रिया को मनोविश्लेषणात्मक ढंग से समझाने का प्रयास किया है। उसके अनुसार जन्म से ही शिशु का आकर्षण विपरीत लिंग के प्रति होता है। माँ नैसर्गिक रूप से लड़के को प्यार करती है और बालक भी पिता की अपेक्षा माँ के करीब रहता है, जबकि लड़की का आकर्षण अपने पिता के प्रति होता है। इस भावनात्मक लगाव को फ्रायड ने प्रकृति प्रदत्त बताया है। वह जैविक स्थितियों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि- 'मनुष्य में हमेशा विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण होता है। यह उसकी शारीरिक बनावट और प्रकृति प्रदत्त कामेच्छाओं के कारण संभव होता है। इसलिए लैंगिक भेंद एक मनोविश्लेषणात्मक प्रक्रिया है जो नैसर्गिक रूप से लड़के और लड़की में विकसित होती चली जाती है। इसे रोका नहीं जा सकता और इस तरह से लैंगिक भेद स्त्री-पुरुषों में एक दूसरे के विपरीत गुणों को विकसित करते चले जाते हैं।

7) परिवार एवं जेंडर- स्त्रियों का शोषण सर्वप्रथम परिवार से ही शुरू होता है। किसी समय स्त्री को घर की लक्ष्मी कहने का विचार समय के साथ साथ बदलता गई और कन्या का जन्म दुःस्वप्न की तरह कई समस्याओं को दर्शाता दिखाई देने लगता है। विशेषकर सुरक्षा का भावबोध, शिक्षा की समस्या, विवाह एवं दहेज की समस्या इत्यादि। इसीलिए लड़की का जन्म हेय दृष्टि से देखा जाने लगा है। इसे पराया धन कह कर उपेक्षा की जाने लगी है। कन्या भ्रूण हत्या का प्रचलन समाज की इन्हीं समस्याओं को लेकर विकसित हुआ है। इसके विपरीत पुत्र को वंश परंपरा चलाने वाला पूर्वजों को वैतरणी पार कराने वाला तथा परिवार का बोझ उठाने वाले के रूप में समझा गई। धर्म ग्रंथों में उल्लिखित किया गई कि 'पुत्र ही वंश का उद्धारक है'। यही कारण है कि लड़कियों को भारतीय समाज में लड़कों की तुलना में कम महत्त्व दिया जाता है। इनके लालन पालन में भी लड़कों की तुलना में कम खर्च किया जाता है। लड़कों को जितनी सुख सुविधाएँ पौष्टिक आहार प्रदान किए जाते हैं, लड़कियों को उतना नहीं। शिक्षा में भी लड़की को बालिग होने तक पढ़ाया जाता है, उसके बाद उसकी शादी कर दी जाती है। समाज में एक तरह से लड़कियों को कई जीवन जीना पड़ता है-

1) पिता के घर में शादी होने से पहले

2) पति के घर में शादी होने के बाद

3) बच्चों की शिक्षा दीक्षा और घर गृहस्थी में सम्मिलित होने पर

4) उसके जीवन का अंतिम पड़ाव वृद्धावस्था होती है। जहाँ उसे मृत्यु तक अपनों द्वारा उपेक्षित होकर जीवन जीना पड़ता है।

पितृसत्तात्मक समाज में अनेक संस्थाओं की घेरा बंदी है। स्त्री किसी-न-किसी रूप में इस घेरे में प्रताड़ित होती रहती है। बेटी, बहू, सास सभी अवस्थाओं में उसे पुरुष के एकाधिकार में ही अपनी भूमिका निभानी होती है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री किसी भी कार्य के लिए तब तक अयोग्य समझी जाती है जब तक कि वह पुरुष के निर्देश में कार्य न करे। समुचित शिक्षा न मिलने से उसे रोज़गार की उपलब्ध्ता नहीं हो पाती है। परिणामतः वे स्वावलंबी जीवन जीने से वंचित रह जाती हैं। घर के अंदर बंद रहने से उसकी दुनियाँ अपने घर और परिवार तक ही सिमट कर रह जाती है।

8) ऐतिहासिक अवधारणा और जेंडर - इतिहास स्त्रियों की स्थितियों को लेकर अधिक सचेत नहीं रहा है। एक तरह से इतिहास स्त्रियों संबंधी ऐतिहासिक घटनाओं पर मौन रहा है। 'सीमन द बोउवार' ने बताया है कि किस तरह से नीग्रो और अफ्रीकी देशों के जनजातियों की तरह स्त्रियों को भी उपेक्षित कर दिया गई है। इतिहास में स्त्रियों को माँ, पत्नी, बहन, बेटी के अतिरिक्त किसी और नज़रिए से नहीं पहचाना गई है। उसके प्रति दोयम दर्जे की मानसिकता रखी गई है। स्त्रियों की ऐतिहासिक उपेक्षा को मार्क्सवादी स्त्रीवादी चिंतकों ने बेहतर ढंग से समझाने का प्रयास किया है। उन्होंने स्त्री को इतिहास में दास की स्थिति में देखा है। एंगेल्स ने लिखा है कि ''प्रारंभिक समाज में स्त्रियां घरों के भीतर उत्पादन के साधनों में लगी रहती थीं और पुरुष घर के बाहर श्रम के कार्यों में अवैजारों तथा अन्य उपकरणों का प्रयोग करते थे। घर के बाहर उत्पादन से अधिक संपत्ति अर्जित करने के कारण पुरुष अतिरिक्त पूँजी हस्तगत करने लगे। जो स्त्रियों की आमदनी की तुलना में कहीं अधिक थी। पुरुषों की आर्थिक स्थिति मज़बूत होने से मातृ प्रधान समाज पितृसत्तात्मक व्यवस्था में रूपांतरित हो गई। ऐतिहासिक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गई कि जब तक स्त्रियां घर के बाहर निकलकर उत्पादन के साधनों में समान भागीदारी नहीं करतीं, तब तक उनकी मुक्ति संभव नहीं है। इसलिए स्त्रियों को अपनी आर्थिक स्थिति मज़बूत करने के लिए घर की चार दीवारी से बाहर निकालना। ज़रूरी है। इतिहास ने स्त्रियों को घर से बाहर की स्थितियों से कभी भी अवगत नहीं कराया। इतिहास ने गृहस्थ जीवन में भी झाँकने का प्रयास नहीं किया। अतः स्त्रियों संबंधी व्याख्याएँ इतिहास में कहीं दिखाई नहीं देती हैं।

स्त्रीवादी चिंतकों ने पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों के प्रति उपेक्षा के भाव को कई तरह से व्याख्यायित किया है। 'एलीसन जैगर' का मानना है कि 'लिंग' भेद तथा जातीयता का पितृसत्तात्मक समाज से अविभाज्य संबंध है। समकालीन पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को तभी तक सम्मान दिया जाता है जब तक कि वह मातृत्व के धर्म को पूरा करने के लिए गर्भधरण नहीं कर लेती। इस कार्य में जो स्त्रियां अक्षम होती हैं, वे दया की पात्र बन जाती हैं और जो स्त्रियां संतान पैदा नहीं करना चाहती उन्हें अपरिपक्व, स्वार्थी अस्त्रियोचित की संज्ञा दी जाती है। मातृत्व को जिस तरह से पितृसत्ता के अंतर्गत स्थापित किया गई है, वहीं से स्त्री का उत्पीड़न भी शुरू हुआ है। जेंडर के इतिहास में पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व के सामाजिक प्रारूपों को कई आयाम देने का प्रयास किया गई है। इतिहास के पन्नों से स्त्रियों की भूमिका गायब कर देने जैसी हरकतों ने पुरुष प्रधान समाज के वर्चस्ववादी दृष्टिकोण को दर्शाया है। इतिहास संस्कृति का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है और संस्कृतियों के

निर्माण में स्त्री की भागीदारी पुरुष के समान ही रही है। इसके बावज़ूद स्त्री को इतिहास के पन्नों में कोई स्थान नहीं दिया गई है। धार्मिक आस्थाएँ, परंपराएँ लैंगिक विचारधारा को प्रभावित करती रही हैं। इतिहास में किसी भी आंदोलन को प्रारंभ करने में स्त्रियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। पर्यावरण से संबंधित आंदोलन हो या शिक्षा से संबंधित आंदोलन हो अथवा श्रम के उचित मूल्य को लेकर किए गए आंदोलन हों सभी जगह की भूमिका प्रथम रही है। इसके बावज़ूद उनके कर्तव्यों की उपेक्षा कर इतिहास पुरुषवादी मानसिकता को ही दर्शाता रहा है।

1.4.3. पितृसत्ता एक विश्लेषण

संपूर्ण विश्व में स्त्रीवादी आंदोलन ने एक नई सोच विकसित की जो आधुनिक दुनिया में स्त्री के अस्तित्व को लेकर तथा विकास में उसकी भूमिका को लेकर विचार विमर्श कर रही है। इस संदर्भ में 'सिल्विया वेबली' नामक स्त्रीवादी चिंतक ने 'थ्योराइजिंग पैट्रीआरकी' नामक ग्रंथ के अंतर्गत व्याख्या करते हुए सामाजिक संरचना और व्यवहार के ऊपर 'पितृसत्ता' की व्याख्या की है। उनके अनुसार पितृसत्ता के जरिए की समस्याओं को एक खास समूह के अंतर्गत पहचाना जाने लगा है। इसे सामाजिक संरचना और क्रियाओं की एक ऐसी व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसमें पुरुषों का पर वर्चस्व रहता है तथा वे उनका शोषण और उत्पीड़न करते हैं। पितृसत्ता के ढाँचे को देखना और समझना इसलिए भी आवश्यक है कि और पुरुष के बीच शक्ति असंतुलन के लिए वैज्ञानिकों ने जैविक कारण माने हैं। लेकिन अब यह धारणा भी निरर्थक साबित हो रही है। पुरुष की पहचान सिर्फ लिंग भेद के कारण ही नहीं है। यह अन्य कारणों से भी अलग-अलग होती है लिंग भेद की स्थिति पितृसत्ता के ढाँचे का एक हिस्सा है। 'गर्डालर्नर' नामक स्त्रीवादी चिंतक के अनुसार- ''परिवार में स्त्रियों तथा बच्चों पर पुरुषों के वर्चस्व की अभिव्यक्ति पुरुषों के सामाजिक एकाधिकार का द्योतक है इसका अभिप्राय है कि समाज की सभी महत्त्वपूर्ण संस्थाओं पर पुरुषों का नियंत्रण है और स्त्रियों की पहुँच वहाँ तक नहीं है। यद्यपि स्त्रियां सामाजिक विकास की प्रक्रिया में पुरुषों से कमतर नहीं हैं। वे उन सभी साधनों का उपयोग सहजता से करती हैं, जिन्हें पुरुषों द्वारा प्रयोग में लाया जाता है। फिर पितृसत्तात्मक ढाँचे में कैसे पुरुषों को स्त्रियों से अधिक श्रेष्ठ बताया जाता है तथा स्त्रियों को पुरुषों की संपत्ति के रूप में देखा जाता है?

पितृसत्तात्मक ढाँचे का विकास एक निश्चित समय में नहीं हुआ है। इतिहास में यदि हम देखें तो पुरुषों की विजय ने समाज पर एकाधिकार का जो दावा किया, वही कालांतर में पितृसत्ता का रूप बनता चला गई। लेकिन यह अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग स्थितियों में भिन्न तरीकों से हुआ है। जैसे- शहरी क्षेत्रों में पितृसत्ता का ढाँचा दूसरे तरह का था और आदिवासी क्षेत्रों में पितृसत्तात्मक व्यवस्था सबसे अलग थी। स्त्रीवादी लेखिका 'उमा चक्रवर्ती' के अनुसार पितृसत्ता वर्ग, जाति, राज्य तथा विचारधारा के बीच का संबंध स्थान, स्थितियों और भौगोलिक कारणों से भिन्न-भिन्न रहा है। इसलिए इतिहास में पितृसत्ता संबंधी उल्लेख

तो मिलते हैं पर स्त्रियों के संदर्भ में इतिहास मौन रहता है। समाज में की स्थिति पुरुष के एकाधिकार में अस्तित्वहीन बना दी गई है। संतान उत्पत्ति के अतिरिक्त कहीं भी उसका वज़ूद नहीं है। पुरुषों ने संतान के नाम के साथ पिता का नाम तो जोड़ा पर स्त्रियों का नाम कहीं भी नहीं जोड़ा है। यहाँ तक कि परिवार व पति के साथ भी नहीं। 'मेगा हम्म' नामक स्त्रीवादी चिंतक ने पितृसत्ता के संदर्भ में लिखा है कि - यह एक पुरुषतंत्र है जो को सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक संस्थाओं के द्वारा गुलाम बनाकर रखता है। वे आगे लिखती हैं कि पिता सत्ता को नियंत्रित करता है। जबकि पिता तथा पति परिवार में पत्नी और बच्चों को नियंत्रण में रखते हैं। अतः पितृसत्ता का अर्थ समाज में पुरुष शक्ति के वर्चस्व से है। 'उमा चक्रवर्ती' कहती हैं कि- ''पितृसत्ता व्यवस्था में जीवन के जिन पहलुओं पर पुरुष का नियंत्रण रहता है, वह सिर्फ उसकी प्रजनन क्रिया ही है। पितृसत्तात्मक सोच के अंतर्गत स्त्रियों को वस्तु के रूप में देखा जाता है।''

पितृसत्ता का जन्म कैसे हुआ? किस तरह से यह विकसित होकर लैंगिक भेद का रूप लेती गई? कैसे यहाँ स्त्रियों को जाति के रूप में देखने की प्रवृत्ति बनी? यह विचारणीय विषय है। प्रमुख स्त्रीवादी चिंतक 'एन्ड्रू विन्सेट' ने इसका प्रमुख कारण इतिहास लेखन में पुरुषवादी मानसिकता का होना बताया है। इतिहास में स्त्रियों को धार्मिक नियमों की किले बंदी में दबाकर रखा गई और उनकी पहचान को उपेक्षित किया गई। इतिहास स्वयं पितृसत्तात्मक ढाँचे का एक हिस्सा है। इसलिए संभवत: वह की स्थिति के प्रति उदासीन रहा है। सभी स्त्रीवादी चिंतक इस बात से एकमत हैं कि स्त्रियों के दमन और शोषण का कारण पितृसत्ता का ढाँचा है। वे इसे पुरुषों द्वारा समाज में स्त्रियों के लिए बनाई गई क़ानून व्यवस्था, रीतियाँ, शिक्षा, धर्म के रूप में देखती हैं। पितृसत्ता को वे स्त्रियों को नियंत्रित करने एवं उन पर शासन करने की व्यवस्था बताती हैं। इस रूप में उनका दृष्टिकोण कई बार आंदोलनों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। सभी स्त्रीवादी चिंतक स्त्रियों के स्वतंत्रता, समानता की पक्षघर हैं तथा पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों के प्रति विकृत नज़रिए का विरोध करती हैं।

उदारवादी स्त्रीवादियों ने स्त्रियों को समानता का अधिकार दिलाने के लिए क़ानूनी सुधारों की बात की। स्त्रियों की शिक्षा, प्रशिक्षण तथा जीविकोपार्जन के लिए पुरुषों के समान अधिकार की वकालत की है। स्त्रियों को रोज़गार के अवसर उपलब्ध कराने तथा उन्हें स्वावलंबी बनाने के लिए व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन को ज़रूरी समझा। इसके विपरीत समाजवादी स्त्रीवादी चिंतकों ने स्त्रियों को संपत्ति में हक दिलाने, उनके यौन उत्पीड़न पर कठोर सजा का प्रावधान रखने के लिए सत्ता पर दबाव बनाया। स्त्रियों को विवाह संस्था के माध्यम से गुलाम बनाकर रखने की प्रवृत्ति को बलात्कार की संज्ञा दी। स्त्रियों को मुक्ति दिलाने के लिए राजनैतिक लड़ाई लड़ने का प्रस्ताव दिया। समाजवादी स्त्रीवादियों ने परंपरागत मान्यताओं का खंडन किया तथा उसके महिमा-मंडन की प्रवृत्ति को पितृसत्तात्मक ढाँचे का हथियार बताया। सन 1960 के लगभग स्त्रियों ने पुरुषों से अलग दिखने का निर्णय लिया। पूरे विश्व में स्त्रियों ने विवाह संस्था का विरोध किया।

'सुलास्मिथ पफायर स्टोन' ने 'द डायलेक्टिक्स ऑफ सेक्स' में इसका जिक्र करते हुए कहा कि ''स्त्रियों को समाज में सेक्स सिंबल के रूप में देखा जाता रहा है।'' वे कहती हैं कि ''स्त्री पैदा नहीं होती है,

बल्कि उसको पितृसत्ता द्वारा निर्मित किया जाता है। पुरुषों को प्रकाशमय, सकारात्मक प्रभुत्वशाली, वस्तुनिष्ठ, मज़बूत दिखाया जाता है। वहीं स्त्रियों को अंधकारमय, भावुक, रहस्यमय गैर-ज़िम्मेदार, झगड़ालू और दुष्ट दिखाया जाता है। जबकि पुरुषों के अकर्मण्यता, दिखावा, आत्मकल्याण जैसे स्वभावों को नहीं दिखाया जाता है।

पितृसत्ता का ढाँचा इतना दृढ़ और गहराई तक अपनी जड़े जमा चुका है कि बिना संघर्ष और आमूलचूल, फेर बदल के इसको समाप्त कर पाना असंभव है। यहाँ हम पितृसत्ता के संबंध में विभिन्न विचारधाराओं से संबंधित स्त्रीवादी चिंतकों के विचार जानने की कोशिश करेंगे-

1) उदारवादी स्त्रीवादी - 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में इस तरह के चिंतन की परंपरा का उन्नयन हुआ। जेंडर पर आधारित भेद, परिवार तथा समाज में स्त्रियों की दोयम दर्जे की स्थिति को तर्क संगत ठहराने वाली धारणाएँ स्त्रीवाद की देन थीं। यह विचारधारा स्त्रियों की समानता, क़ानूनी सुधार की माँग, समाज में विकास के समान अवसर की माँग, आदि से जुड़ी हुई थी। 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में पश्चिमी जगत में विज्ञान की प्रगति के साथ, नए-नए बदलाव होने लगे थे। इस काल में सामाजिक आर्थिक स्थितियों ने विस्थापन को भी जन्म दिया। अमेरिका और फ्रांस में औद्योगीकरण तथा शहरीकरण के कारण नई संरचना जन्म लेने लगी थी। तब पुरुषों के समान श्रम करने के बावज़ूद स्त्रियों को समान वेतन और सम्मान का दर्जा नहीं मिलता था। आजादी, समानता और न्याय संबंधी विचार पुरुषों तक ही सीमित थे। इसका स्त्रियों के उत्थान से कोई लेना देना नहीं था। उस समय 'जॉन स्टुअर्ट मिल' और 'जेरेमी बेंथम' जैसे उदारवादी चिंतकों ने स्त्रियों के अधिकारों के लिए आवाज उठाई। उन्होंने कहा कि मानव जाति का यह आधा हिस्सा नैतिक तौर पर पुरुषों के समान है। उन्होंने परिवार के कार्य और पारंपरिक प्रणालियों पर भी सवाल उठाए। 18वीं शताब्दी में स्त्रियों के ऊपर कई लेख लिखे गए। सभी लेखों में स्त्रियों की स्वतंत्रता, समानता, अधिकार तथा पितृसत्ता से मुक्ति की बात की गई थी। 'मेरी वोल्सटोन क्राफ्ट' ने सन 1792 में लंदन में स्त्रियों के अधिकार के लिए जोरदार ढंग से आवाज उठाई। उन्होंने स्त्रियों पर आरोपित अयोग्यता का खंडन किया और इसे पुरुषवादी मानसिकता बताया।

शुरुआती उदारवादी स्त्रीवादियों के विचार आगे की स्त्रीवादियों के विश्लेषण का आधार बने। पुरुषों के लिए हासिल अधिकार तथा विशेषधिकार के दायरे में स्त्रियों के लिए समानता के अवसर की तलाश तथा सुधारवादी दृष्टिकोणों के कारण आगे के स्त्रीवादी चिंतक इसकी आलोचना भी करते रहे। यद्यपि अपने युग में ये स्त्रीवादी विचार उग्र कहे जाते थे। सन 50-60 के दशक में उदारवादी स्त्रीवादी चिंतन काफी लोकप्रिय रहा। उन्होंने व्यक्तिगत अधिकारों, जो स्त्रियों से जुड़े हुए थे, उन्हें विशेष महत्त्व देना शुरू किया। पितृसत्ता के अंदर स्त्री और पुरुष के खेमे बंदी का भी इन्होंने विरोध किया। उदारवादी स्त्रीवादी चिंतक स्त्रियों को उत्पीड़ित करने वाली व्यवस्था से स्वतंत्र कराने के लिए तथा लैंगिक भेदभाव पर आधारित कानूनों और नियमों को हटाने की भी बात करते हैं, ताकि स्त्रियां पुरुषों के साथ समान रूप से प्रतिस्पर्धा कर सकें। उदारवादियों का यह भी

कहना है कि अतीत में स्त्रियों के साथ जितने भी अन्याय हुए हैं। उन सभी का प्रतिकार होना चाहिए और पितृसत्तात्मक विचारधारा को सीधे चुनौती देना चाहिए।

आलोचना-उदारवादी स्त्रीवादी पितृसत्ता के खिलाफ केवल वैधानिक पहलुओं पर ही केंद्रित होकर रह गए। इन्होंने वैचारिक दृष्टिकोण को प्रचारित करने में सुधारवादी एवं कल्याणकारी विचारों का सहारा लिया। परिणामतः राजनीति एवं रोज़गार की दुनिया में स्त्रियां उग्ररूप में न आ सकीं। सार्वजनिक रूप से कुछ सुविधाओं को प्राप्त करने की वकालत करने के कारण चिंतकों में इन आंदोलनों को समझौतावादी विचारधारा के रूप में समझा। अपनी कमज़ोरियाँ के कारण वे लैंगिक उत्पीड़न, श्रम के विभाजन एवं आर्थिक वर्गीय ढाँचे में स्त्रियों की स्थिति को अच्छी तरह नहीं समझा सके।

2) मार्क्सवादी स्त्रीवादी- मार्क्सवादी स्त्रीवाद का उदय मार्क्स के विचारों के साथ-साथ दिखाई देता है स्पष्ट तौर पर मार्क्स ने स्त्रीवाद की अलग से कहीं वकालत नहीं की है। वे स्त्री संबंधी सुधारवादी आंदोलनों को पूँजीवादी व्यवस्था के छलावे के रूप में देखते हैं। स्त्री के प्रति असमानता के भावबोध को वे वर्गीय अवधारणा में शोषण और अलगाव की प्रक्रिया में देखते हैं। जब मार्क्स वर्ग-संघर्ष की स्थिति का विश्लेषण करते हैं तब मार्क्सवादियों को समाज की वर्गीय अवधारणा में स्त्री की वास्तविक स्थिति का एहसास हुआ। वे पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री के उत्पीड़न को मार्क्स की अवधारणा के अनुरूप समझने का प्रयास करते हैं।

सन 1884 में एंगेल्स की पुस्तक 'परिवार निजी, संपत्ति तथा राज्य की उत्पति'' में एंगेल्स ने स्त्रियों की उत्पीड़न की समस्या को बेहतर ढंग से समझाने की कोशिश की है। स्त्रियों के शोषण को एंजेल्स ने इतिहास के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया है। वे कहते है कि ''लोग जिन सामाजिक संस्थाओं के तहत जीते हैं वे दोनों प्रकार के उत्पादनों से जुड़ी हैं, जिससे एक तरफ श्रम के विकास की अवस्था है, तो दूसरी तरफ परिवार के विकास की अवस्था है। श्रम का विकास जितना कम होगा और उसके उत्पादन की मात्रा जितनी सीमित होगी, वहाँ संपत्ति भी सीमित होगी और सामाजिक प्रणालियाँ लिंग यौन संबंधों के हिसाब से निर्धारित होती दिखेंगी।''

मार्क्स के अनुसार प्रारंभिक अवस्था में स्त्रियां घरों के अंदर काम करती थीं। पुरुष घर के बाहर कार्यों में लगे रहते थे। पुरुषों का कार्य अधिक होने से उनकी आर्थिक स्थिति भी मज़बूत हुई। इसी तरह पितृसत्तात्मक ढाँचे का विकास हुआ। एंगेल्स ने कहा कि स्त्रीवादियों को स्त्री की मुक्ति का प्रयास घर के बाहर निकलने के लिए करना होगा। घर के बाहर कार्य करते हुए स्त्रियां जब आर्थिक रूप से पुरुषों के समकक्ष आएगा तो उनका उत्पीड़न कम होगा और पित्तृसत्ता भी कमज़ोर पड़ती चली जाएगी।

मार्क्स का अतिरिक्त पूँजी का सिद्धांत स्त्रियों के शोषण से भी जोड़कर देखा जाने लगा। पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष को घर के बाहर अपने श्रम का पूरा मूल्य मिल जाता है पर घर के अंदर स्त्रियां जो कार्य करती हैं वह बिना पारिश्रमिक के होता है। इस तरह वे घर के अंदर पुनरुत्पादन के बावज़ूद शोषण का शिकार होती हैं। पितृसत्तात्मक समाज का ढाँचा ऐसा है कि स्त्रियां विवाह के पश्चात गृहस्थी के कार्य को बेगारी की तरह

करती हैं। साथ ही पुरुष की यौन तुष्टि भी करती हैं। पितृसत्ता में इस सामाजिक व्यभिचार को मान्यता दी गई है। इसमें स्त्री के विरोध की कहीं गुंजाइश नहीं है। स्त्री को अपनी सेवाएँ निःस्वार्थ भाव से परिवार में देना ही है। इसे मर्यादा कहा गई है। यहाँ स्त्री की आकांक्षा, इच्छा, स्वतंत्रता एवं स्वावलंबन को उच्छश्रृंखलता का संबोधन दिया जाता है।

आलोचना - मार्क्सवादी स्त्रीवादी चिंतकों की यह कमज़ोरी थी कि वे स्त्रियों के शोषण का मुख्य कारण आर्थिक मानते हैं तथा समाज की वर्गीय संरचना में स्त्रियों को सर्वहारा वर्ग के समकक्ष रख कर देखते हैं, जबकि पितृसत्तात्मकता के पीछे आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक सभी कारण विद्यमान थे। इसलिए किसी एक कारण को आधार मानकर स्त्री शोषण को व्याख्या करने से निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता है।

3) समाजवादी स्त्रीवाद- समाजवादी स्त्रीवादी चिंतकों ने समाज की वर्गीय संरचना और स्त्रियों के शोषण को एक-दूसरे से जोड़कर देखा। उनके अनुसार विश्व के किसी भी समाज में पुरुषों को इसलिए विशेष महत्त्व मिलता है कि वे बाहरी दुनिया के संपर्क में रहकर व्यापार और वस्तुओं के उत्पादन में सहयोग करते हैं। जबकि घरेलू क्षेत्र में जहाँ स्त्रियों की गतिविधि बाहरी दुनिया के संपर्क में नहीं होती है वहाँ वे उत्पाद और व्यापार की प्रक्रिया से नहीं जुड़ पाती है, इसलिए वहाँ इनका महत्व कम हो जाता है। अतः पुरुषों का स्त्रियों पर आर्थिक रूप से समृद्ध होने के कारण नियंत्रण बना रहता है।

समाजवादी स्त्रीवादी चिंतक रेडिकल स्त्रीवादियों की भांति पितृसत्ता और पूँजीवाद को चुनौती देते हैं। वे वर्ग, नस्ल, नृजातीयता एवं धर्म के आधार पर पुरुष और स्त्रियों के बीच एक विभाजन रेखा भी मानते हैं। समाजवादी स्त्रीवादी चिंतक स्त्रियों के उत्पीड़न की समाप्ति के लिए समाज में वर्ग एवं जेंडर की स्थिति को समाप्त करने की भी बात करते हैं। समाजवादी स्त्रीवादी लेनिन के उस प्रस्ताव की भी आलोचना करते हैं जिसमें वर्ग की अवधारणा के अंतर्गत ही स्त्री विमर्श की बात की जाती है। 'क्लारा जेटकिन' ने जब वर्ग की बजाए लैंगिक और पारिवारिक मुद्दों पर स्त्री विमर्श की बात उठाई तब लेनिन ने इसका विरोध किया, क्योंकि यह वर्गीय अवधारणा के विरूद्ध था। यद्यपि मार्क्सवादी स्त्रीवादी श्रम के सिद्धांत के अनुसार यह मानते हैं कि - 'परिवार के अंदर स्त्री द्वारा किए गए कार्य का भी मूल्य होना चाहिए।' परिवार संस्था में राज्य अथवा अन्य संस्थाएँ पारिश्रमिक के लिए हस्तक्षेप करें। यद्यपि इस बहस में मार्क्सवादी स्त्रीवादी भी एकमत नहीं रहे। 'हर्ट मैन' ने मार्क्सवादी स्त्रीवाद की आलोचना करते हुए कहा कि स्त्रियां गृहस्थ जीवन में पुरुषों के लिए काम करती हैं या पूँजीवाद के लिए, यह कोई विवाद का विषय नहीं है। इसलिए स्त्रीवादी चिंतन के अंतर्गत हमें पितृसत्तात्मक समाज में लैंगिक समस्या को समझना चाहिए। 'हर्टमैन' ने पितृसत्ता को भौतिकवादी दृष्टिकोण से विश्लेषित किया है। इसका आधार स्त्रियों के श्रमशक्ति एवं यौनिकता आदि के ऊपर पुरुषों के नियंत्रण से संबंधित है। भारत में मार्क्सवादी स्त्रीवादी चिंतकों ने यद्यपि स्त्रियों के उत्पीड़न को वर्ग संघर्ष की स्थिति में देखा है। लेकिन समाजवादी चिंतक इसे घर में काम करने वाली स्त्रियों के श्रम के शोषण के रूप में देखते हैं। वे

पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरुद्ध गृहस्थ जीवन में ही संघर्ष करने को कहते हैं। इन्होंने एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण के माध्यम से स्त्रियों के कामकाज के अवमूल्यन को दर्शाया। 'मारिया मिन्स' ने भारत में एक सर्वे के माध्यम से यह दिखाया कि ''किस तरह वैश्विक बाज़ार में लेस बनाने के भारतीय स्त्रियों के काम की यह कहकर कम कीमत लगाई गई कि यह समय बिताने के लिए किया गई कार्य है।'' जब कि ठेकेदार बाज़ार में इसे अत्याधिक कीमत पर बेचता है और स्त्रियों को मामूली मज़दूरी में ही संतोष करना पड़ता है। चूँकि भारत में स्त्रियां असंगठित क्षेत्र में काम करती हैं। अतः उनके कार्य का कभी भी उचित मूल्यांकन नहीं किया जाता है। समाजवादी विचारक स्त्रियों के शोषण और उत्पीड़न को समाज की प्रथम इकाई परिवार से मानते है और परिवार पितृसत्तात्मक व्यवस्था की मज़बूत इकाई है। इसलिए स्त्रियों के अधिकारों के लिए पितृसत्तात्मक व्यवस्था को खत्म करने पर जोर दिया जाता है।

आलोचना - यह समझना आवश्यक है कि स्त्रियों के शोषण का प्रारूप क्या-क्या है? वह घर के भीतर जिस रूप में है क्या उसी रूप में घर के बाहर भी है। समाजवादी चिंतक यहाँ भ्रम की स्थिति पैदा करते हैं। घर के बाहर स्त्रियों का शोषण व्यापक स्तर पर है। समाजवादी चिंतक उसकी समाप्ति का विचार गृहस्थ जीवन के शोषण की समाप्ति से जोड़कर देखते हैं। पितृसत्ता घर और घर के बाहर दोनों स्थानों पर अपने वज़ूद में है। अतः संघर्ष दोनों जगह होना ज़रूरी है। समाजवादी चिंतक स्त्री के शोषण की एक पक्षीय व्याख्या करते हैं, जबकि शोषण बहुपक्षीय रहा है।

4) रेडिकल स्त्रीवाद- इस विचारधारा के अंतर्गत समाज में आमूल चूल परिवर्तन की बात कही जाती है सन 60 के दशक में यह विचारधारा स्त्रीवाद की एक नई लहर के रूप में विकसित हुई। आस्ट्रेलिया और यूरोप में स्त्री उत्पीड़न के खिलाफ चल रहे आंदोलनों ने इस विचारधारा को नया आयाम दिया। सन 1967 में अमेरिका में प्रथम रेडिकल स्त्रीवादी संगठन अस्तित्व में आया। यह वामपंथी माओवादी विचारधारा से प्रभावित था। इनका मूल मंत्र था कि स्त्रियां अपना मौन छोड़कर अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों को उद्घाटित करें। स्त्रियों की समस्याएँ निजी न होकर सभी स्त्रियों की होती है। इन्हें संगठित आंदोलन के माध्यम से ही खत्म किया जा सकता है। सन 60 के बाद रेडिकल स्त्रीवाद ने सामाजिक संरचना के अनुरूप अपनी विचारधारा का विश्लेषण प्रस्तुत किया, जिसमें यह दर्शाया गई की - 'स्त्रियां विभिन्न तरह के कार्यों में संलग्न करने के लिए, पुरुषों के अधीन रखी गई है।' इस संरचना को हम पितृसत्तात्मक भी कह सकते हैं। 70 के दशक के बाद जैसे-जैसे यह आंदोलन फैलता गया रेडिकल स्त्रीवादियों ने जनन क्रिया, बच्चों के पालन-पोषण, रसोई की ज़िम्मेदारी तथा घर गृहस्थी संबंधी कार्यों पर प्रश्न चिन्ह लगाना शुरु कर दिया। उन्होंने समलैंगिक संबंधों की वकालत शुरू कर दी और स्त्री-पुरुष विवाह की वैधानिकता का विरोध करने लगे। उनके अनुसार स्त्री वैवाहिक बंधन के माध्यम से अपरिचित पुरुष के साथ बलात्कार के लिए सौंप दी जाती है। उसकी इच्छा पर ध्यान नहीं दिया जाता है। वह संरक्षित वैश्यावृत्ति में संलग्न कर दी जाती है। जहाँ एक पुरुष उसे मातृत्व के लिए बाध्य करता है। यह पितृसत्ता के तहत संस्थाबद्ध रूप में होता है। यहाँ पुरुष ही तय करता

है कि संतान पैदा की जाए। उसका पालन-पोषण किया जाए। स्त्रियों पर बस दैनिक कार्यों की ज़िम्मेदारी सौंप दी जाती है। जिस पर पूरा नियंत्रण पुरुष का ही होता है।

रेडिकल स्त्रीवादी सामाजिक संरचना को स्त्रियों के लिए उत्पीड़न करने वाली संस्था के रूप में देखती हैं, जिसमें किसी स्त्री का मूल्यांकन उसके शारीरिक आकर्षण, स्वास्थ्य एवं संतान उत्पन्न करने की क्षमता के आधार पर किया जाता है। इसी कारण वे कहती हैं कि - ''पितृसत्ता के अंतर्गत शादी यौन गुलामी का एक तरीका है। इसके अलावा विवाह विषम यौन क्रियाओं को प्रस्तुत करता है। जो परिवार में स्त्रियों को ही एक-दूसरे से विभाजित कर देता है। अर्थात एक दूसरे के प्रति हीन भावना का पैदा होना है। जबरदस्ती मातृत्व की स्थिति में झोंक देना यौन गुलामी ही है। इससे छुटकारा पाने की पहली शर्त है कि विवाह को पितृसत्तात्मक संस्था से मुक्त किया जाए। 'केट मिलेट' नामक स्त्रीवादी चिंतक ने स्त्रियों के अपमान और उनके अवमूल्यन को पितृसत्ता के द्वारा निर्धारित एक कामुक प्रक्रिया बताया। 'केट मिलेट' ने अश्लील साहित्य को स्त्री शोषण के लिए प्रोत्साहित करने वाला साहित्य कहा। उनके अनुसार स्त्रियों की वेदना, अपमान, यंत्रणा यहाँ तक की उनकी हत्या को भी कामोत्तेजना में बदल दिया गई है। 'कैथलीन बेरी' अश्लील साहित्य को सांस्कृतिक परपीड़क के रूप में परिभाषित करती हैं। विवाह जैसी पितृसत्तात्मक संस्था को नकारने के पीछे रेडिकल स्त्रीवादियों की सोच पुरुषों के वर्चस्व को खत्म करने से थी। इसीलिए वे संतुष्टि के लिए समलैंगिक संबंधों की वकालत करती हैं। पितृसत्ता के जितने भी प्रतीक स्त्री उत्पीड़न के लिए ज़िम्मेदार थे। सभी की रेडिकल स्त्रीवादियों ने आलोचना की। यहाँ तक कि सौंदर्य प्रतियोगिता को भी वे स्त्रियों के वस्तुकरण का प्रतीक मानती है। आधुनिक विकास जो पर्यावरण की क्षति पहुँचा रहे हैं, जैसे - न्यूक्लीयर पावर प्लान्ट (नाभिकीय बिजली घर) को वे पुरुष लोभ और पर्यावरण के साथ बलात्कार का प्रतीक मानती है। पितृसत्ता को खत्म करने की रेडिकल स्त्रीवादियों के प्रयास ने एक नए विवाद को जन्म दिया जहाँ स्त्रीवादी मूल्यों के आधार पर नए समाज के बनने के रास्ते देखे जाने लगे।

आलोचना- पितृसत्ता के संबंध में रेडिकल स्त्रीवादी सिद्धांत विश्लेषणात्मक की बजाए वर्णनात्मक अधिक हो गई है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों के अधिकारों को दिलाने के लिए क्या प्रयास किया जाए। इस संदर्भ में उन्होंने कोई विचार व्यक्त नहीं किया है। 'एलिस जैगक' ने रेडिकल स्त्रीवाद के विचार, व्यवहार और समाज के क्रांतिकारी बदलाव के लिए किए जाने वाले प्रयासों को ही पर्याप्त नहीं माना, उनके अनुसार मातृत्व और यौन गुलामी की अवस्था के विश्लेषण में ही उन्होंने सारी शक्ति लगा दी। रेडिकल स्त्रीवादी पितृसत्ता के उद्भव के कारणों को नहीं समझा पाए, आखिर पुरुष स्त्रियों को गुलाम क्यों बनाया? इस प्रश्न का उत्तर तलाश करना आवश्यक है।

समलैंगिकता की हिमायत करते हुए रेडिकल स्त्रीवादी यह भूल जाते हैं कि पितृसत्ता से मुक्ति का यह कोई विकल्प नहीं है। इससे पुरुष और स्त्री के आपसी संबंधों में असंतुलन बनेगा। बार-बार स्त्रियों की स्त्री विषय विशेषता और जनन क्षमता पर विचार करते हुए रेडिकल स्त्रीवादी यह भूल जाते हैं कि इससे नए तरह

के एकाधिकार की स्थिति पैदा होगी। 'ऐलिस जैगर' आगे कहती हैं कि रेडिकल स्त्रीवादियों को चाहिए की वह स्त्री के जीवन पर नियंत्रण के पहलू को केंद्र में रखें, जिसमें स्त्रियां संस्कृति के सृजन को हासिल करने का प्रयास करती हैं। इस सिद्धांत के आलोचकों का यह भी कहना है कि रेडिकल स्त्रीवादी मध्यवर्गीय स्त्रियों के जीवन की समस्याओं को ही मुख्य आधार बनाती हैं, जबकि श्रमिक वर्ग, अश्वेत एवं तीसरी दुनियाँ की स्त्रियों की समस्याओं का बहुत कम जिक्र करती हैं। रेडिकल स्त्रीवादी स्त्रियों को निष्क्रिय, उत्पीड़न सहने वाली, दब्बू और अंतर्मुखी बताने का प्रयास करती हैं। जबकि इतिहास में ऐसी स्त्रियां भी हैं, जिन्होंने निरंतर संघर्ष कर समाज में स्त्रियों को उचित स्थान दिलाने का प्रयास किया है।

रेडिकल स्त्रीवादी सिद्धांतों की काफी आलोचना की गई है। लेकिन शक्ति संतुलन के प्रति उनकी जिज्ञासा, उनके विचार, समाज को एक नई दिशा दे सकते हैं। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों की स्थिति बेहतर कभी नहीं रही है। इस विचारधारा ने पहली बार स्त्री के अस्तित्व को पुरुष के समकक्ष रखने की चुनौती दी। उनका आर्थिक शोषण किया गई तथा लैंगिक भिन्नता के कारण पुरुष से कमतर आंका गई। पुरुषों के द्वारा स्त्रियों के श्रम का शोषण एक सार्वभौम प्रकृति है। सन 1980 की संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट में बताया गई है कि विश्व की आबादी में स्त्रियों की संख्या आधी है। इनके काम के घंटे लगभग 2/3 तिहाई हैं। परंतु ये वैश्विक आमदनी का केवल 1/10 हिस्सा ही प्राप्त कर पाती हैं। यह वैश्विक संपत्ति के सौंवे हिस्से से भी कम है। चाहे विकसित देश हों या विकासशील सभी जगह स्त्रियों को पुरुषों से कम वेतन दिया जाता है। अंततः उन्हें पुरुषों पर ही आश्रित रहना पड़ता है। अतः समान वेतन, समान अवसर के द्वारा ही स्त्रियों को पितृसत्ता से मुक्ति मिल सकती है।

1.4.4. पितृसत्ता और विवाह संस्था

पितृसत्ता के ढाँचे का अध्ययन करते समय स्त्रीवादी विचारों और उनके उद्देश्यों की परख अत्यंत आवश्यक है। स्त्री को अपनी पहचान बनाने के लिए समाज में जो संघर्ष करना पड़ा स्त्रीवादियों ने उसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। पितृसत्ता के द्वारा स्त्री को शक्तिहीन, उत्पीड़ित एवं गुलाम बनाने की जो प्रवृत्ति थी उसका विश्लेषण स्त्रीवादियों ने पितृसत्ता के एकाधिकार एवं वर्चस्ववादी स्थितियों के तहत किया। यद्यपि स्त्रीवादियों के विभिन्न आंदोलनों में स्त्री संबंधी स्वतंत्रता और समानता एवं स्वावलंबन के विचारों को लेकर मतभेद रहे हैं। परंतु सभी आंदोलनों का उद्देश्य स्त्री को पितृसत्ता से मुक्ति दिलाने के लिए ही रहा है। पितृसत्ता पुरुष के द्वारा स्थापित समाज व्यवस्था का शोषक रूप है। स्त्रीवादी आंदोलनों में अपने शोध के माध्यमों से यही तथ्य उजागर किया गई कि 'स्त्री शोषण और अत्याचार का मुख्य कारण पितृसत्ता है।' लैंगिक भेदभाव तब तक खत्म नहीं हो सकता जब तक पितृसत्तात्मक व्यवस्था को समाप्त नहीं कर दिया जाता। पितृसत्तात्मक समाज पुरुष के वर्चस्ववादी मानसिकता का द्योतक होने के कारण इसकी समाप्ति निश्चय ही पुरुषों के एकाधिकार को चुनौती देती है। बाद में पितृसत्ता के समर्थक स्त्रीवादी आंदोलनों को उनके उद्देश्य से भटकाने

के लिए लैंगिक भेदभाव के विरूद्ध, इस आंदोलन में शामिल हो गए। यद्यपि स्त्रीवादी चिंतक पितृसत्ता और लैंगिक भेदभाव दोनों को एक साथ जोड़कर देखते थे। इसलिए उसमें भटकाव की कोई गुंजाइश नहीं थी।

संपूर्ण विश्व में स्त्रीवादी आंदोलनों का प्रभाव सरकारी नीतियों पर पड़ता दिखाई देने लगा है। जिससे स्त्रीवादी आंदोलनों को और अधिक प्रोत्साहन मिलने लगा। पितृसत्तात्मक समाज में बचपन से ही लिंग भेद से बच्चों को अवगत कराया जाता रहा है, ताकि वह बचपन से ही अपने लिंग की श्रेष्ठता के प्रति सचेत रहे, उसके व्यवहार और क्रिया-कलाप भी लैंगिक स्थितियों के अनुरूप विकसित होते रहें। स्त्रीवादी एक तरफ पितृसत्तात्मक समाज को सुधारने की बात कर रहे थे तो दूसरी तरफ उसे जड़ से समाप्त करने की भी बात कर रहे थे। चूँकि समाज पर पुरुष का नियंत्रण है, इसलिए इसमें पुरुषों को भी शामिल करने की आवश्यकता महसूस की गई। अतः स्त्रीवादियों ने पुरुष मानसिकता को भी बदलने पर जोर दिया। उनके अनुसार - 'पुरुषों को चाहिए कि वह राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक स्तर पर लैंगिक भेद को दूर करें और क़ानून में सुधार के द्वारा पितृसत्तात्मक ढाँचे को प्रतिबंधित करें या समाप्त करें।' स्त्रीवादी चिंतक 'मैकिनान' के अनुसार स्त्री को अंतःकरण से जागृत करने की आवश्यकता है, तभी पुरुष स्त्रियों के प्रति सुरक्षित क़ानून के निर्माण में पहल करेगें। उनके अनुसार राज्य एक संस्था की तरह है। वह सभी क़ानून समाज को नियंत्रित करने के लिए तथा अपनी सुरक्षा के लिए बनाता है। इस तरह से वह एकाधिकार की स्थिति में होता है। चूँकि व्यवस्था पुरुषों द्वारा निर्मित होती है। इसलिए यह एकाधिकार समाज की सभी इकाईयों के साथ-साथ स्त्रियों के ऊपर भी लागू होता है। चाहे वह घर में हों, पारिवारिक पेशे में हों, सभी जगह उसे मौखिक नियमों में बंधना पड़ता है। 'मैकिनान' आगे कहती हैं कि - ''व्यक्तिगत और सामाजिक नियंत्रण की परिकल्पना लैंगिक भेद के माध्यम से शोषण को ही बढ़ावा देती है यह खतरनाक स्थिति है।''

प्रसिद्ध स्त्रीवादी चिंतक 'जर्मन ग्रीयर' ने उग्र स्त्रीवाद की वकालत की उन्होंने सेक्स के उदारीकरण की प्रक्रिया को स्त्री के शोषण का छल पूर्ण रवैया बताया। उनकी पुस्तक 'फिमेल यून्च' (1970), 'डैडी वी हार्डली न्यू यू' (1989), 'द होल विमैन' (1999) में स्त्रीवादी दृष्टिकोण को पितृसत्तात्मक समाज के समक्ष चुनौती के रूप में रखा गई है। वे जिस क्रांति की बात करती हैं वह निश्चित रूप से युगों से प्रताड़ित स्त्री का दर्द है। इसलिए स्त्रीवादियों ने साफ तौर पर कहा कि पुरुष नियमों और योजनाओं के द्वारा पितृसत्तात्मक ढाँचे को सुधारे या उसमें परिवर्तन लाए या उसे पूर्णतः खत्म कर दे। स्पष्ट है कि लैंगिक भेदभाव की प्रक्रिया, जिसके माध्यम से पितृसत्ता स्त्रियों पर नियंत्रण रखती है, वह बनावटी है। जैविक अंतर के अतिरिक्त स्त्री और पुरुष के मध्य और कोई अंतर नहीं होता है। कुछ स्त्रीवादी चिंतकों ने भारतीय परिवेश में इसे ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक ढाँचे का रूप कहा है। संविधान ने उल्लिखित जनतांत्रिक व समतावादी कानूनों को स्त्रीवादियों ने चुनौती दी तथा इसके विरुद्ध एक व्यापक आंदोलन की शुरूआत की। विश्व में चल रहे स्त्रीवादी आंदोलनों से प्रेरणा ले करके इन्होंने स्त्री स्वतंत्रता, समानता तथा स्वावलंबन के लिए आवाज उठाई।

भारत में पाई जाने वाली विविधता के कारण लैंगिक भेदभाव की प्रक्रिया को विश्लेषित करने में कई असुविधाएँ आईं। 'रजनी पालड़ी वाला' ने 'बियान्ड मिथ्स' - द सोसल एण्ड पोलिटिकल डायनामिक ऑफ जेंडर' लेख में दक्षिण भारत और उत्तर भारत की स्त्रियों के बीच लैंगिकता संबंधी भेदभाव और साक्षरता तथा स्त्रियों के शोषण संबंधी विचार, पारिवारिक जीवन में किस तरह के हैं, इस पर शोध अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि 'उत्तर भारत में पितृसत्तात्मकता पर अधिक बल दिया गई है।' उन्होंने इसके सांस्कृतिक और आर्थिक दो कारण बताए हैं। उनके अनुसार - 'उत्तर भारत में ब्राह्मणवादी मूल्यों का ज़्यादा प्रभाव है जो दक्षिण भारत में कम देखने को मिलता है।' इसलिए उत्तर भारत में संबंध आर्थिक दृष्टि से अधिक होते हैं। ब्राह्मण जाति व्यवस्था में ऊपर हैं तथा समाज व्यवस्था के नियामक हैं। इसलिए इनका अनुसरण अन्य जातियाँ भी करती हैं। जबकि तमिलनाडु राज्य में स्त्रियों का लिंगानुपात अधिक है और वे उत्तर भारत की स्त्रियों के अनुपात में थोड़ी बेहतर स्थिति में हैं।

भारत में विधवा की स्थिति अत्यंत दयनीय है। उसे उपेक्षा और अपवित्रता दोनों स्थितियों का सामना करना पड़ता है। वह समाज में अपना उचित स्थान नहीं बना पाती। पारिवारिक ढाँचे में भी उसे उपेक्षित कर दिया जाता है। यहाँ तक कि उसके लिए रोज़गार के अवसर भी उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। यह स्थिति उत्तर और दक्षिण दोनों जगहों पर एक समान है। भारत में संयुक्त परिवार व्यवस्था में पितृसत्तात्मकता कहीं अधिक दृढ़ है। यहाँ जाति संबंधों के भीतर ही विवाह को महत्व दिया जाता है और विवाह सभी के लिए अनिवार्य है। यह पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों पर अधिक लागू होता है। विवाह संस्था अपने भौतिक, सामाजिक और प्रतीकात्मक अर्थ का परिणाम है। यह स्त्री और पुरुषों के जीवन पर अलग-अलग तरह से प्रभाव डालती है। अपनत्व की भावना, सम्मान और हैसियत पति और पिता के साथ गहरे जुड़े होते हैं। निःसंतान दंपति को पितृसत्तात्मक समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है। इसमें स्त्रियों की स्थिति अधिक दयनीय होती है उन्हें उपेक्षित कर दिया जाता है अर्थात संतानहीनता का सारा दोष स्त्रियों पर मढ़ कर पुरुष को सभी दोषों से मुक्त कर दिया जाता है। विवाह जाति और पारंपरिक रस्मों का बंधन होता है। भारत में अंतःजाति विवाहों का प्रचलन है। विवाह में दिए जाने वाले उपहार और दहेज नए परिवार में स्त्री की हैसियत को दर्शाता है और उसी अनुसार उसे सम्मान भी दिया जाता है। ऐसी स्थिति में कम हैसियत वाले परिवार बेटियों को बोझ समझने लगते है। दक्षिण एशियाई धर्मों में स्त्री को यौन पवित्रता और अच्छे दहेज के कारण सम्मान दिया जाता है। भारत में वैवाहिक संबंध संगोत्रिय एवं जातिगत होते है और इसमें पति पत्नी की योग्यता, उम्र, आय आदि का पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उसी अनुसार परिवार में हस्तक्षेप की इज़ाजत मिलती है। संयुक्त परिवारों में युवा दंपत्ति पुरानी पीढ़ियों के साथ रहते हैं। वहाँ पर परिवार संस्था के संचालन के लिए पुरुष का विवाहित होना आवश्यक होता है। इसलिए कम उम्र में विवाह का प्रचलन बढ़ा है। संपूर्ण भारत में रिश्तेदारियों में ही विवाह करने का प्रचलन रहा है। ऐसा पारिवारिक संबंधों को मज़बूत बनाए रखने एवं सुरक्षा के कारण है। यह पितृसत्ता के और दृढ़ होने की ओर संकेत करता है। दक्षिण भारत में सगोत्रीय विवाहों का प्रचलन अधिक रहा है। इसके विपरीत उत्तर

भारत में सगोत्रीय विवाहों पर बंधन है। पर सजातीय विवाहों को मान्यता दी गई है। लड़कियों को ऊँची हैसियत वाले परिवारों में विवाह करने का प्रचलन रहा है। उत्तर भारत में दूसरे गांवों में शादी का प्रचलन रहा है, जबकि दक्षिण भारत में गाँव और जिले के भीतर ही शादियाँ होती रही हैं। प्रायः ऐसी स्थिति भी देखी गई है कि ऊँची हैसियत की शादियों में वर्गीय स्तर भेद भी होता है। ये अपने से कम हैसियत के परिवारों में शादी विवाह करने से बचते हैं। यदि स्त्री सुशिक्षित, सुंदर या अच्छी आय वाली नौकरी करती है तो वह जाति में आर्थिक रूप से कमज़ोर होने के बावज़ूद ऊँची हैसियत के परिवारों में विवाह कर सकती है। लेकिन उसे दहेज या उपहार में छूट नहीं है। अर्थात पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री के स्वावलंबी होने के बावज़ूद दहेज व अपनी आमदनी से पुरुष को खुश रखना ज़रूरी है। किसी बहाने स्त्री को छोड़ देना या तलाक दे देना पुरुषों के लिए सहज है, पर स्त्रियों के लिए इसकी गुंजाइश कम ही होती है। पुनर्विवाह की व्यवस्था स्त्री के लिए नहीं है पर पुरुष इस मामले में स्वैच्छिक है अर्थात पितृसत्ता में स्त्री की स्थिति दास की तरह है। स्त्री संगठनों ने पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री के लिए दोहरे नियमों की भी आलोचना की है। स्त्री के लिए तलाकशुदा जीवन, विधवा जीवन की तरह ही है। पितृसत्तात्मक समाज में उसके लिए कठोर बंधन निर्धारित है। स्त्रीवादियों ने स्त्री की स्वतंत्रता व आर्थिक रूप से स्वावलंबन को ज़रूरी समझा। उसके अनुसार स्त्रियों की स्थिति में सुधार तभी संभव है जब पितृसत्तात्मक व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाए। पितृवंश और ससुर का घर स्त्री के लिए ऐसे पड़ाव हैं, जो उसे वंश परंपरा को चलाने के लिए एवं संपत्ति के उत्तराधिकारी को जानने के लिए ही स्थान देते हैं अन्यथा समाज में उसकी मौज़ूदगी का कोई महत्त्व नहीं है। पति के साथ भी उसका जीवन पुत्र जननी के रूप में है। वह तभी पतिव्रता है जब वंश के लिए उत्तराधिकारी पैदा करे। पति अपने एकधिकार में पत्नी से सिर्फ संतति सुख की आकांक्षा रखता है। स्त्रियों का वैवाहिक जीवन भी खानाबदोश से कम नहीं होता। एक तरफ उनका मायका होता है तो दूसरी तरफ उनकी ससुराल होती है। उसकी निष्ठा दोनो परिवारों में बराबर होती है, लेकिन पितृसत्तात्मक व्यवस्था में उसे किसी भी परिवार का ज़िम्मेदार सदस्य नहीं बनाया जाता है। चूँकि दोनों परिवारों में स्त्री का जीवन बँट जाता है। इसलिए अपने पिता से मिलने वाले भावनात्मक अधिकार भी खत्म हो जाते हैं। ऐसा दक्षिण भारत और उत्तर भारत में दोनों स्थानों के परिवारों में देखने को मिलता है। विवाह के बाद स्त्री का पति के घर जाकर रहना पितृसत्ता के कठोर नियमों में से एक है। यहाँ एक परिवार में वह पराई है तो दूसरे परिवार में ब्याहता है। दोनों स्थिति में वह त्याज्य है, जबकि पितृसत्तात्मक समाज पुरुष को दामाद के रूप में पूज्य और पुत्र के रूप में वंशज कहता है। अर्थात दोनों ही स्थितियों में पुरुष सुरक्षित है। वह कुनबे को बढ़ाने वाला ज़िम्मेदार तथा संरक्षक के रूप में जाना जाता है। यद्यपि स्त्रियां पुरुषों से कहीं अधिक संवेदनशील होती हैं। वे भावनात्मक स्तर पर पितृगृह से जुड़ी रहती है तथा पति के प्रति भी संवेदना बनाए रखती हैं।

संयुक्त परिवारों में बुजुर्ग सदस्य मुखिया होता है। वह श्रम के आवंटन, आय के वितरण एवं एकत्रीकरण तथा खर्च के मामले में अपना एकाधिकार रखता है। वह स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष रखकर कोई निर्णय नहीं लेता। सभी निर्णय पुरुषों के हित में लिए जाते हैं और स्त्रियों पर उन्हें थोप दिया जाता है। स्त्री की

स्थिति पत्नी, माँ और वृद्धा के रूप में घर की चार-दीवारी मे ही बीत जाती है। पितृसत्तात्मकता में उनके लिए स्वतंत्र निर्णय लेने या घर के बाहर की दुनियाँ को समझने का अधिकार नहीं है। जातीय, वर्गीय और लैंगिक आधार पर स्त्रियों के प्रति व्यवहार सुनिश्चित किए जाते हैं। उन्हें सीमित दायरे में ही भ्रमण की इजाज़त दी जाती है।

इस तरह से पितृसत्तात्मक व्यवस्था में विवाह संस्था स्त्रियों की स्वतंत्रता को बाधित करती है, जिससे वह अपना पूर्ण विकास नहीं कर पाती है। वह किसी भी स्थिति में परिवार के मुखिया या पति के प्रति हमेशा मुखापेक्षित रहती हैं। वह पति, पुत्र या करीबी रिश्तेदारों पर आर्थिक रूप से निर्भर बनी रहती हैं। जो थोड़े अधिकार परिवार संस्था में उन्हें मिलते हैं वे भी वर्चस्व की लड़ाई में तब्दील हो जाते हैं। सास-बहू, ननद-भौजाई, जेठानी-देवरानी के आपसी विवाद पितृसत्ता की ही देन हैं। विवाह संस्था पारिवारिक कलह एवं स्त्री के आपसी विवादों को सुझाने में असमर्थ रही है। ये विवाद स्त्री को स्त्री के विरुद्ध खड़ा करते हैं। पुरुष तटस्थ होकर परंपरा संबंधी नियमों का हवाला देता रहता है। पितृसत्तात्मक समाज इन विवादों में ही अपनी स्थिति मज़बूत बनाए हुए है।

स्त्रीवादी चिंतक स्त्रियों में सकारात्मक सोच विकसित करने के लिए तथा उन्हें जागरूक करने के लिए कई तरह से प्रयासरत हैं। भारत में कई पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जा रहा है। कई संस्थाएँ बनाई गई हैं। स्वयं भारत सरकार ने 1992 में 'राष्ट्रीय स्त्री आयोग' का गठन किया है। सन 1980 से 'काली फार विमेन' नामक स्त्री प्रकाशन संस्थान का आरंभ किया गया, जिसके तहत स्त्रियों के उत्थान के लिए उत्तम कोटि की पुस्तकों का प्रकाशन किया जा रहा है। 'प्रोग्रेसिव वूमेंस आर्गनाइजेशन' नामक संस्था का गठन उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में किया गई। 1970 के दशक में दिल्ली से 'मानुषी' पत्रिका का प्रकाशन किया जा रहा है। दिल्ली से ही 'समाज विज्ञान संस्थान' की 'हासिए की आवाज' पत्रिका भी प्रकाशित की जा रही है। इसी तरह से बिहार से 'अपनी आजादी के लिए' तथा मध्य प्रदेश से 'स्त्री की आवाज' नामक पत्रिकाएँ प्रकाशत हो रही हैं। ये सभी पत्रिकाएँ पितृसत्तात्मक समाज के विरुद्ध स्त्री जागरण, उनके उत्थान तथा उनकी सामाजिक स्वतंत्रता की लड़ाई में संघर्षरत हैं।

1.4.5. बोध प्रश्न

1. लैंगिकता क्या है? संस्कृति और इतिहास में इसका क्या स्वरूप रहा है?
2. लिंग भेद और पितृसत्ता के अंतःसंबंधों पर प्रकाश डालिए।
3. पितृसत्ता के उदय एवं विकास की विवेचना कीजिए।
4. पितृसत्ता के उदय पर समाजवादी स्त्रीवादी विचारकों का मत प्रस्तुत करते हुए अपनी टिप्पणी कीजिए।
5. स्त्रीवादी आंदोलनों के उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।

6. ''विवाह स्त्री के सांस्कृतिक दासत्व का सूचक है।'' स्त्रीवादी चिंतकों की इस धारणा पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

1.4.6. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. स्त्रीवादी राजनीति, संपादक - साधना आर्य, निवेदिता मेनन, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
2. स्त्रीवाद - वी.एन. सिंह, जनमेजय सिंह, रावत पब्लिकेशन, दिल्ली।
3. मानवाधिकार - जेंडर एवं पर्यावरण, संपादक - तपन बिसवाह, विवा बुक्स, दिल्ली।
4. भारत में स्त्री असमानता - डॉ. गोपा जोशी, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
5. स्त्री सशक्तिकरण - डॉ. निशांत सिंह, खुशी पब्लिकेशन, दिल्ली।
6. दलित जातियों का दस्तावेज - माता प्रसाद, सम्यक प्रकाशन, दिल्ली।
7. दिल्ली में आदिवासी स्त्री - जोसेफ मरियानुस कंजूर, विकास झा, भारतीय सामाजिक संस्थान, दिल्ली।
8. उपनिवेश में स्त्री - प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
9. भारतीय समाज व संस्कृति - रवीन्द्र नाथ मुकर्जी, विवेक प्रकाशन, दिल्ली।
10. परिवार, निजी संपत्ति एवं राज्य की उत्पत्ति - एंगेल्स, पीपुल्स पब्लिकेशन, दिल्ली।
11. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन - एम.एन. श्रीनिवासन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
12. भारत में सामाजिक परिवर्तन - योगेन्द्र सिंह, जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली।
13. भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र - ए. आर. देसाई, रावत पब्लिकेशन, दिल्ली।
14. शूद्र कौन थे - डॉ. भीमराव अंबेडकर, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी।

1. What is patriarchy – Kamala Bhasin, Kali for Women.
2. Class, Caste, Gender – M. Mohanty. Publication.
3. Feminist Political and Human Nature – Alisan Jaggar. Publication.
4. Women and Society in India – Neera Desai, Ajanta Publication.
5. Feminist Issues, - Nancy Mandela, Prentier Hall, Canada

खंड-2 नारीवादी सिद्धांत की विभिन्न धाराएं

इकाई-1 उदारवादी

इकाई की रूपरेखा

2.1.0. उद्देश्य

2.1.1. प्रस्तावना

2.1.2. उदारवादी स्त्रीवाद

2.1.2.1. सैद्धांतिक पक्ष

2.1.3. उदारवादी स्त्रीवाद के प्रमुख मुद्दे

2.1.3.1. समान शिक्षा

2.1.3.2. समान आजादी/ स्वतंत्रता

2.1.3.3. समान मताधिकार

2.1.4. उदारवादी स्त्रीवाद के प्रमुख समर्थक

2.1.5. सारांश

2.1.6. बोध प्रश्न

2.1.7. अपनी प्रगति की जांच के लिए अपेक्षित उत्तर

2.1.8. प्रमुख शब्दावली

2.1.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

2.1.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- उदारवादी स्त्रीवाद के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- आपको उदारवादी स्त्रीवाद के महत्व के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- उदारवादी स्त्रीवाद के प्रमुख उद्देश्यों को समझ सकेंगे।
- प्रमुख उदारवादी स्त्रीवादी चिंतकों से परिचित हो सकेंगे।
- उदारवादी स्त्रीवादी विचारधारा के बारे में आपकी समझ विकसित कर सकेंगे।

2.1.1. प्रस्तावना

स्वतंत्रता, समानता के आदर्श जो कि पश्चिम की बुर्जुआ क्रांतियों के आधार बने, 17वीं-18वीं सदी की बुर्जुआ क्रांति ने इन्हीं आदर्शों पर राजशाही और सामंतवादी संरचनाओं को समाप्त करने तथा साधन संपन्न वर्चस्वशाली परिपाटी को पदच्युत कर देने की माँग की। बदलाव के इस दौर में प्रबोधन चिंतन ने व्यक्तियों के सोचने-विचार करने के प्रति उसकी क्षमता में विश्वास जागृत किया। एक उदार विचारधारा के तौर पर व्यक्ति के जीवन और स्वतंत्रता के विस्तृत दायरे की माँग बढ़ने लगी। इन संदर्भों के आधार पर निश्चित तौर पर यह कहा जा सकता है कि नागरिकता का विचार बुर्जुआ क्रांतियों की ही देन थी, जिसने नागरिकों को ऐसे अधिकार दिए जाने की कवायद की, जिससे उन्हें अलग नहीं किया जा सकता था। सामंतवाद के खात्मे, पूँजीवाद को प्रोत्साहन और आधुनिक लोकतंत्र को स्थापित करने में फ्रांस की क्रांति का विशेष महत्त्व है। वर्ष 1789 को फ्रांस की 90 प्रतिशत से अधिक आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाले मध्यम और निम्न वर्गों के लोगों ने राजशाही और सामंती सत्ता को नकार अपने आपको नेशनल असेंबली घोषित कर दिया। नेशनल असेंबली ने इसी साल नागरिक अधिकारों की घोषणा को अपना लिया, जिसमें व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास करते हुए घोषणा की गई कि, 'मनुष्य समान अधिकारों की स्वतंत्रताओं के साथ पैदा होता है और इसके साथ ही जीता है।' फ्रांस की क्रांति ने राजशाही और सामंती व्यवस्था को समाप्त कराने के साथ-साथ नागरिकता में सहभागिता की, एक राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था के सृजन की प्रक्रिया भी प्रारंभ की। लेकिन इस पूरी बहस में स्त्रियों का कोई स्थान नहीं था। प्रबोधनकालीन मतानुसार नागरिकता के विचार सिर्फ पुरुषों के लिए ही लागू होते थे।

आधुनिक राष्ट्र राज्य के उदय व उदारवाद की सीमित परिभाषा जैसे पश्चिम के समाजों में व्याप्त कट्टर पितृसत्तात्मक विचारों ने स्त्रियों की स्थिति और उनकी वैचारिकी को प्रभावित किया। मेंडले गुडरीथ का मानना है कि, "प्रबोधनकालीन कुछ लेखकों का स्त्रियों के प्रति विरोध और ज्यादातर क्रांतिकारी प्रवक्ताओं द्वारा इसका निष्ठापूर्ण अनुसरण आदि कुछ ऐसे कारण थे जो नागरिकता और व्यक्तिवाद के इस बहस से स्त्रियों को दरकिनार करते रहे।" सामाजिक समझौतावादी सिद्धांतकार उदारवाद, व्यक्तिवाद, समानता आदि का समर्थन कर रहे थे, लेकिन उनके इस उदारवादी पैरोकारी में भी स्त्रियाँ पूरी तरह से बाहर थीं। हाब्स, लॉक और रूसो जैसे समकालीन प्रगतिगामी विचारकों ने भी स्त्रियों को पुरुषों के अधीन रखा। यदि उन्होंने स्त्रियों को कुछ अधिकार दिए भी तो वे अधिकतर पुरुषों की सुविधा को ध्यान में रखकर ही। स्त्रीवादी चिंतक करोल पैटमैन बताती हैं कि इन सिद्धांतकारों अथवा दार्शनिकों का यह तर्क था कि, सामाजिक समझौते से पहले यौनिक समझौता हो गया था और इसके अनुसार स्त्रियों ने अपने नैसर्गिक अधिकार अपनी सुरक्षा के बदले पुरुषों को सौंपकर उनकी आज्ञाकारिणी बन गई थीं। स्त्रियों को नागरिक अथवा एक व्यक्ति के रूप में न स्वीकारने के लिए बहुत सारे तर्क गढ़े गए।

ऐसे परंपरागत पितृसत्तात्मक रूढ़िवादी सिद्धांतों, यहाँ तक कि राजनीतिक सिद्धांतों में जेंडरगत यथार्थ के बारे में सदियों से व्याप्त चुप्पियों को तोड़ने और उनपर प्रश्न उठाने का काम स्त्रीवादी सिद्धांतकारों द्वारा किया गया। उदारवादी स्त्रीवाद को एक प्रकार से स्त्रियों के अधिकारों और उनकी स्वतंत्र पहचान के संदर्भ में प्रबोधनकालीन चिंतन कहा जा सकता है। उदारवादी स्त्रीवादी विचारधारा अथवा सिद्धांत ने आजादी, समानता, एवं जनतांत्रिक मूल्यों और स्त्रियों की अधीनता के बीच व्याप्त अंतर्विरोधों को पहचानने का प्रयास किया। स्त्रीवाद के बुनियादी चिंतन की शुरुआत का श्रेय उदारवादी स्त्रीवाद को जाता है।

2.1.2. उदारवादी स्त्रीवाद

उदारवाद राजनीतिक चिंतन की एक विचारधारा है। इसके आरंभिक विचारकों में जेरमी बेंथम का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। उदारवादी स्त्रीवाद स्त्रियों द्वारा स्वयं के बारे में पुनर्सैद्धांतीकरण, पुनर्विचार और पुनर्रचना की व्यापक प्रक्रिया है। वस्तुतः उदारवादी स्त्रीवाद उदारवाद की दार्शनिक परंपराओं का अनुगमन करता है, जो 17वीं आर 18वीं सदी के दौरान पश्चिमी जगत में घटित आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों की उपज थी। एलिसन जैग्गर उदारवादी स्त्रीवाद के संदर्भ में अपनी राय प्रकट करते हुए कहती हैं कि, "दरअसल उदारवादी राजनीतिक चिंतन समान्यतः हमारी एकरूपता को दर्शाने के साथ मानवातावादी विचार को आगे बढ़ाते हुए तर्कविधान और बुद्धिवाद की पैरोकारी करता है।" प्रबोधनकालीन व्यक्तिवादी, प्राकृतिक एवं तर्क आधारित सामाजिक बुनावट के बरक्स पूरी दुनिया में स्त्रियों की पहचान पत्नी और माँ की भूमिका में ही थी। हालांकि 18वीं सदी की कुछ स्त्रीवादी अथवा स्त्री समर्थनकारी विचारों ने पश्चिमी जगत को प्रभावित करना शुरू कर दिया था। फ्रांस की क्रांति के दौरान ही ओलम्पी द गुजे ने पेरिस की गलियों में स्त्री अधिकारों के पर्चे भी बाँटे। स्त्रीवादी चिंतकों को प्रबोधनकालीन उदारवाद के आदर्शों से ओतप्रोत व्यक्तिवादी, प्रकृतिवादी, समानतावादी और मानवतावादी बदलाओं से उम्मीद थी। लेकिन उदारवाद की बुनियाद बने आजादी, समानता और न्याय के छद्म विचार सत्ताहीनता और घर की चहारदीवारी तक सीमित की गई स्त्रियों के वास्तविक जीवन के अनुभवों से पूर्णतः विपरीत थे। इस परिवर्तनगामी प्रबोधनकालीन उदारवादी धारा में उन्हें शामिल नहीं किया गया।

2.1.2.1. सैद्धांतिक पक्ष

आइए अब हम उदारवादी स्त्रीवाद की सैद्धांतिकी को समझने की कोशिश करते हैं। किसी भी विचारधारा को समझने के लिए उसके सैद्धांतिक पक्ष को समझना बहुत जरूरी होता है। इस दौर की समकालीन परिस्थितियों ने स्त्रियों के सामने बहुत सारे प्रश्न खड़े किए। उन्हें तार्किक आधार पर अपने अतीत के मूल्यांकन और वर्तमान की जद्दोजहद को समझने की एक नई प्रेरणा मिली। वर्ष 1792 में लंदन से मेरी वोलस्टोनक्राफ्ट (Mary Wollstonecraft) की पहली पुस्तक *विंडेकेशन ऑफ द राइट ऑफ वुमेन* प्रकाशित हुई। इसने स्त्रियों के बारे में व्याप्त गलत धारणाओं पर क्रांतिकारी हस्तक्षेप किया और स्त्रियों के

अधिकारों की पुरजोर हिमायत की गई। लड़के-लड़कियों के लिए स्थापित रूसो के आदर्श शिक्षा के मापदंडों का प्रतिवाद किया गया, जिसके मुताबिक लड़कों में विचारों का स्वातंत्र्य एवं निर्णय की क्षमता विकसित करना आवश्यक था, चूँकि ये गुण नागरिकत्व के लिए आवश्यक थे, जबकि लड़कियों के लिए इस बात की हिमायत की गई थी कि, उन्हें अपने पति एवं पुरुष संरक्षकों को खुश करने की कला आनी चाहिए और साथ ही उन्हें आज्ञाकारिणी, सद्गुणी और सदाचारी भी होना चाहिए। वोलस्टोनक्राफ्ट का यह तर्क था कि, स्त्रियों को राजनीतिक अधिकारों से वंचित करने का कोई तार्किक आधार नहीं है और यदि तार्किकता ही राजनीतिक अधिकारों को प्रयोग करने में व्यक्ति की कुशलता का पैमाना है, तो स्त्रियों को सार्वजनिक जीवन की हिस्सेदारी से वंचित करने का कोई आधार नहीं है। उनका अधिक जोर स्त्रियों के व्यक्तित्व विकास पर रहा। उनका तो यह भी मानना था कि यदि पुरुषों को भी स्त्रियों की भाँति बंद वातावरण में रखा जाए तो वो भी स्त्रियों की तरह कथित व्यवहार करने लगेंगे।

बाद के समय में हैरियट टेलर और जान स्टुअर्ट मिल ने मिलकर उदारवादी स्त्रीवादी विचारधारा को और व्यापकता प्रदान करने का काम किया। इस कड़ी में उन्होंने स्त्री मुद्दों और उससे जुड़ी समस्याओं की एक निबंध श्रंखला प्रकाशित की। 19वीं सदी के मध्य में द *सब्जेक्सन ऑफ वुमेन* पुस्तक के माध्यम से उन्होंने काम और परिवार की पारंपरिक संरचनाओं को प्रश्नांकित करते हुए कहा कि ऐसी व्यवस्थाएँ स्त्रियों को न केवल निजी दायरे (घर की चार दीवारी) तक सीमित व प्रतिबंधित करती हैं, बल्कि उन्हें चयन के अधिकार से भी वंचित करती हैं। वोलस्टोनक्राफ्ट और मिल दोनों इस बात का समर्थन करते हैं कि स्त्रियाँ मानव जाति का सदस्य होने के नाते तार्किकता में सक्षम होने के साथ ही पुरुषों की भांति समान प्राकृतिक अधिकारों की भी हकदार होती हैं। उनकी अतार्किकता, भावनात्मकता, निर्णय की अक्षमता आदि का स्पष्ट रूप से खंडन करते हुए कहते हैं कि यह कथित भिन्नता वास्तव में उनकी परवरिश, चयन की आजादी का अभाव, अवसरों की अन-उपलब्धता एवं उनके दोषपूर्ण सामाजिकीकरण की उपज मात्र होती है। मिल का यह विश्वास था कि परिवार के भीतर क़ानूनी असमानता दूर हो जाने से परिवार एक शैक्षणिक संस्था बन जाएगी। इससे यह भी कहा जा सकता है कि शायद वे परिवार को सामाजिक पुनरुत्पादन की इकाई के रूप में देखेते रहे हों। हालांकि सुजेन मोलर ओकिन, मिल के विचारों की तुलना में टेलर के विचारों को अधिक स्त्रीवादी मानते हुए कुछ तर्क देती हैं, जिनमें से कुछ एक-टेलर का मानना था कि स्त्रियों को समान नागरिक तथा राजनीतिक अधिकार हासिल हो जाने के बाद विवाह संबंधी सारे कानूनों को निरस्त कर दिया जाना चाहिए, जबकि मिल महज तलाक संबंधी क़ानूनों में कुछ नरमी चाहते थे। बावज़ूद, स्त्रियों के लिए समानता और मताधिकार प्रदान किए जाने की पैरवी से जुड़े मिल के विचारों को बड़े पैमाने पर राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रतिरोध का सामना करना पड़ा।

बुद्धिवाद और तार्किकता में बढ़ते विश्वास के साथ-साथ प्रबोधनकालीन क्रांति, राजशाही और सामंती प्रथा की समाप्ति के दौर में जो खासकर पुरुष वर्ग के लिए ही था ऐसे में उदारवादी स्त्रीवादी विचार

अपने आप में काफी रेडिकल (क्रांतिकारी) था। इन उदारवादी स्त्रीवादी विचारों के फलस्वरूप स्त्रियों के जीवन में सकारात्मक सुधार लाने वाली कई गतिविधियाँ सामने आने लगीं। स्त्रियों के लिए स्कूलों की स्थापना, महिला ट्रेड यूनियन, स्त्री अधिकारों से जुड़े संगठनों की स्थापना जैसे बहुत सारे सुधारवादी पहल इसी कड़ी का हिस्सा थे। स्त्रियों की सदियों से चली आ रही ऐसी स्थिति में स्थायी सुधार लाने हेतु उदारवादी स्त्रीवादी विचारधारा की कुछ बुनियादी संकल्पनाएं बेहद महत्वपूर्ण थीं।

2.1.3. उदारवादी स्त्रीवाद के प्रमुख मुद्दे

सदियों से चली आ रही सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक मान्यताओं में स्त्रियों की दोयम स्थिति जेंडर आधारित भिन्नताओं, निजी एवं सार्वजनिक जीवन की जटिलताओं को सरल और समतावादी बनाने के लिए उदारवादी स्त्रीवादी विचार धारा के कुछ प्रमुख बुनियादी उद्देश्य अथवा मुद्दे रहे हैं। इन्हीं कुछ मुद्दों के साथ स्त्रीवाद की यह धारा स्त्रियों के मूलभूत अधिकारों की वकालत करती है। उदारवादी स्त्रीवादी चिंतन परंपरा के अनुसार सामाजिक समरसता की बहाली के लिए आर्थिक अवसरों, क़ानूनी समानता एवं नागरिक अधिकारों तक सबकी पहुँच आवश्यक है। उदारवादी स्त्रीवाद के कुछ प्रमुख मुद्दे निम्नलिखित हैं।

2.1.3.1. समान शिक्षा

उदारवादी स्त्रीवादी विचारधारा विवेक और प्रबोधन युग की उपज है। वैज्ञानिकता को मान्यता मिलने के साथ-साथ तर्क विधान को महत्त्व दिया जाने लगा था। तर्कवाद एवं प्रकृतिवाद उदारवादी स्त्रीवादी चिंतन की प्रमुख कड़ी रहे हैं। उदारवादी चिंतन ने पूर्व में प्रतिपादित आदर्श शिक्षण प्रणाली की केंद्रीयता पर प्रश्न उठाया। उनका मानना था कि, स्त्रियों एवं पुरुषों के शैक्षिक विषयों के चयन में लैंगिक आधार पर कोई भेद-भाव न किया जाए। उदारवादी स्त्रीवादियों के अनुसार स्त्रियों की दासता का प्रमुख कारण भ्रष्ट सामाजीकरण और स्त्रियों को ज्ञान एवं ज्ञान के स्रोतों से दूर रखा जाना रहा है। पुरुषों ने उन्हें ज्ञान और तर्क से दूर रखकर सदियों से दासता की बेड़ियों में जकड़े रखा है। इन्हीं कारणों को देखते हुए उदारवादी स्त्रीवादी विदुषियों ने स्त्रियों के लिए समान शिक्षा के मसौदे को अपने मुद्दों में शामिल किया।

2.1.3.2. समान आजादी/स्वतंत्रता

उदारवादी स्त्रीवादी चिंतकों का मानना था कि शिक्षा के साथ-साथ स्त्रियों को हर क्षेत्र और मामलों में बराबर की आजादी हो, क्योंकि उनका मानना था कि स्त्रियाँ वह सब कुछ कर सकने में सक्षम हैं जो पुरुष कर सकता है। बशर्ते उन्हें भी पुरुषों के समान शिक्षा, विवाह, रोज़गार आदि मुद्दों पर स्वयं के निर्णय लेने की आजादी और अवसरों की समान उपलब्धता हो। स्त्रियों को घर या घर से बाहर काम की आजादी, बोलने की आजादी आदि के क्रम में ही स्त्रीवाद की यह धारा स्त्री-पुरुष के लिए निर्धारित परंपरागत काम के बंटवारे की सीमा रेखा को समाप्त किए जाने की भी सिफारिश करती है।

2.1.3.3. समान मताधिकार

अमरीकी स्वाधीनता की घोषणा, नागरिक अधिकारों की फ्रांसीसी घोषणा आदि ने पूर्व की राजनीतिक अधिसत्ता के मनमाने अतिक्रमण से व्यक्तिगत आजादी का मार्ग प्रसस्त किया। मताधिकार एवं क़ानूनी समानता इसकी पूरक शर्त थी। इसे यूरोपीय देशों में 19वीं सदी से लेकर 20वीं सदी तक तमाम संघर्षों के साथ विस्तारित किया गया। वर्ष 1870 में फ्रांस में संवैधानिक रूप से सार्वभौमिक मताधिकार की घोषणा की गई, लेकिन स्त्रियाँ इससे वंचित रखी गई। मैडम बारबरॉज ने कहा कि जब संविधान द्वारा सभी फ्रांसीसियों को मताधिकार प्राप्त है, तो इसके मुताबिक स्त्रियाँ भी क़ानूनी रूप से वोट देने की हकदार हैं लेकिन कोर्ट ने इसका खंडन करते हुए कहा कि सभी फ्रांसीसियों में स्त्रियाँ शामिल नहीं। इसकी पुष्टि में कई मनगढ़ंत तर्क भी दिए गए।

उदारवादी स्त्रीवादी बुद्धिजीवियों के अनुसार पुरुषों की बराबरी के लिए स्त्रियों को मताधिकार मिलना आवश्यक है। क्योंकि वोट का अधिकार न सिर्फ व्यक्ति के अपने राजनीतिक अभिव्यक्ति अथवा दृष्टिकोण को व्यक्त करने का अवसर प्रदान करता है, बल्कि इससे उन संरचनात्मक व्यवस्थाओं और क्रिया-कलापों को भी चुनौती मिलती है, जो उसके निजी अथवा अन्य किसी के शोषण का निमित्त होती हैं। नागरिक जीवन की लोकतांत्रिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उदारवादी स्त्रीवादी विचारधारा का एक अहम मुद्दा स्त्री मताधिकार की माँग भी रहा है। अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में स्त्री मताधिकार संगठनों के माध्यम से मताधिकार की माँग जारी रही। *साफ्रिज* आंदोलन द्वारा स्त्री मताधिकार को एक राजनीतिक अधिकार के रूप में देखा जा रहा था, क्योंकि मताधिकार नागरिकता के बोध के साथ-साथ व्यक्ति को देश और समाज के लिए उत्तरदायी भी बनाता है।

उदारवाद के बुनियादी तत्व समानता, शिक्षा, स्वतंत्रता, नागरिकता जैसे तमाम अधिकार जो एक व्यक्ति को मिलने चाहिए। उन सभी तक स्त्रियों की पहुँच सुनिश्चित कराने के लिए जो भी आवश्यक पहलू होने चाहिए उन सभी मुद्दों को उदारवादी स्त्रीवादी एजेंडे में शामिल किया गया।

2.1.4. उदारवादी स्त्रीवाद के प्रमुख समर्थक

उदारवादी स्त्रीवादी विचारधारा के समर्थकों में मेरी वोलस्टोनक्राफ्ट, जॉन स्टुअर्ट मिल, हैरियट टेलर, बेट्टी फ्राइडन, जेरेमी बैंथम, साराह ग्रीमके, एलिजाबेथ कैडी स्टेनम, ग्लोरिया स्टेनम, ल्यूसी स्टोन, सुजन बी. एंथनी एवं एलिसन जैग्गर आदि स्त्रीवादी चिंतकों का नाम प्रमुखता से लिया जाता है, जिनमें से कुछ स्त्रीवादी विचारकों के उपलब्ध चित्रों को भी नीचे दिया गया है।

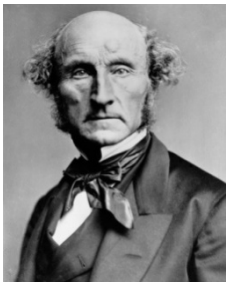

सभी फोटो स्रोत- गूगल और विकिपीडिया

बाएं से दाएं क्रमशः मेरी वोलस्टोनक्राफ्ट, जॉन स्टुअर्ट मिल, बेट्टी फ्राइडन और एलिसन जैग्गर के चित्र दिए गए हैं।

2.1.5. सारांश

इस इकाई में उदारवादी स्त्रीवादी विचारधारा का विस्तृत वर्णन किया गया है। स्त्रीवाद की इस प्राथमिक और सबसे महत्वपूर्ण विचारधारा की भूमिका निर्माण की परिस्थितियों पर बात करते हुए उन चिंतकों के बारे में भी चर्चा की गई है जो इसके सूत्रधार रहे। उदारवादी स्त्रीवाद की सैद्धांतिक बहसों के साथ-साथ इसके प्रमुख मुद्दों, जैसे- नागरिकता, मताधिकार, समान शिक्षा, समान अधिकार आदि की वैचारिक एवं व्यवहारिक भूमिकाओं की विवेचना की गई है। उदारवाद के आदर्शों के आधार पर स्त्रियों की बराबरी के अधिकार को उदारवादी स्त्रीवाद ने किस प्रकार स्थापित करने के प्रयास किए हैं, यह इस इकाई के माध्यम से स्पष्ट ज्ञात किया जा सकता है। निष्कर्ष रूप में कहें तो इस इकाई के माध्यम से उदारवादी स्त्रीवादी विचारधारा की एक विस्तृत बहस को प्रस्तुत किया गया है।

2.1.6. बोध प्रश्न

1. उदारवादी स्त्रीवाद क्या है? विवेचना करें।
2. उदारवादी स्त्रीवादी विचारधारा के प्रमुख मुद्दे क्या थे?
3. मताधिकार के महत्व की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए?
4. मेरी वोलस्टोनक्राफ्ट कौन सी स्त्रीवादी हैं?
   (a) मार्क्सवादी स्त्रीवादी
   (b) उदारवादी स्त्रीवादी
   (c) रेडिकल स्त्रीवादी
   (d) समाजवादी स्त्रीवादी

2.1.7. अपनी प्रगति की जांच के लिए अपेक्षित उत्तर

- अपनी प्रगति जांच 1. के उत्तर हेतु अवलोकन करें (1.2)
- अपनी प्रगति जांच 2. के उत्तर हेतु अवलोकन करें (1.2.1)
- अपनी प्रगति जांच 3. के उत्तर हेतु अवलोकन करें (1.3.1)

2.1.8. प्रमुख शब्दावली

- **उदारवाद**- उदारवाद राजनीतिक चिंतन की एक विचारधारा है, जिसके अंतर्गत मनुष्य को विवेकशील प्राणी मानते हुए उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का दर्शन निहित है।
- **स्त्रीवाद**-स्त्रीवाद एक प्रकार से राजनैतिक आंदोलन है, जो स्त्री-पुरुष के समान अवसरों और अधिकारों में विश्वास करता है।
- **पितृसत्ता**- यह सामाजिक संरचना और क्रियाओं की ऐसी व्यवस्था है, जिसमें पुरुषों का स्त्रियों पर वर्चस्व रहता है तथा पुरुष अलग-अलग रूपों में स्त्रियों का शोषण एवं उत्पीड़न करते हैं।
- **तार्किकता**- तथ्यों अथवा कारणों के आधार पर किसी तर्क को उचित अथवा अनुचित ठहराने की स्थिति ही तार्किकता है।
- **प्रबोधन-** पुनर्जागरण काल के दौरान वैज्ञानिक प्रगति ने परंपरा की तुलना तर्क विधान और अन्वेषन की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। वैज्ञानिकता और तार्किकता की इस अवस्था को प्रबोधन के नाम से जाना गया।

- **जेंडर**- स्त्रीवादी चिंतन के अनुसार जेंडर एक प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक निर्मिति है। यह पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व के बीच चारित्रिक लक्षणों का परिचायक है।

2.1.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

- टांग, आर. (2009). *फेमिनिस्ट थॉट*. कोलार्डो: वेस्ट व्यू प्रेस.
- डोनवन, जे. (1992). *फेमिनिस्ट थीअरी*. न्यूयार्क: द कॉन्टिनम पब्लिशिंग कंपनी.
- रोजर, एम. एफ. (1998). *कंटेम्परेरी फेमिनिस्ट थीअरी*. यूनाइटेड स्टेट अमरीका: द म्क्ग्रा-हिल कंपनी.
- मिल, जे. एस. (1869). द *सब्जेक्सन ऑफ वुमेन*. लंदन: लॉगमैन्स, ग्रीन, रीडर एण्ड डायर.
- कुमार, आर. (2006). *हिस्ट्री ऑफ डुइंग*. न्यू दिल्ली: जुबन एन इंप्रिंट ऑफ काली फॉर वुमेन.
- हॉक्स, बे. (2000). *फेमिनिस्म इज फॉर एव्रीबाडी: पैशनट पॉलिटिक्स*: लंदन. प्लूटो प्रेस.
- आर्य, सा. मेनन. नि. & लोकनीता, जि. (2010). *स्त्रीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे*. दिल्ली विश्वविद्यालय: हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय.
  - जोशी, गो. (2011).*भारत में स्त्री असमानता*. दिल्ली विश्वविद्यालय: हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय.
  - कुमार, रा. & सिंह, रमा. शंकर. 'दिव्यदृष्टि' (अनु. सं.).(2009).*स्त्री संघर्ष का इतिहास*. नयी दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

इकाई-2 रेडिकल

इकाई की रूपरेखा

2.2.0. उद्देश्य

2.2.1. प्रस्तावना

2.2.2. रेडिकल स्त्रीवाद

2.2.2.1. रेडिकल उदारवादी स्त्रीवादी

2.2.2.2. रेडिकल सांस्कृतिक स्त्रीवादी

2.2.3. बुनियादी अवधारणा

2.2.4. रेडिकल स्त्रीवादी अंतर्दृष्टियाँ

2.2.4.1. प्रजनन संबंधी बहस

2.2.4.2. पोर्नोग्राफ़ी बहस

2.2.5. रेडिकल स्त्रीवाद की प्रमुख समर्थक

2.2.6. सारांश

2.2.7. बोध प्रश्न

2.2.8. अपनी प्रगति जाँच के लिए अपेक्षित उत्तर

2.2.9. प्रमुख शब्दावली

2.2.10. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.2.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप-

- रेडिकल स्त्रीवाद के बारे में जानेंगे।
- आपको रेडिकल स्त्रीवाद के महत्व के बारे में जानकारी प्राप्त होगी।
- रेडिकल स्त्रीवाद के प्रमुख उद्देश्यों के बारे में जानकारी प्राप्त हो पाएगी।
- प्रमुख रेडिकल स्त्रीवादी चिंतकों से परिचित होंगे।
- इस इकाई को पढ़कर रेडिकल स्त्रीवादी विचारधारा के बारे में आपकी समझ विकसित होगी।

2.2.1. प्रस्तावना

स्त्री अधिकारों की पैरोकारी करने वाले शुरुआती समूहों का मानना था कि घर और घर के दायरे से बाहर व्याप्त जेंडर असमानता को समाप्त करने के लिए मूलभूत ढाँचे में सुधारात्मक परिवर्तनों का सहारा लिया जा सकता है। उदारवादी राजनीतिक दर्शन में विश्वास करने वाली स्त्रीवादी चिंतन कर्ताओं का विश्वास था कि शिक्षा, क़ानून, मताधिकार जैसी बुनियादी नागरिक जरूरतों के प्राप्त हो जाने से स्त्री-पुरुष के बीच व्याप्त असमानताएं समाप्त हो जाएंगी साथ ही इनका विश्वास था कि कानूनी तौर पर समानता का अधिकार मिल जाना ही स्त्रियों को आला दर्जे का नागरिक बना देने में काफी होगा। 20वीं सदी के मध्य तक आते-आते बहुत सारे यूरोपीय और अमेरिकी देशों और यहाँ तक तीसरी दुनिया के बहुत सारे देशों में भी स्त्रियों को मताधिकार के साथ-साथ नागरिकता से जुड़े बुनियादी अधिकार प्राप्त हुए। इस दौरान पश्चिम के तमाम देशों में नए आत्मविश्वास एवं भविष्योन्मुख आशावाद का उभार हो रहा था। मानव विकास के इस ऐतिहासिक प्रगति के मूल में आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक विकास के साथ-साथ उन्नत तकनीकी के विस्तार और औद्योगिक विकास जैसे प्रमुख कारण निहित थे।

लेकिन 60 के दशक में आंशिक तौर पर उदारवादी स्त्रीवाद के सुधारात्मक नीतियों के बरक्स प्रतिक्रिया के रूप में और अंशतः लिंगवाद एवं लैंगिक दुराग्रह के विरोध स्वरूप स्त्रीवाद की एक नई विचारधारा सामने आ रही थी जो सुधारवादी तरीके में विश्वास के बजाए क्रांतिकारी बदलाव चाहती थी और जो समान नागरिक अधिकारों के लिए आंदोलनरत थी। इन आंदोलनों में अधिकतर कालेज के विद्यार्थियों और व्यवस्था से अलग-थलग पड़े तथा बदलाव के लिए बेचैन एक बड़े युवा वर्ग का प्रतिनिधित्व करते लोग थे, जिसमें काफी संख्या युवा स्त्री विद्यार्थियों की थी। मनुष्य और मानवता की मुक्ति एवं कल्याण के लिए खासकर अमेरिका में काम कर रहे न्यू लेफ्ट और मार्कसिस्ट द्वारा चलाए जा रहे आंदोलनों में बराबर की हिस्सेदारी के बावज़ूद स्त्री होने के नाते दोयम दर्जे का वर्ताव तथा साथी पुरुष आंदोलन कर्ताओं के लैंगिक दुराग्रह के कटु अनुभवों ने इन स्त्री आंदोलनकारियों को अपने समान नागरिक अधिकारों के साथ ही समान सामाजिक स्थिति को पाने और बनाए रखने के लिए नए सिरे से सोचने को मज़बूर कर दिया। यह मुद्दा इसलिए भी गंभीर था, क्योंकि आंदोलन में सक्रिय स्त्रियों ने स्त्री-पुरुष की सार्वजनिक स्तर पर हुई इस सामूहिक भागीदारी में पाया कि स्त्रियों सिर्फ अपने घर परिवार में ही शोषित नहीं थीं, बल्कि वे उन सामाजिक आंदोलनों एवं संगठनों में भी उपेक्षित थीं, जो इंसान की मुक्ति के लिए संघर्षरत होने का दावा कर रहे थे।

नागरिक अधिकारों एवं मानव हितों के लिए संघर्ष का दावा करने वाले तत्कालीन आंदोलनों, जिसमें स्त्रियों की भी बराबर की सक्रियता थी। बावज़ूद इसके पुरुष वर्चस्व वाले तथाकथित समतावादी आंदोलनों की जेंडरगत विसंगतियों ने न्यू लेफ्ट जैसे तमाम संगठनों में कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाली युवा स्त्रियों को बहुत निराश किया। अलग-अलग संगठनों में सक्रिय स्त्रियों ने पाया कि यहाँ भी लैंगिक प्रश्नों पर मुख्यधारा जैसी ही सोंच है। ऐसी परिस्थिति में इन संगठनों से निकलकर स्त्रियों ने स्थानीय स्तर पर अपने

छोटे-छोटे संगठन बनाने शुरू कर दिए। देखा जाए तो यहीं से स्त्रीवादी खेमे में एक प्रकार का रेडिकल विचार पनपता है जो वास्तव में स्त्रियों को एक व्यक्ति के रूप में स्थाई पहचान दिलाने तथा स्त्री उत्पीड़न के लिए ज़िम्मेदार मूल कारणों की तलाश के लिए संघर्षरत है। जो फ्रीमैन लिखती भी हैं कि आम धारणा के विपरीत उग्रवादी (रेडिकल) स्त्रीवाद न तो विश्वविद्यालयों में प्रारंभ हुआ, न ही इसको स्टूडेंट डेमोक्रेटिक सोसाइटी के सदस्यों ने प्रारंभ किया। इसके समर्थन में कुछ छात्राएं थीं, जिनमें से अधिकतर की उम्र 30 वर्ष से कम थी। जमीनी स्तर के इन छोटे-छोटे रेडिकल स्त्री संगठनों ने अमेरिका में अपनी एकजुटता का प्रदर्शन करते हुए यहाँ के कुछ प्रमुख बड़े शहरों में रेडिकल स्त्री संगठन स्थापित किए। रेडिकल स्त्रीवादी चिंतकों ने पितृसत्तात्मक समाज में व्याप्त स्त्रियों के दमन और शोषण की व्यापकता से अन्य स्त्रियों को अवगत कराने अथवा जागरूकता फैलाने हेतु छोटे-छोटे समूहों में अपने अनुभवों को साझा करने लगीं। इन अनुभवों की साझेदारी ने लगभग सभी स्त्रियों की समस्याओं को एक धरातल पर लाने का काम किया तथा तमाम स्त्रियों के निजी अनुभवों पर हुई बहस के आधार पर स्त्रियां इस तथ्य तक पहुँची कि समाज में व्याप्त जेंडरगत शोषण को समाप्त करने के लिए पितृसत्ता के प्रतिमानों को समाप्त करना होगा। ऐसे बेहद संजीदा मसलों पर इन रेडिकल स्त्रीवादी समूहों ने सार्वभौमिक बहनापे और 'व्यक्तिगत ही राजनीतिक है' जैसे नारों के साथ पितृसत्ता के खिलाफ संघर्ष का आगाज किया।

2.2.2. रेडिकल स्त्रीवाद

आइए अब रेडिकल स्त्रीवाद के बारे में जानते हैं। क्या आपको पता है कि स्त्रीवाद की इस धारा को रेडिकल स्त्रीवाद क्यों कहा गया? दरअसल रेडिकल स्त्रीवाद, स्त्रीवाद की एक ऐसी विचारधारा एवं दृष्टिकोण है जो कि समाज में विभिन्न स्तरों पर व्याप्त पुरुषवर्चस्व को क्रांतिकारी तरीके से समाप्त करने की प्रतिबद्धता के रूप में जाना जाता है। रोज मायर के अनुसार रेडिकल स्त्रीवादी, स्त्रियों के शोषण का मूलभूत कारण सेक्स और जेंडरगत मान्यताओं की व्यापकता को मानते हैं। जेंडर स्त्री-पुरुष संबंधों पर आधारित सामाजिक निर्मिति होती है, जो पितृसत्तात्मक संरचना को मज़बूती प्रदान करने का काम करती है। रेडिकल स्त्रीवादी विचारकों ने समाज में व्याप्त लिंग आधारित स्त्री-पुरुष की भूमिकाओं से जुड़े मुद्दे को प्रमुखता से उठाया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से इन बातों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है कि किस प्रकार विवाह, परिवार, यौनिकता, विषमलैंगिकता, वेश्यावृत्ति आदि लिंग आधारित भूमिकाओं को प्रसारित करते हैं। रेडिकल स्त्रीवाद का यह भी मानना है कि पितृसत्तात्मक सामाजिक परिवेश में स्त्री-पुरुष संबंध वर्चस्व और शोषण आधारित होते हैं।

प्रारंभिक रेडिकल स्त्रीवादी जो नागरिक अधिकार और युद्ध विरोधी आंदोलनों पर केंद्रित नववामपंथी संगठनों में सक्रिय थीं। पारंपरिक संस्थाओं की तरह लैंगिक भेदभाव तथा जेंडरगत दुराग्रहों के चलते प्रतिरोध स्वरूप पुरुषों से इतर अपने छोटे-छोटे स्त्री समूह बनाकर कार्य करने लगीं। ये शुरुआती रेडिकल स्त्रीवादी समूह कटु बोलने, उग्र व्यवहार करने आदि के लिए जाने जाते थे। वस्तुतः 1960 और 70

के दशक के मध्य में हुए आधुनिक रेडिकल स्त्रीवाद के उदय में उस दौरान की तीन पुस्तकों की अहम भूमिका रही, जिनमें से पहली सिमोन द बेउआर की पुस्तक द *सेकेंड सेक्स* थी जो 1949 में फ्रेंच तथा 1953 में अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुई। इसने स्त्रीवाद की एक समझ विकसित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया उन्होंने कहा सेक्स को जेंडर से अलग समझना चाहिए। रेडिकल स्त्रीवाद की सैद्धांतिक बहस को और मुखर करने में केट मिलेट की *सेक्सुअल पॉलिटिक्स* जो कि 20वीं सदी के अमेरिकन, फ्रेंच एवं अंग्रेज़ी साहित्य में व्याप्त यौन संबंधी विषयवस्तुओं और रोमांटिसिज़्म का विद्वतापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करती है। शुलामिथ फायरस्टोन की पुस्तक द *डायलेक्टिक्स ऑफ सेक्स* जो पितृसत्ता के इतिहास का विश्लेषण ऐतिहासिक भौतिकवाद की मार्क्सवादी पद्धति के आधार पर करती है, जिसमें उन्होंने आर्थिक-वर्ग संघर्ष और लिंग-वर्ग संघर्ष की समानताओं की तुलना की है। वैसे तो रेडिकल स्त्रीवादी सिद्धांत का विकास 70 के बाद हुआ, लेकिन इन स्रोतों और रचनाओं का इसमें महत्वपूर्ण योगदान रहा है। रेडिकल स्त्रीवाद के संदर्भ में एक बात और ध्यान रखने योग्य है, वह यह है कि रेडिकल स्त्रीवाद का विस्तार अलग-अलग रूपों अथवा क्षेत्रों में हुआ। रेडिकल स्त्रीवादियों की *दो उपधाराएं* प्रमुखता से जानी जाती हैं।

2.2.2.1. रेडिकल उदारवादी स्त्रीवादी

इनका मानना है कि स्त्रियों के शोषण और दमन का प्रमुख कारण पितृसत्तात्मक व्यवस्था है न कि व्यक्तिगत तौर पर पुरुष। रेडिकल उदारवादी स्त्रीवादी लिंग और सेक्स में भेद करते हुए मानती हैं, पुरुष वर्चस्व वाले सामाजिक संरचना में स्त्रियों पर कठोर यौन संबंधी नियम लगाए जाते हैं। इन कठोर नियमों का विरोध करते हुए ये कहती हैं कि स्त्रियों को अपनी यौन प्राथमिकताओं को चुनने की पूरी आजादी होनी चाहिए। साथ ही ये एकल परिवार के स्थान पर संयुक्त परिवार को वरीयता देती हैं। मातृत्व/ममता/ममतामयी जैसी स्टीरियोटाइप(रूढ़िवादी) संकल्पनाओं को तोड़ने के लिए मातृत्व के अन्य विकल्पों को सुझाती हैं। ये जेंडर को सेक्स से बिल्कुल अलग पाती हैं और कहती है, पुरुषवादी समाज में जड़ीभूत जेंडर क़ानून अथवा मान्यताएँ स्त्रियों को निष्क्रिय/दब्बू और पुरुषों को सक्रिय रूप में प्रस्तुत करने का काम करते हैं।

2.2.2.2. रेडिकल सांस्कृतिक स्त्रीवादी

इनके अनुसार विषमलैंगिकता स्त्रियों के ऊपर पुरुषों के वर्चस्व का माध्यम है। ये पारंपरिक विवाह संस्थाओं को भी इस लिहाज से चुनौती देती हैं, क्योंकि यह विषमलैंगिक संबंधों का प्रतिनिधित्व करता है। रेडिकल सांस्कृतिक स्त्रीवादियों के अनुसार इसी पुरुष वर्चस्व की वजह से बलात्कार, यौनिक हिंसा एवं वेश्यावृत्ति जैसी क्रूरताओं से स्त्रियों को जूझना पड़ता है। ये स्त्रीवादियों को समलैंगिक होने पर भी जोर देती हैं। इस विचारधारा के मुताबिक अश्लील साहित्य भी पुरुषों को स्त्रियों पर हिंसा करने के लिए प्रेरित करता है।

शार्लोट बंच समलैंगिकता के संदर्भ में लिखती हैं कि दरअसल समलैंगिक होने का अर्थ है विषमयौनिकता के साथ जुड़ाव, उस पर निर्भरता और उसके समर्थन का निषेध।

2.2.3. बुनियादी अवधारणा

सामान्यतः किसी भी विचारधारा अथवा सिद्धांत की अपनी शुरुआती अंतर्दृष्टि एवं अवधारणा होती है। तो जाहिर सी बात है कि रेडिकल स्त्रीवाद की भी अपनी कुछ बुनियादी अवधारणा होगी। रेडिकल स्त्रीवादी विचारकों का यह मानना है कि लिंग आधारित जेंडर मान्यताएँ हमारे जीवन के लगभग हर पहलू को प्रभावित करती हैं। और वे इतनी व्यावहारिक एवं सर्वव्यापी होती हैं कि आम तौर पर हमारा ध्यान उन पर नहीं जाता। फायरस्टोन की पुस्तक द *डायलेक्टिक्स ऑफ सेक्स* के हवाले से कहें तो 'सेक्स वर्ग की श्रेणी इतनी गहराई तक पहुँची है कि वह लगभग अदृश्य सी जान पड़ती है'। वास्तव में यह वाक्य रेडिकल स्त्रीवाद की व्यापक अंतर्दृष्टि को रेखांकित करता है। स्त्रीवाद की इस वैचारिक धारा का उद्देश्य लिंगों के आधार पर व्याप्त विभेदों को उजागर करना है जो न सिर्फ क़ानून, रोज़गार, जैसे क्षेत्रों तक ही सीमित है, बल्कि हमारे व्यक्तिगत संबंधों में भी गहराई से जुड़ी है। सभी स्त्रीवादी विचारक/चिंतक इस बात पर एकमत हैं कि स्त्री-पुरुष संबंधों एवं दायित्वों का जेंडर आधारित विभाजन प्रकृति द्वारा नहीं, बल्कि पितृसत्तात्मक समाज द्वारा किया गया है तथा उसे अभी तक जारी रखा गया है। दुनिया भर की तमाम संस्कृतियाँ भले ही अलग-अलग मूल्यों का प्रतिपादन करती हों, लेकिन आम तौर पर पुरुषों को सकारात्मक, दिन, बलिष्ठ आक्रामक, ज़िम्मेदार आदि रूपों में देखती हैं, वहीं स्त्रियों को रात, कमज़ोर, निष्क्रिय आदि रूपों में परिभाषित करती हैं। इन मूल्यों की स्वीकारोक्ति पुरुषवादी समाज में आसानी से की जाती रही है।

रेडिकल स्त्रीवादियों की आरंभिक मान्यता यह भी है कि मानव इतिहास में सबसे पहले स्त्रियों का शोषण प्रारंभ हुआ। जो कि यौनिकता और लिंग आधारित पूर्वाग्रहों से पोषित रहा। इसके साथ ही स्त्री पर पुरुष वर्चस्व की निरंतरता के लिए शारीरिक, मानसिक एवं यौन वासना के स्तर पर कई भ्रांतियों का प्रसार भी किया जाता रहा है। रेडिकल स्त्रीवाद ऐसी उन तमाम भ्रांतियों एवं मान्यताओं को चुनौती देता है, जो पितृसत्तात्मक मूल्यों को मज़बूती प्रदान करने का काम करते हैं। वे नहीं चाहती कि पुरुषों द्वारा निर्धारित आचार संहिताओं का अनुसरण हमारी और आने वाली पीढ़ी की स्त्रियों को करना पड़े। रेडिकल स्त्रीवादी विचारक स्त्रियों के पारंपरिक संस्कृति पर आधारित नए मूल्यों का सृजन करना चाहते हैं।

2.2.4. रेडिकल स्त्रीवादी अंतर्दृष्टियां

1960 के दशक में स्त्रीवाद के इस नए उभार में सिमोन, केट मिलेट एवं फायरस्टोन जैसी कुछ विदूषी स्त्री लेखिकाओं का बड़ा योगदान रहा है। साथ ही न्यू लेफ्ट आंदोलनों से जुड़ी युवा पीढ़ी की स्त्रियों के कटु अनुभवों ने भी एक नई जमीन तैयार करने का कार्य किया। छोटे-छोटे स्त्री समूहों ने आपसी अनुभवों को साझा करने के दौरान पाया कि उनके निजी जीवन से जुड़ी समस्याएँ लगभग समान ही है। रेडिकल स्त्रीवादी विचारकों का मानना है कि स्त्रियों के शोषण का मूल कारण पूँजीवाद नहीं, बल्कि पितृसत्ता और उसका वर्चस्व है। सिमोन जेंडर संरचना को बदले जाने की बात करती हैं, और कहती हैं कि इससे लिंगों के बीच समानता का संबंध बनेगा। वे अपनी पुस्तक द *सेकेंड सेक्स* में कहती हैं कि कोई स्त्री के तौर पर जन्म नहीं लेता बल्कि उसे बनाया जाता है। छोटी-छोटी लड़कियों की परवरिश अथवा समाजीकरण भी इसी तरह किया जाता है कि आमतौर पर वे रूमानी प्रेम और अन्य तथाकथित स्त्रियोचित जेंडर भूमिकाओं को आसानी से स्वीकार लें। पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्त्रियों को उनके लिंग के आधार पर इस तरह परिभाषित करती है कि उनका विशिष्ट काम महज पुरुषों की काम वासना की पूर्ति करना, गर्भधारण एवं संतान को जनना और उसका पालन पोषण करना भर है। लेकिन रेडिकल स्त्रीवाद का मानना है कि पितृसत्ता के अंतर्गत स्त्रियाँ जबरन मातृत्व और यौन गुलामी के लिए अभिशप्त होती हैं। स्त्रीवाद की यह मुखर विचारधारा तो यहाँ तक कहती है कि मातृत्व कुल मिलाकर पितृसत्ता के तहत कराया गया बलात श्रम ही है।

रेडिकल स्त्रीवाद पुरुषवादी सामाजिक उत्पीड़नकारिता के विविध रूपों को रेखांकित करते हुए पितृसत्ता संस्था द्वारा स्त्रियों पर की जा रही वर्जनाओं को चुनौती देता है। मातृत्व के आंशिक अपवाद को छोड़ दिया जाए तो पितृसत्तात्मक संस्कृति के संदर्भ में स्त्रियों को महज यौन अर्थों में ही परिभाषित किया जाता रहा है। जेंडर एवं यौनिकता केवल हमारे निजी जीवन के ही नहीं, बल्कि हमारे पूरे सामाजिक तथा सार्वजनिक जीवन का सरोकार बनते हैं। रेडिकल स्त्रीवाद का सबसे महत्वपूर्ण नारा 'व्यक्तिगत ही राजनीतिक है' इस वाक्य को सही अर्थों में परिभाषित करता है। यह नारा घर के अंदर और बाहर की संरचनाओं में व्याप्त जेंडरगत प्रताड़नाओं की बखूबी पड़ताल करता है।

2.2.4.1. प्रजनन संबंधी बहस

एक व्यवस्थित प्रक्रिया के तहत स्त्रियों के अधीनीकरण के लिए पितृसत्तात्मक संरचना को ज़िम्मेदार मानते हुए फायरस्टोन यह भी स्वीकारती हैं कि इसकी जड़ में सेक्स की जीववैज्ञानिक असमानता है। पुनर्रुत्पादन में स्त्रियों की भूमिका का सामाजिक विकास में अहम योगदान रहा है। इसीलिए वे सेक्स-वर्ग संघर्ष की भी बात करती हैं, जबकि मार्क्स एवं एंगेल्स वर्ग संघर्ष को ही प्रमुखता देते हैं। गर्भधारण, बाल जन्म और उनके पालन पोषण की समस्याएँ स्त्रियों को प्राकृतिक रूप से कुछ हद तक कमज़ोर करती हैं। नतीजन उत्तरजीवता के लिए पुरुषों पर निर्भरता बढ़ती है और इसी का फायदा उठाकर पुरुषों ने अधीनता के

सार्वभौमिक ढाँचे को मज़बूती प्रदान की। इस वर्चस्व के ढाँचे को तोड़ने और स्त्रियों के इस उत्पीड़न को समाप्त करने के लिए फायरस्टोन क्रांतिकारी कदम उठाते हुए प्रजनन में स्त्री की भूमिका समाप्त कर देने का प्रस्ताव रखती हैं। वे लिंग-वर्ग प्रणाली के इस उत्पीड़न को समाप्त करने की संभावना को टेक्नोलॉजिकल क्रांति में देखती हैं। जब ग्लास की डिशों में गर्भधारण हो सकेगा और ग्लास के गर्भाशयों में गर्भावस्था पूरा होने तक रखा जा सकेगा। इसी के साथ समाधान स्वरूप एक और प्रस्ताव यह है कि ढीले-ढाले पारिवारिक संरचनाओं का निर्माण हो जहाँ वयस्कों और उनकी संताने साथ मिलकर रहा करेंगे तथा बच्चे की देख-रेख उनका लालन-पालन सामूहिक ज़िम्मेदारी होगी।

2.2.4.2. पोर्नोग्राफी बहस

रेडिकल स्त्रीवादी यौन अश्लीलता को प्रसारित करने वाले साहित्य को कटघरे में खड़ा करते हुए कहती हैं कि इसके द्वारा स्त्रियों की यौन इच्छाओं अथवा ज़रूरतों को बढ़ा चढ़ाकर पेश किया जाना एवं यौनिक कल्पनाओं (fantasies) को गढ़े जाने जैसी चीजें दरअसल उन्हें न सिर्फ यौन वस्तु के रूप में चित्रित किए जाने की प्रक्रिया है, बल्कि यह काल्पनिकताएँ स्त्रियों की पीड़ा, यौन प्रताड़नाओं, उनके अपमान आदि को कामोद्दीपन (eroticize) में बदल देती हैं। कैथलीन बैरी अश्लील साहित्य को 'सांस्कृतिक परपीड़न की विचारधारा' मानती हैं। इस संदर्भ में रॉबिन मॉर्गन कहती हैं 'अश्लील साहित्य सिद्धांत है और बलात्कार उसका व्यवहार'। रोमानियत की काल्पनिकता और स्त्रियों पर बलात यौन संबंध पितृसत्ता द्वारा लगभग साथ-साथ ही किया जाता है। संभवतः इन्हीं कारणों के आधार पर रेडिकल स्त्रीवादी यह तर्क देती हैं कि पितृसत्ता के अंतर्गत विषमयौनिकता अपने आप में स्त्रियों के लिए पीड़ादायक होती है।

2.2.5. रेडिकल स्त्रीवाद की प्रमुख समर्थक

रेडिकल स्त्रीवादी विचारधारा के समर्थकों में सिमोन द बेउआर, शुलामिथ फायरस्टोन, शार्लोट बंच, सुसान ग्रिफिथ, केट मिलेट, कैथरीन मैक्कीनान आदि स्त्रीवादी चिंतकों का नाम प्रमुखता से लिया जाता है, जिनमें से कुछ स्त्रीवादी विचारकों के उपलब्ध चित्रों को भी नीचे दिया गया है।

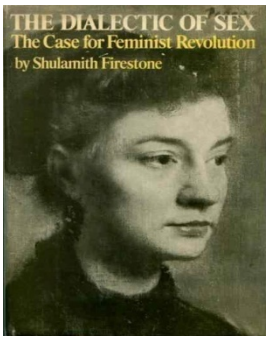

सभी फोटो स्रोत-गूगल और विकिपीडिया

बाएं से दाएं क्रमशः सिमोन द बेउआर, शुलामिथ फायरस्टोन एवं केट मिलेट के चित्र दिए गए हैं।

हालांकि रेडिकल स्त्रीवाद की कुछ कमियाँ भी रही हैं बावज़ूद इसके यह पितृसत्ता की उन सभी वर्चस्ववादी जटिलताओं को उजागर करने का काम करती है जो लगातार स्त्रियों को विभिन्न रूपों में कभी न कभी झेलने पड़ते हैं। रेडिकल स्त्रीवादी चिंतक स्त्री उत्पीड़न की जड़ में जैवकीय कारण प्रमुख मानती हैं।

2.2.6. सारांश

इस इकाई में रेडिकल स्त्रीवादी विचारधारा का वर्णन करते हुए इससे जुड़े बहुत सारे पहलुओं पर ध्यान दिया गया है। पुरुषवादी सामाजिक संरचना और व्यवस्था में स्त्रियों पर हो रहे जेंडरगत दुराग्रहों को मूल रूप से पहचानने और उन्हें समाप्त करने के लिए स्त्रीवाद की इस विचारधारा की बुनियादी अवधारणाओं को भी रेखांकित किया गया है। रेडिकल स्त्रीवादी बहस के प्रमुख विषयों प्रजनन, पुनरुत्पादन, पोर्नोग्राफ़ी आदि पर भी बात की गई है कि आखिर किस प्रकार इन माध्यमों के जरिए स्त्रियों का वस्तुकरण किया जा रहा है। जो इस विचारधारा की प्रमुख चिंता है। निष्कर्ष रूप में कहें तो इस इकाई के माध्यम से रेडिकल स्त्रीवादी विचारधारा की एक विस्तृत बहस को प्रस्तुत किया गया है।

2.2.7. बोध प्रश्न

5. रेडिकल स्त्रीवाद क्या है? विवेचना करें।

6. रेडिकल स्त्रीवाद की बुनियादी अवधारणाएँ क्या हैं?

7. रेडिकल स्त्रीवाद की उपधाराओं के बारे में लिखिए?

8. किन्हीं दो रेडिकल स्त्रीवादी विचारकों और उनकी एक-एक पुस्तक के नाम लिखिए?

2.2.8. अपनी प्रगति जांच के लिए अपेक्षित उत्तर

- अपनी प्रगति जांच 1. के उत्तर हेतु अवलोकन करें (2.2)
- अपनी प्रगति जांच 2. के उत्तर हेतु अवलोकन करें (2.2.2)
- अपनी प्रगति जांच 3. के उत्तर हेतु अवलोकन करें (2.4.1)

2.2.9. प्रमुख शब्दावली

रेडिकल- इस शब्द की जो सामान्य समझ हम लोगों के मन में बनती है, वैसा बिल्कुल नहीं हैं। दरअसल रेडिकल स्त्रीवाद में निहित रेडिकल का अर्थ मूल अथवा उग्र/मुखर सुधारवादी के रूप में लिया गया है।

स्त्रीवाद-स्त्रीवाद एक प्रकार से राजनैतिक आंदोलन है, जो स्त्री-पुरुष के समान अवसरों और अधिकारों में विश्वास करता है।

पितृसत्ता- यह सामाजिक संरचना और क्रियाओं की ऐसी व्यवस्था है, जिसमें पुरुषों का स्त्रियों पर वर्चस्व रहता है तथा पुरुष अलग-अलग रूपों में स्त्रियों का शोषण एवं उत्पीड़न करते हैं।

जेंडर- स्त्रीवादी चिंतन के अनुसार जेंडर सामाजिक-सांस्कृतिक निर्मिति है। यह पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व के बीच चारित्रिक लक्षणों का परिचायक है।

लिंग- स्त्री, पुरुष अथवा अन्य की जैविक पहचान।

पोर्नोग्राफ़ी- इस शब्द का प्रयोग यौन उद्बोधन अथवा इच्छाओं को प्रबल करने के उद्देश्य से यौन विषयक अश्लील साहित्य के चित्रण उनके प्रचार-प्रसार आदि के संदर्भ में किया जाता है।

समलैंगिकता- समान लिंगों के बीच यौन आकर्षण।

विषमलैंगिकता- विपरीत लिंगों के बीच यौन आकर्षण।

2.2.10. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

- टांग, आर. (2009). *फेमिनिस्ट थॉट*. कोलार्डो: वेस्ट व्यू प्रेस.
- डोनवन, जे. (1992). *फेमिनिस्ट थीअरी*. न्यूयार्क: द कॉन्टिनम पब्लिशिंग कंपनी.
- रोजर, एम. एफ. (1998). *कंटेम्परेरी फेमिनिस्ट थीअरी*. यूनाइटेड स्टेट अमेरिका: द म्क्ग्रा-हिल कंपनी.
- मिल, जे॰ एस. (1869). द *सब्जेक्सन ऑफ वुमेन*. लंदन: लॉगमैन्स, ग्रीन, रीडर एण्ड डायर.
- कुमार, आर. (2006). *हिस्ट्री ऑफ डुइंग*. न्यू दिल्ली: जुबन एन इंप्रिंट ऑफ काली फॉर वुमेन.
- हॉक्स, बे. (2000). *फेमिनिस्म इज फॉर एव्रीबाडी: पैशनट पॉलिटिक्स*: लंदन. प्लूटो प्रेस.
- आर्य, सा. मेनन. नि. & लोकनीता, जि. (2010). *स्त्रीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे*. दिल्ली विश्वविद्यालय: हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय.
- जोशी, गो. (2011). *भारत में स्त्री असमानता*. दिल्ली विश्वविद्यालय: हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय.
- कुमार, रा. & सिंह, रमा. शंकर. 'दिव्यदृष्टि' (अनु. सं.). (2009). *स्त्री संघर्ष का इतिहास*. नयी दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
  - http://vle.du.ac.in/mod/book/print.php?id=10255
  - http://www.debateonline.in/060512/
  - http://faculty.ycp.edu/~dweiss/phl380_feminist_thought/radical%20feminism%20notes.pdf (Notes on Radical Feminism)

इकाई 3 : समाजवादी व मार्क्सवादी

इकाई की रूपरेखा

2.3.0. उद्देश्य

2.3.1. प्रस्तावना

2.3.2. मार्क्सवादी स्त्रीवाद

2.3.2.1. मार्क्सवादी स्त्रीवाद की सीमाएं

2.3.3. समाजवादी स्त्रीवाद

2.3.4. भारत में समाजवादी स्त्रीवाद: लोहिया के संदर्भ में

2.3.5. स्त्रीवादी सिद्धांत की अन्य धाराएं

2.3.6. सारांश

2.3.7. बोध प्रश्न

2.3.8. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.3.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

1. स्त्रीवादी आंदोलन की पृष्ठभूमि की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
2. मार्क्सवादी स्त्रीवाद की अवधारणा से अवगत हो सकेंगे।
3. समाजवादी स्त्रीवाद को जान सकेंगे।
4. भारत में समाजवाद की गौरवशाली भूमिका से अवगत हो सकेंगे।
5. स्त्रीवादी सिद्धांतों की विभिन्न धाराओं की व्याख्या कर सकेंगे।

2.3.1. प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तीन प्रमुख आंदोलन सक्रिय रहे– स्त्रीवाद, दलित एवं पर्यावरण-रक्षा। स्त्रीवादी आंदोलन के इतिहास का प्रारंभ अमेरिका क्रांति के समय अबिगेल एडम्स और मर्सी वारंग के नेतृत्व में मताधिकार और संपत्ति के अधिकार सहित सामाजिक समानता की मांग और फ्रांसीसी क्रांति के दौरान ओलिम्प द गाउजेस द्वारा 1791 में राष्ट्रीय असेंबली में प्रस्तुत 'स्त्रियों और स्त्री नागरिकों के अधिकारों की घोषणा' से मानी जाती है। वहीं आधुनिक स्त्रीवाद के विकास का पहला मील का पत्थर 1946 में प्रकाशित सिमोन द बोउवार की कृति ' द सेकण्ड सेक्स' को माना जाता है। अमेरिका में 'इक्वल पे एक्ट' (1963) और ब्रिटेन में 'अबोर्शन एक्ट'(1967) पारित हुए। इसके अतिरिक्त अमेरिका के सिविल राइट्स

और 'न्यू लेफ्ट आंदोलन' और ब्रिटेन के वामपंथी श्रमिक आंदोलन ने भी स्त्रियों में नया आत्मविश्वास, आत्मबल लाने में सहयोग प्रदान किया।

फ्रांस की राज्य-क्रांति से स्त्री की स्थिति में बुनियादी परिवर्तनों की आशा की गई किंतु क्रांति के मध्यवर्गीय चरित्र के कारण मध्यमवर्ग की संस्थाओं एवं मूल्यों में कोई विशेष परिवर्तन लक्षित नहीं हुआ। श्रमिक वर्ग की स्त्रियों को स्वतंत्रता प्राप्त थी। ये स्त्रियाँ अपना व्यवसाय स्वयं चलाती थी। इसके लिए इन्हें कानूनी अधिकार प्राप्त थे। ये दर्जी, धोबन, दूसरे घरों में काम करने वाली एवं दुकानदार थीं तथा उत्पादन में बराबरी की हिस्सेदार थीं। देहातों में खेतिहर मजदूर की स्त्रियाँ खेतों में काम करती थीं। उनकी स्थिति वहाँ दासियों जैसी थी। वे पति के साथ बैठकर एक साथ भोजन नहीं कर सकती थीं। उन्हें पति एवं लड़के की अपेक्षा अधिक काम करना पड़ता था। निरंतर प्रजनन–कर्म से जुड़े होने के कारण उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। यदि ये स्त्रियाँ चाहतीं, तो अपने कठोर जीवन के बावज़ूद अपने अधिकारों की मांग कर सकती थीं, किंतु भीरुता एवं स्वभावगत समर्पणशीलता के कारण उन्होंने यथास्थिति को ही स्वीकार किया। कुछ मध्यवर्गीय स्त्रियों ने स्त्री–स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया। इनमें मदाम रोलां तथा लुसिल देसमा प्रमुख हैं। कई स्त्री-मुक्ति आंदोलन हुए। अल्पकालीन पत्रिकाएँ भी निकाली गईं। क्रांति के समय स्त्रियों को मिली स्वतंत्रता एक प्रकार की अराजक स्वतंत्रता थी। समाज का पुनर्गठन प्रारंभ होने पर परिवार की संरचना में स्त्री पुन: बंदी बना दी गई। स्त्री-स्वाधीनता की दृष्टि से फ्रांस दूसरे देशों से आगे था। किंतु आधुनिक फ्रांसीसी महिलाओं पर सबसे दुर्भाग्यपूर्ण असर पड़ा 'कोड नेपोलियन' का जिसने उनको सदियों दासता में जकड़े रखा। प्रत्येक तानाशाह शासक की भांति नेपोलियन ने भी स्त्री में केवल माँ का रूप देखा और चूँकि वह एक बुर्जुवा क्रांति का वारिस था। अत: वह समाज की संरचना में कोई बुनियादी परिवर्तन करना नहीं चाहता था। उसने पितृ-समाज को सारे अधिकार दिए और अविवाहित माँ के लिए कड़ी से कड़ी सजा देने की घोषणा की। लड़की और पत्नी नागरिक अधिकारों से वंचित रहने के कारण किसी की अभिभावक नहीं बन सकती थीं। दूसरी ओर ब्रह्मचारिणी और अविवाहित स्त्री को पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त थे। विवाहेत्तर संबंध कायम करने पर पति स्त्री को कमरे में बंदिनी बना सकता था, तलाक दे सकता था। यदि क्रोध में पति अपनी पत्नी की हत्या कर दें तो कानून उसे माफ कर देता था। यदि पति व्यभिचार करें तो केवल पत्नी तलाक की अर्जी ही दे सकती थी।

19वीं शताब्दी में न्यायशास्त्र ने नेपोलियन को और बढ़ावा दिया। 1826 ई. में तलाक की प्रथा समाप्त कर दी गई, जो बाद में 1884 में पुन: प्रचलित हो गई, तब भी क़ानूनी रूप से तलाक पाना कठिन काम था। स्त्री का जीवन केवल परिवार के लिए था, राजनीति के लिए नहीं था। उसका जीवन – क्षेत्र घर है, सार्वजनिक संस्थाएं नहीं। अगस्त कांट ने घोषणा की 'स्त्री और पुरुष में बुनियादी अंतर है, उनमें शारीरिक, नैतिक और मानसिक–किसी भी रूप में कोई समानता नहीं। नैतिकता और प्रेम में संभव है कि वह पुरुष से आगे हो, किंतु पुरुष कर्ता है, जगत में सक्रिय है जबकि स्त्री घर में पराश्रित। बाल्ज़ाक के शब्दों में ''औरत की

नियति और संपूर्ण महत्ता इस बात में निहित है कि वह पुरुष के दिल की धड़कन बढ़ा सके। वह जंगम संपत्ति है , जिसको पुरुष जहाँ चाहे हांककर ले जा सकता है।'' यह स्त्री - विरोधी घोषणा अट्ठारहवीं शताब्दी की बढ़ती हुई प्रगतिवादी विचारधारा की प्रतिक्रिया में थी।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग का विकास हुआ। कल–कारखानों में स्त्रियों की भी आवश्यकता पड़ने लगी। अत: समाजवाद उनकी मुक्ति के लिए सहायक बना। 1879 में समाजवादी कांग्रेस ने घोषणा की कि 'स्त्री और पुरुष दोनों समान है'। फिर भी स्त्री-मुक्ति का आह्वान एक गौण समस्या बनकर रह गया, क्योंकि पहला प्रश्न श्रमिक–संघर्ष और सर्वहारा की मुक्ति का था। इसके विपरीत बुर्जुवा स्त्रियाँ सामाजिक संस्थाओं के चौखटे में स्थित होकर भी नए अधिकारों की माँग कर रही थीं। पुरुष यह चाह रहे थे कि स्त्री अपनी गरिमा न खोए। घर स्त्री का मंदिर है। यदि वह राजनीति में भाग लेती है, वोट का अधिकार माँगती है, तो अपना लालित्य खो देगी। घर में पुरूषों पर पूरा अधिकार तो है, अत: घर में बाहर की राजनीति लाने से क्या लाभ? यह भी प्रश्न उठा कि क्या वेश्याओं को वोट का अधिकार दिया जाना चाहिए? पुरुष अधिक शिक्षित होते हैं, अत: वे स्त्रियों के मत को प्रभावित करेंगे। अत: स्त्री का अपना चुनाव क्या हुआ? फिर भी अंतत: फ्रांसीसी महिलाओं को 1945 में मतदान का अधिकार मिल गया। अंग्रेज़ स्त्रियों को लंबे संघर्ष के बाद यह अधिकार 1928 में मिला, क्योंकि उन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध में काफी सहयोग दिया था। अमरीका में स्त्रियों को वोट का अधिकार 1933 में मिला, लेकिन इटालवी फासिस्ट सरकार ने चर्च की सहायता से स्त्री को हमेशा दमित रखा।

सोवियत रूस में स्त्री-मुक्ति आंदोलन काफी जोरों से बढ़ा। इसकी शुरूआत पहले बुद्धिजीवी छात्राओं से हुई। प्रारंभ से इसकी निष्ठा मार्क्सवादी परंपरा के प्रति थी। लेनिन ने स्त्री और मज़दूरवर्ग, दोनों की मुक्ति का आह्वान किया, दोनों को एक बतलाया। 1936 के सोवियत संविधान की धारा 122 लिखती है कि सोवियत रूस में स्त्री को आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सार्वजनिक सारे अधिकार पुरुष के बराबर प्रदान किए जा रहे हैं। 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' में निम्नलिखित मांगें पेश की गईं-

- व्यावहारिक जीवन और क़ानून की नज़र में स्त्री और पुरुष सामाजिक रूप से एक हों।
- पारिवारिक नियम और दांपत्य जीवन के अधिकारों में आमूल परिवर्तन किए जाएं।
- मातृत्व को एक सामाजिक कृत्य माना जाए तथा समाज बच्चों और किशोर वयस्कों की शिक्षा का दायित्व ग्रहण करे, जो परंपरा स्त्री को दास बनाकर रखना चाहती है, उसका खुलकर विरोध हो।
- चूंकि स्त्री - श्रमिकों को पुरुष श्रमिकों के बराबर मज़दूरी मिलती थी, अत: उनको राजनीतिक अधिकार भी समान मिले।

उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिमी देशों में स्त्रियों के लिए समान अधिकार की माँग एक प्रमुख राजनीतिक प्रश्न बन गया। शिक्षा, क़ानून, राजनीति आदि तमाम क्षेत्रों में एक आंदोलन-सा प्रारंभ हो गया तथा स्त्रियों के लिए

मतदान के अधिकार की मांग ने जन-अभियान का रूप ले लिया। इस दौर के प्रमुख स्त्रीवादी विचारकों में मुख्य रूप से इंग्लैंड के जॉन स्टुअर्ट मिल, उनकी पत्नी हेरिएट टेलर तथा अमेरिका की एलिजावेथ केडी स्टैन्टन का नाम लिया जा सकता हे। स्टैन्टन लेखिका के साथ- साथ अमेरिका के स्त्री- आंदोलन की सक्रिय कार्यकर्ता थीं। उन्होंने 'सेनेकाफाल कन्वेशन ऑफ 1948' लिखा जो 1776 की अमेरिकी स्वतंत्रता की घोषणा की तर्ज पर ही लिखा गया एक ऐसा घोषणापत्र था, जिसमें महिलाओं के लिए मतदान का अधिकार, संपत्ति का अधिकार, शिक्षा का अधिकार, रोज़गार का अधिकार तथा राजनीति और गिरजाघरों में सार्वजनिक भागीदारी के अधिकार की मांग उठाई गई थी।

कुल मिलाकर, उन्नीसवीं सदी के अंत तक आते-आते यूरोप में स्त्री-केंद्रित चिंतन का एक प्रारूप तैयार हो गया था। स्त्रीवादी चिंतन को पांच प्रमुख धाराओं के अंतर्गत देखा गया। स्त्री-अस्मिता के प्रश्न को सबसे जोरदार ढंग से समाजवादी एवं मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रभावित चिंतकों ने उठाया। 1883 में अगस्त बेबेल की पुस्तक 'नारी और समाजवाद' प्रकाशित हुई। एक वर्ष के बाद एंगेल्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' प्रकाशित हुई। आगे हम मार्क्सवादी एवं समाजवादी स्त्रीवाद की चर्चा करेंगे।

2.3.2. मार्क्सवादी स्त्रीवाद

मार्क्सवादी स्त्रीवाद का यह मानना है कि 'स्त्री का शोषण वहाँ से शुरू हुआ जहाँ से वैयक्तिक संपत्ति का प्रावधान'। एंगेल्स की पुस्तक 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' का मार्क्सवादी स्त्रीवादी चिंतन में एक अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस पुस्तक में उन्होंने मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत का प्रयोग किया है। इसमें एंगेल्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि "विवाह में पुरुष की श्रेष्ठता उसकी आर्थिक श्रेष्ठता का सीधा परिणाम है। आर्थिक श्रेष्ठता समाप्त हो जाने पर वैवाहिक जीवन में पुरुष की श्रेष्ठता भी समाप्त हो जाएगी"। पति पर महिलाओं की आर्थिक निर्भरता का अर्थ यह है कि "परिवार के दायरे में पति बुर्जुआ होता है और पत्नी सर्वहारा। नारी की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि सभी नारियों को सार्वजनिक उद्यम में ले आना होगा।"

इस प्रकार मार्क्सवाद ने स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को सामाजिक उत्पादन संबंधों तथा स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता के प्रश्न के साथ जोड़ा। मार्क्सवाद ने जिस प्रकार सामाजिक व्यवस्थाओं को इतिहास के विकास के साथ जोड़कर समझने की एक पूर्ण विकसित अवधारणा दी, उसी प्रकार परिवार के भी वर्तमान रूप को अनिवार्य रूप से सामाजिक विकास के इतिहास के साथ जुड़ा हुआ बताया।

एंगेल्स ने प्रागैतिहासिक काल के मातृसत्तात्मक कबीलाई समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों से लेकर सामंती युग के विभिन्न स्तरों तथा पूंजीवादी समाज की परिस्थितियों में परिवार और स्त्री-पुरुष संबंधों के वास्तविक रूप का विस्तृत विवेचन अपनी पुस्तक (परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति) में किया है।

उन्होंने एक पूंजीवादी परिवार में स्त्री की स्थिति की तुलना सर्वहारा से तथा पुरुष की तुलना पूंजीपति से की। ठीक इसके विपरीत एक सर्वहारा परिवार में, जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों काम करते हैं, एंगेल्स के शब्दों में "पुरुष श्रेष्ठता के अंतिम अवशेषों की नींव भी खिसक जाती है।"

इसी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे सर्वहारा समाज का विस्तार होगा, स्त्री–मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा तथा सामाजिक क्रांति के माध्यम से जब पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था समाप्त होगी, तो उसके साथ ही पुरुष श्रेष्ठता की दीर्घकालीन परंपरा की जड़ें भी पूरी तरह समाप्त हो जाएगी। मार्क्स और एंगेल्स ने स्त्री मुक्ति के प्रश्न के वर्गीय आधारों की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया है कि निजी संपत्ति और वर्गीय समाज के संघठन की प्रक्रिया शुरू होने के साथ ही स्त्री की दासता की शुरूआत हुई। पूँजीवादी समाज में कामगार स्त्रियाँ निकृष्टतम कोटि की गुलाम हैं, संपत्तिशाली वर्गों की स्त्रियाँ भी सामाजिक श्रम से कटी हुई या तो घरेलू दासता एवं पुरुष स्वामित्व के बोझ से दबी हुई हैं या बुर्जुआ समाज में स्त्रियों के लिए आरक्षित कुछ विशिष्ट अपमानजनक पेशों में लगी हुई हैं। एंगेल्स के अनुसार स्त्री- मुक्ति की दिशा में पहला कदम यह होगा कि स्त्री मजदूरों की वर्गचेतना को उन्नत किया जाए। सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में उनकी भागीदारी बढ़ाई जाए। उन्हें मज़दूर वर्ग के क्रांतिकारी आंदोलनों में सम्मिलित किया जाए।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में क्रांतिकारी संघर्षों ने विशेषकर 1871 के युगांतकारी पेरिस कम्यून में स्त्रियों ने राजनीतिक - सामाजिक आंदोलनों में स्वतंत्र रूप से भाग लिया और संगठन बनाए। फ्रांस ,जर्मनी और ब्रिटेन में स्त्रियों ने अपनी ट्रेड यूनियनें संगठित कीं। जर्मन कामगार स्त्रियाँ 'इंटरनेशनल प्रोफेशनल एसोसियेशन ऑफ मैन्युफैक्चरी', 'इंडस्ट्रियल एंड हैंडीक्राप्ट वर्कर्स' में सम्मिलित हुई। इसकी स्थापना 1869 में क्रिम्मित्स्चू (सैक्सनी) में हुई थी। स्त्री- मुक्ति के प्रश्न पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण को विकसित और व्याख्यायित करने में तथा वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धांतों पर आधारित सर्वहारा स्त्री आंदोलनों को विकसित करने में अगस्त बेबेल की सुप्रसिद्ध कृति 'नारी और समाजवाद' ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई।

मार्क्स - एंगेल्स के बाद लेनिन ने स्त्री-मुक्ति के प्रश्न पर मार्क्सवादी चिंतन को आगे बढ़ाया। स्त्री-मुक्ति प्रश्न पर उनके कई महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक योगदान थे।उन्होंने बुर्जुआ स्त्रीवाद की स्त्री- मुक्ति विषयक वर्गेत्तर सोच और 'यौन मुक्ति' की बुर्जुआ अवधारणा के साथ ही मार्क्सवाद से प्रेरित स्त्री-मुक्ति आंदोलन की धारा में मौजूद कई अवैधानिक धारणाओं और विजातीय रूझानों का विरोध किया। स्वतंत्रता का अर्थ असामाजिक स्वच्छन्दता और पुरुष के शोषण से मुक्ति का अर्थ 'यौन-मुक्ति' नहीं होता, यह कम्युनिस्ट नैतिकता और विज्ञान के विरूद्ध है, इसे लेनिन ने स्पष्ट किया।

मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन और माओ - अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के इन पांचों विचारकों ने कामगार स्त्रियों की उत्पीड़ित आबादी को सर्वहारा क्रांति की सबसे बड़ी आरक्षित शक्ति के रूप में देखा। सर्वहारा क्रांति और स्त्री - मुक्ति प्रश्न के समाधान के द्वंद्वात्मक अंतर्संबधों को निरूपित करते हुए लेनिन ने

लिखा था–"स्त्रियों के लिए पूर्ण स्वतंत्रता हासिल किए बिना सर्वहारा अपनी पूर्ण स्वतंत्रता नहीं हासिल कर सकता।"

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में क्लारा जेटकिन, क्रुप्सकाया, अलेक्सांन्द्रा कोल्लोन्ताई और अनेसां आरमां आदि कम्युनिस्ट नेत्रियों ने अपनी सक्रियताओं और लेखन के द्वारा भी स्त्री मुक्ति के मोर्चे पर अहम भूमिका निभाई। इन विचारकों के साथ लेनिन के वाद-विवाद और विचार–विमर्श के दौरान स्त्री-मुक्ति के कई पक्षों पर मार्क्सवादी दृष्टि महत्वपूर्ण रूप से विकसित हुई।

एंगेल्स, अगस्त बेबेल, क्लारा जेटकिन, रोजा लुक्सेमवर्ग, क्रुप्सकाया और लेनिन के स्त्री प्रश्न पर विचारों की एक समृद्ध परंपरा रही। एंगेल्स की पुस्तक 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति', अगस्त की बेबेल पुस्तक 'नारी और समाजवाद' तथा 'नारी: अतीत,वर्तमान और भविष्य, क्लारा जेटकिन द्वारा संपादित जर्मनी की सोशलिस्ट डेमोक्रेटिक पार्टी की महिला पत्रिका Die Gleichheit (समानता) , लेनिन के साथ क्लारा जेटकिन की वार्ता, जर्मनी की सोशल डेमोक्रटिक पार्टी की एक और महिला नेत्री लिली ब्राउन के साथ क्लारा जेटकिन की बहस आदि ने स्त्री आंदोलन के प्रति मूलभूत मार्क्सवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है।

बीसवीं शताब्दी में मार्क्स, एंगेल्स और बेबेल की विचारधाराओं को आधार बनाकर स्त्रीवाद से संबंधित महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी गईं, जो इस प्रकार जूलियेट मिशेल ने 'वूमन द लॉन्गेस्ट रीवॉल्यूशन' नामक पुस्तक लिखी। शीला रोबॉथम ने 'वूमन कॉन्शियसनेस' और 'मैन्स वर्ल्ड' लिखी। हेल्डी हार्टमैन ने 'कैपिटिलिज्म़, 'पैट्रियार्ची एण्ड जॉब सेग्रीगेशन बाय सेक्स', 'अनहैप्पी मैरिज ऑफ मार्क्सिज्म़ एण्ड फमिनिज्म... टुवर्ड्स ए मोर प्रोग्रेसिव यूनियन' लिखी। माइकल बैरेट ने 'वूमन्स ऑप्रेशन टुडे', 'प्रॉब्लम्स इन मार्क्सिस्ट फेमिनिस्ट एनालाइसिस' नामक पुस्तकें लिखीं। कैथरिन मिस किनन के व्दारा लिखी गईं पुस्तकों के नाम हैं – फेमिनिज्म़, मार्क्सिज्म़ , मेथड एण्ड द स्टेट एण्ड एजेंडा फॉर थ्योरी।

2.3.2.1. मार्क्सवादी स्त्रीवाद की सीमाएं

1. मार्क्सवादी स्त्रीवाद का यह मानना है कि स्त्रियों का उत्पीड़न एक वर्गीय समाज की उपज है तथा पूंजीवाद की समाप्ति और वर्ग–विहीन समाज की स्थापना से यह उत्पीड़न भी समाप्त हो जाएगा। विद्रोही स्त्रीवादी मार्क्सवाद की इस मान्यता को नहीं मानते। उनका कहना है कि इसमें पुरूषों की सत्ता के पहलू की पूरी तरह अवहेलना की गई है। मात्र आर्थिक परिवर्तन से समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था के ढांचे को बदला नहीं जा सकता तथा समाजवादी क्रांति कोई क्रांति नहीं, बल्कि पुरूषों द्वारा सत्ता को हड़पने का एक और विद्रोह मात्र होगा। (आर.मोर्गन द्वारा संपादित 'सिस्टरहुड इज पावरफुल, एन एंथोलोजी ऑफ राइटिंग्स फ्रॉम द वुमेन्स लिवरेशन मूवमेंट 1927 'पृष्ठ xxxvi)

2. मार्क्सवादी स्त्रीवाद स्त्री की पुरुष से जैविक भिन्नता के तथ्य की उपेक्षा करता है। एंगेल्स यह नहीं स्पष्ट करते कि व्यक्तिगत संपत्ति की संस्था क्यों अनिवार्यत: स्त्री की गुलामी का कारण बनती है।। संपत्ति की अवधारणा स्त्री की दोयम स्थिति के व्यक्तिगत आधारों को स्पष्ट नहीं करती। एंगेल्स ने स्त्री की कमजोरी को केवल ताम्र और लौह औजारों के विनियोग के संबंध से उपजी परिघटना माना।

3. सीमोन ने यह प्रश्न उठाया कि श्रम के विभाजन से दो लिगों में मैत्रीपूर्ण संबंध क्यों विकसित नहीं हुआ? एंगेल्स स्त्री–पुरुष के संघर्ष को भी वर्ग भेद के रूप की तरह देखते हैं, जबकि स्त्री-पुरुष से जैविक रूप से भिन्न है और वर्गभेद का कोई जैविक आधार नहीं होता है।

4. एंगेल्स ने यह स्पष्ट नहीं किया कि घरेलू कार्य स्त्रियों को क्यों सौंपा जाएं? जबकि पुरुष उत्पादन कार्यों में लिप्त हैं। एंगेल्स और मार्क्स की दृष्टि में श्रमिकों के लैंगिक विभाजन की उत्पत्ति 'यौन क्रिया में श्रमिक के विभाजन से हुई है' यद्यपि समाजवादी स्त्रीवादी जैसे एलिसन जैगर का यह मानना है कि श्रमिकों का लैंगिक विभाजन समाप्त होने की कोई आशा तब तक नहीं है, जब तक कि 'यौनक्रिया में श्रमिक का विभाजन' यथावत है।

2.3.3. समाजवादी स्त्रीवाद

समाजवादी स्त्रीवाद का यह मानना है कि पूंजीवादी समाज में स्त्रियों का वेतन के साथ दोहरा संबंध है, एक वैतनिक मजदूर के रूप में और दूसरा अवैतनिक मजदूर के रूप में। एक अवैतनिक घरेलू मजदूर तथा एक उपभोक्ता के रूप में इस समाज में स्त्रियों की जो भूमिका होती है, वही उनकी चेतना को भी निर्धारित करती है।

समाजवादी स्त्रीवाद की धारा यौन-उत्पीड़न के साथ वर्ग-उत्पीड़न को जोड़कर देखती है। इस धारा ने परिवार, परिवार के अंदर से मिलने वाले संस्कार इत्यादी प्रश्नों को काफी महत्व देकर उठाया और समाज में स्त्री की स्थिति के बारे में आर्थिक नियतिवादी दृष्टिकोण का जमकर विरोध किया।

मार्क्सवाद एवं समाजवाद के दृष्टिकोण में थोड़ा अंतर है, परंतु स्त्री के संदर्भ में दोनों का मूल ग्रंथ फ्रेडरिक एंगेल्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति (The origin of the family, private property and the state) है। अगस्त बेबेल की पुस्तक नारी और समाजवाद में स्त्री-मुक्ति के प्रश्न पर व्यक्त किए गए विचारों को अधिक ठोस रूप दिया। बेबेल की पुस्तक का काफी प्रभाव जर्मनी और यूरोप में हो रहे स्त्री–आंदोलनों पर पड़ा। जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में एंगेल्स के समय में ही फर्दीनांद लॉसाल तथा उसके समर्थकों का एक समूह ऐसा भी था, जो स्त्रियों को प्राकृतिक दृष्टि से ही पुरूषों से हीन समझते थे और स्त्रियों के 'समान अधिकार' के विरूद्ध थे। अगस्त बेबेल तथा विल्हेम लिब्नेख्त आदि मार्क्सवादियों ने पार्टी के अंदर संघर्ष कर लॉसालपंथियों को पराजित किया और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के लिए एक मार्क्सवादी कार्यक्रम बनाया। इसी पार्टी में क्लारा जेटकिन, रोजा लुक्समवर्ग,

आदि विश्व प्रसिद्ध स्त्री आंदोलनकर्ताओं ने स्त्री–मुक्ति के लिए संघर्ष का एक क्रांतिकारी परिप्रेक्ष्य विकसित किया। सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी 1890 के दशक के प्रारंभिक वर्षों तक मुख्य रूप से ट्रेड-यूनियन संगठनों पर केंद्रित थी। क्लारा जेटकिन के प्रभाव से उसने स्त्रियों के बीच व्यापक राजनीतिक गतिविधियों के विशेष संगठनों का विकास प्रारंभ किया गया। इन संगठनों ने राजनीतिक समानता, जच्चा-बच्चा के लिए बीमा, कामगार स्त्रियों को संरक्षण देने के लिए कानून, बच्चों की शिक्षा और सुरक्षा एवं स्त्रियों की राजनीतिक शिक्षा पर बल दिया। जहाँ जर्मनी में राजनीति के क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी पर कानूनी प्रतिबंध था, वहाँ समाजवादी स्त्रियाँ प्रत्येक दो वर्ष में अपना सम्मेलन आयोजित करने लगीं। क्लारा जेटकिन के संपादन में स्त्रियों पर केंद्रित पत्रिका का प्रकाशन हुआ, जिसका नाम- Gleichheit (इक्वेलिटी) था।

समाजवादी विचारों से प्रभावित स्त्री आंदोलन का यह दौर मात्र जर्मनी तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि पूरे यूरोप और अमेरिका में फैला। अमेरिका में अगस्त बेबेल की पुस्तक 'नारी' और 'समाजवाद' 1904 में प्रकाशित हुई। अमेरिका की सोशलिस्ट पार्टी में प्रारंभ में कुछ उसी प्रकार के पुरातनपंथियों का वर्चस्व था, जैसा कि जर्मनी में लॉसालपंथियों का था। लेकिन अमेरिका की सोशलिस्ट पार्टी में हजारों की तादाद में स्त्रियाँ शामिल थीं और मतदान के अधिकार को लेकर लंबे समय तक संघर्ष करती रहीं। पार्टी के सदस्यों द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रिका 'द-न्यू रिव्यू' में स्त्रीवाद और समाजवाद के संदर्भ में हुई बहस पर अनेक लेख प्रकाशित हुए। स्त्रियों की समस्या के प्रति सोशलिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टियों का आंदोलनात्मक दृष्टिकोण उस समय ठोस रूप में सामने आया, जब रूस में समाजवादी क्रांति हुई और लेनिन ने तीसरे कम्युनिस्ट अंतरराष्ट्रीय महिला आयोग के कामों के बारे में अपनी राय प्रकट की। लेनिन ने 'महिलाओं की मानवीय और सामाजिक परिस्थितियों तथा उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के बीच अविभाज्य संबंध' पर बल देने के लिए कहा। लेनिन और क्लारा जैटकिन के बीच- 'किस प्रकार विश्व में समाजवादी स्त्री आंदोलन को विकसित किया जाए' विषय पर विस्तृत चर्चा हुई। जैटकिन ने स्त्रियों की एक अंतरराष्ट्रीय कांग्रेस बुलाने का प्रस्ताव दिया, जिसमें विभिन्न पेशों में लगी स्त्रियों के अधिकारों, बेरोज़गारी, समान वेतन, कामगार स्त्रियों को संरक्षण, माताओं के लिए सामाजिक सुरक्षा, घरेलू स्त्रियों को राहत देने के सामाजिक कार्य, विवाह में स्त्रियों की स्थिति, पारिवारिक कानून तथा अन्य कानूनी अधिकारों, जैसे विषयों पर चर्चा करने का प्रस्ताव रखा गया।

केट मिलेट की किताबें 1970 में प्रकाशित हुईं। समाजवादी–स्त्रीवादी आंदोलन में इसका काफी प्रभाव पड़ा। लिसे वोगेल ने लिखा है कि इन पुस्तकों में स्त्रियों से संबंधित मनोविज्ञान तथा विचारधाराओं के संदर्भ में यौन-प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया तथा स्त्रियों के प्रति उत्पीड़क सामाजिक आचार-आचरण को स्पष्ट किया गया है। समाजवादी स्त्रीवादी विमर्श में पितृसत्तात्मकता की अवधारणा बिना किसी आपत्ति के प्रविष्ट हो गई।

अमेरिका में कुछ समाजवादी स्त्रीवादियों ने यह मांग उठाई कि समाजवादी स्त्रीवादी राजनीतिक सैद्धांतिकी को तैयार करने की दिशा में सबसे पहला जरूरी कदम यह है कि विद्रोही स्त्रीवाद और स्त्रियों की समस्या के मार्क्सवादी विश्लेषण का संश्लेषण किया जाए। इस प्रकार वहाँ समाजवादी स्त्रीवाद के खेमे में पितृसत्तात्मकता तथा प्रजनन जैसे विषयों पर शोध कार्य प्रारंभ हो गया।

समाजवादी स्त्री आंदोलन ने यह स्पष्ट रूप से कहा कि स्त्री मुक्ति के प्रश्न को समाज के व्यापक सामाजिक-आर्थिक प्रश्नों से अलग रखकर नहीं देखा जा सकता। स्त्री-मुक्ति की कोई भी परिकल्पना अंततोगत्वा समाज की मुक्ति के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी होती है। इसके साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो गई थी कि स्त्री की स्वतंत्रता उसकी आर्थिक स्वतंत्रता में निहित है। जब तक उन्हें घर की चहारदीवारी से मुक्त नहीं किया जाता,तब तक स्त्रियाँ समाज में एक मनुष्य के रूप में सभी सामाजिक विषयों पर अपनी भूमिका अदा नहीं पाएंगी और स्त्री-पुरुष में समानता नहीं आ सकेंगी।

2.3.4. भारत में समाजवादी स्त्रीवाद: लोहिया के संदर्भ में

भारत में स्त्री आंदोलन का प्रारंभ बिना किसी पूर्वयोजना के, बिना किसी उद्घोषणा और किसी सचेतन पूर्वपीठिका के अभाव में हुआ। पश्चिम में स्त्रियों के मताधिकार के लिए जैसी व्यापक जागृति थी, वैसा यहाँ कुछ भी नहीं था। यहाँ स्त्री आंदोलनों के लिए संगठित नेटवर्क का अभाव था। साथ ही आंदोलनकर्ताओं में स्वयं स्त्री विमर्श के महत्तर परिप्रेक्ष्य से जोड़कर देखने का विचार भी नहीं आया। भारत में स्त्री आंदोलन की शुरुआत 1947 से मानी जानी चाहिए, जब आज़ादी से थोड़े दिन पहले नार्थवेस्ट फ्राण्टियर प्रॉविंस, पेशावर में मुसलमान स्त्रियाँ मताधिकार की माँग को लेकर बड़ी तादाद में इकट्ठा हो गईं और भारतीय संविधान ने कम से कम कागजों पर उन्हें पुरुषों के बराबर अधिकार दे दिए। तत्कालीन कांग्रेस ने बहुत सारे प्रशासनिक निकायों में सरोजिनी नायडू, विजयलक्ष्मी पंडित, अरूणा आसफ अली आदि स्त्रियों को सांकेतिक प्रतिनिधित्व दिया। पाँचवे और छठे दशक में स्त्री आंदोलन की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई, 1970 में कम्युनिस्ट पार्टी के टूटने से कुछ प्रगतिशील नेता अपनी ऊर्जा छिटपुट जनांदोलनों में लगाने लगे, इनमें से कुछ स्त्री प्रधान आंदोलन थे, जैसे कि शारदा भील आंदोलन, मूल्यविरोध मार्च (महाराष्ट्र में), गुजरात में सेल्फ एम्प्लॉएड विमेन्स असोसिएशन तथा नवनिर्माण आदि आंदोलन। शारदा आंदोलन छठे दशक के अंत में ही शुरू हो गया था, जो भूमिहीन भीलों, बाढ़ और सूखापीड़ित भीलों की पीड़ा को स्वर देता था।

1972 में गांधीवादी समाजवादियों की पहल से गुजरात में प्रथम स्त्री श्रम आंदोलन का गठन हुआ, जिसमें टेक्सटाइल लेबर असोसिएशन की महिला शाखा की भी बड़ी भूमिका थी। यह शाखा 'सेवा' कहलाती थी। न्यूनतम दिहाड़ी पर कठोर श्रम करती स्त्री कामगारों को बौद्धिक और तकनीकी प्रशिक्षण देने में

'सेवा' ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1973 में मृणाल गोरे और अहिल्या रांगनेकर ने मूल्यवृद्धि के विरोध में स्त्री मोर्चा गठित किया। 1974 तक 'नवनिर्माण' नाम का यह आंदोलन भ्रष्टाचार और कालाबाजारी के खिलाफ छात्र आंदोलन का रूप ले चुका था। इसी वर्ष हैदराबाद में Progressive Organization of Women नाम से स्त्री संगठन अस्तित्व में आया। 1975 को यूनाइटेड नेशन्स की ओर से महिला वर्ष घोषित कर दिया गया और उसके बाद देश-भर में विशेषकर महाराष्ट्र में कई स्त्रीवादी संगठन, जैसे कि पुरोगामी स्त्री संगठन (पुणे), स्त्री मुक्ति संगठन, (मुंबई) गठित हुए।

आधुनिक स्त्रीवादी विमर्श में राममनोहर लोहिया का योगदान महत्वपूर्ण है। लोहिया का मानना है कि केवल आर्थिक ढाँचा बदलने से स्त्री को पुरुष के साथ बराबरी का स्थान नहीं मिल सकता। जब तक कि समाज में विद्यमान पुरुषवादी मानसिकता को समाप्त नहीं किया जाता है, तब तक संपूर्ण बदलाव नहीं लाया जा सकता। इस मानसिकता को पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था में गढ़े गए स्त्री के आदर्श प्रतीकों को बदलकर या तोड़कर ही हासिल किया जा सकता है। विश्व में स्त्री-पुरुष समानता के लिए वैधानिक अधिकारों एवं उपायों की व्यवस्था की जा रही है, इससे निश्चित ही स्त्री की स्थिति में सुधार होगा। लोहिया वैधानिक अधिकारों एवं उपायों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए उस मानसिकता में क्रांतिकारी बदलाव की अनिवार्यता पर बल देते हैं, जिसके कारण स्त्री को हीन दृष्टि से देखा जाता है।

लोहिया का स्त्री-मुक्ति संघर्ष आर्थिक, राजनैतिक एवं वैधानिक के साथ–साथ सांस्कृतिक क्षेत्र में भी क्रांति करने के पक्ष में है। वे इकहरी आर्थिक या राजनैतिक क्रांति के पक्षधर नहीं हैं, वरन राजनैतिक- आर्थिक क्रांति के समानांतर 'सच, कर्म, प्रतिकार और चरित्र – निर्माण' की प्रक्रिया पर बल देते हैं। स्त्री – मुक्ति का संघर्ष समग्रता में चलना चाहिए।

लोहिया के स्त्री-विमर्श में निम्न वर्ग से लेकर उच्च वर्ग और एशिया से लेकर यूरोप –अमेरिका तक की स्त्रियों की दशा का विश्लेषण मिलता है। लोहिया दलित, शूद्र, मुसलमान, आदिवासी के अतिरिक्त पाँचवें दमित समुदाय के रूप में स्त्रियों की गिनती करते हैं। भारत में स्त्री की गिनती पांच दमित समुदायों- दलित, शूद्र , मुसलमान और आदिवासी में करते हैं। वे वर्गगत या जातिगत आधार पर उनका वर्गीकरण नहीं करते। उनका मत रेडिकल स्त्रीवादियों से मिलता–जुलता है, जो सभी स्त्रियों को एक वर्ग मानते हैं और साथ ही पितृसत्तात्मता को प्राकृतिक अर्थात प्रारंभ से चली आ रही और आगे भी जारी रहने वाली परिघटना नहीं मानते। लोहिया भी लिंग पदानुक्रमता को पुरुष के समक्ष स्त्री की अधीनस्थ स्थिति को प्राकृतिक नहीं, पुरुषकृत कृत्रिम विधान मानते है। लोहिया का यह भी मानना है कि स्त्री के आदर्श को मात्र पतिव्रत धर्म से जोड़ने का आग्रह करना स्त्री की पराधीनता का आग्रह है।भारत में पांच कन्याओं को लोग मानते हैं – 'सीता, सावित्री, द्रौपदी, तारा, मंदोदरी। लेकिन इन पांचों में धुरी सावित्री ही है। द्रौपदी के प्रति सम्मान का भाव नहीं मिलता। लोहिया सावित्री के स्थान पर द्रौपदी को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। वे पतिव्रता धर्म और यौन-शुचिता

के गुण के एकांकी आधार पर स्त्री का आदर्श प्रतीक नहीं चाहते। उनकी दृष्टि में द्रौपदी के अन्य गुणों का अधिक महत्व है।

स्त्रीवादी विमर्श में संतानोत्पत्ति एवं तलाक के मुद्दे महत्वपूर्ण रहें है। लोहिया ने संतानोत्पत्ति एवं तलाक के नैतिक पहलुओं की पुनर्व्याख्या पर बल दिया है। नैतिकता को सापेक्ष मानते हुए उन्होंने प्रश्न किया है कि "एक औरत जिसने अपनी सारी जिंदगी में सिर्फ एक ही बच्चे को जन्म दिया हो, चाहे वह अवैध ही क्यों न हो और दूसरी ने आधे दर्जन या ज्यादा वैध बच्चे जने हों, तो इन दोनों में कौन ज्यादा शिष्ट और ज्यादा नैतिक है? एक औरत, जिसने तीन बार तलाक दिया और चौथी बार वह फिर शादी करती है और एक मर्द चौथी बार इसलिए शादी करता है कि एक के बाद एक उसकी पत्नियाँ मर गई हैं, तो इन दोनों में ज्यादा शिष्ट और नैतिक कौन है?" अवैध बच्चे के जन्म और तलाक को लोहिया इस अर्थ में असफलता मानते हैं कि स्त्री–पुरुष संबंधों में पारस्परिक विश्वास का आदर्श हासिल नहीं हो पाता। वे इसका उत्तर देते है कि " मेरे मन में कोई शक नहीं है कि सिर्फ एक अवैध बच्चा होना आधे दर्जन बच्चे होने से कई गुना अच्छा है। उसी तरह इसमें कोई शक नहीं कि तीन पत्नियों में सभी की मृत्यु आकस्मिक नहीं हो सकती, उपेक्षा और गरीबी जरूर ही रही होगी और इस तरह की उपेक्षा उन झगड़ों से कहीं ज्यादा बुरी है, जिनकी वजह से तीन बार या ज्यादा तलाक हुए हों।" यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि संतानोत्पति और तलाक, इन दोनों संदर्भों में स्त्री की इच्छा के महत्व और सम्मान पर बल दिया गया है।

लोहिया के विचार में स्त्री की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करने वाला ही पुरुष आधुनिक बन सकता है। पितृसत्तात्मक समाज को अपनी संस्कारग्रस्त मानसिकता से संघर्ष करना पड़ेगा, उससे छुटकारा पाना होगा। स्त्री-मुक्ति के संदर्भ में लोहिया का आह्वान पुरुष मानसिकता के प्रति है, क्योंकि स्त्री को दबाये रखने वाली सांस्कृतिक, सामाजिक एवं संवैधानिक संरचनाओं की निर्मिति में पुरुष मानसिकता का वर्चस्व रहा है। लोहिया दो स्तरों पर उद्यम करने का सुझाव देते हैं – व्यक्तिगत और सामाजिक। पुरुष स्त्री के प्रति अपनी संकीर्ण धारणाओं से छुटकारा पाने के लिए अकेले में गहन आत्मलोचन करे और अपनी मानसिकता को बदले।

2.3.5. स्त्रीवादी सिद्धांत की अन्य धाराएं

उदारवादी स्त्रीवाद (लिबरल फेमिनिज्म)

उदारवादी स्त्रीवाद का प्रारंभ 1961 में जॉन एफ कैनेडी के प्रयासों से कमीशन ऑन द स्टेट्स ऑफ वीमेन का गठन हुआ। इस कमीशन से असंतुष्ट होने पर बेट्टी फ्राइटन आदि स्त्रियों ने 'सिविल राइट्स संगठन और 'नेशनल ऑर्गेनाइजेशन फॉर वीमेन' की 1966 में स्थापना की, जिसमें अधिकतर सफेदपोश मध्यवर्गीय स्त्रियाँ सदस्या थीं और इनकी राजनीति 'उदारवादी स्त्रीवाद' पर जान स्टुअर्ट मिल की पुस्तक 'द सब्जेक्शन ऑफ दि वीमेन' पर आधारित थी, जिसमें मिल ने बताया था कि भार ढोना, आदि कुछ गतिविधियाँ ऐसी हैं,

जिनमें स्त्रियाँ पुरूषों से उन्नीस पड़ती हैं। उनका कहना है कि स्त्री और पुरुषों के बीच जीवशास्त्रीय विषमताएँ अवश्य हैं, पर उनकी बौद्धिक और नैतिक क्षमताएँ बराबर हैं। उनके अनुसार स्त्री और पुरूषों की मानसिक और स्वभावगत विशिष्टताओं को साझा कर लेना चाहिए।

जेम्स स्टूर्बा ने भी इसी संदर्भ में कहा कि सभी कार्यालयों(दफ़्तर ,मिल,आदि) के काम के घंटे इतने लचीले होने चाहिए कि माँ और बाप,दोनों बारी-बारी से बेबी सिटिंग कर सकें। उदारवादी स्त्रीवाद के क्षेत्र में स्त्रियाँ की राजनीतिक समानता तथा संपत्ति के अधिकार के लिए जिन महिलाओं ने लंबा संघर्ष किया उनमें स्टैनली, ग्लोरिया, सूसन एथेनी, लूसी स्टोन, एलिजाबेथ हूकर आदि का नाम महत्वपूर्ण है।

उग्रवादी स्त्रीवाद (रैडिकल फेमिनिज्म)

1968 में टाइ-ग्रेस ऐटकिन्सन के नेतृत्व में उदारवादी ग्रुप से रैडिकल ग्रुप अलग हो गया। उनका यह मानना था कि थोड़ा–बहुत सुधार से कुछ होने वाला नहीं है। संघर्ष पुरुष से नहीं पितृसत्तात्मक समाज से होना चाहिए। योजनाबद्ध ढंग से इसकी एक-एक संस्था में, विशेषकर परिवार, चर्च (कोई भी धार्मिक निकाय) और एकेडेमी (विश्वविद्यालय आदि) में ,वैधानिक, राजनीतिक और आर्थिक ढंग के संरचनात्मक परिवर्तन घटित कराए जाने चाहिए। साहित्यिक समालोचना में 'इमेजेज ऑफ विमेन' आंदोलन इन्हीं उग्रवाद स्त्रीवादियों का है।

शुलमिथ फायरस्टोन की – ' द डायलेक्टिक ऑफ सेक्स' इस चिंतन के समर्थन में एक रोचक पुस्तक है। इस पुस्तक में वे गर्भधारण को 'बार्बेरिक' कहती हैं । आगे चलकर उग्रवादी स्त्रीवाद ने स्त्रियों के गर्भधारण को उनके विकास में बाधक बताते हुए कहा है कि प्रजनन और शिशु संरक्षण पर पुरुषों का सीधा नियंत्रण तोड़ने के लिए निम्नलिखित सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएँ :-

1. गर्भनिरोध और गर्भधारण संबंधी सारे निर्णय उनके हों,
2. यह उन पर निर्भर करे कि वे बच्चों को अकेली पालना चाहती है अथवा माँ या किसी अन्य रिश्तेदार के सहयोग से या फिर सरकारी / गैर-सरकारी डे केयर केंद्रों की सहायता से।

मनोविश्लेषणात्मक स्त्रीवाद

मनोविश्लेषणात्मक स्त्रीवाद फ्रॉयड की मान्यताओं का विरोध करता है। फ्रॉयड की यह मान्यता है कि शिश्न बोध होते ही पुरुषों में प्राक्सडीपीय अवस्था के आत्यंतिक मातृमोह से सायास मुक्ति की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, जो उन्हें सामाजिकता, अनुशासनप्रियता तथा निर्णयात्मकता से भर देती है। चूँकि स्त्रियों को इस प्रक्रिया से गुजरना नहीं पड़ता है अत: वे पुरुषों की तुलना में कम अनुशासित कम सामाजिक, कोमल और कमजोर रह जाती हैं।

मनोविश्लेषणात्मक स्त्रीवाद स्त्रियों की मातृमूलक संवेदनाओं का सूक्ष्म अध्ययन करता है। नैन्सी चोदोरोव स्त्रियों के अपनी माँ से अधिक जुड़ाव को स्त्रियों की भावनात्मक स्थिरता का कारण मानती हैं। एलिजाबैथ स्पेलमैन अपने लेख "Gender in the context of race and class" में मानती है कि श्वेत और अश्वेत, संपन्न और विपन्न माताओं की अंतश्चेतना भी बच्चों को जो कथाएँ ज्यादातर सुनाती हैं, वे दु:खांत होती हैं और आने वाले दिनों में जो अपमान और पराधीनता उनके हिस्से में आना है, उसके लिए उन्हें तैयार करने वाली कहानियाँ होती हैं। इसके विपरीत समृद्ध देशों की खुशहाल, निश्चिंत माताएं अपने बच्चों का मनोबल बढ़ाने वाली सुखांत परी-कथाएं सुनाती हैं।

उत्तरआधुनिक स्त्रीवाद (पोस्टमॉडर्न फेमिनिज्म)

उत्तरआधुनिक स्त्रीविमर्श की मान्यताएं कई बिंदुओं पर केंद्रित हैं। वर्ग, नस्ल और संस्कृतियों के अनुसार स्त्री का अनुभूतिमंडल भी बदलता रहा है और किसी एक केंद्रीय सतत ठोस सत्य की उद्घोषणा स्त्री विमर्श के संदर्भ में भी असंभव है। पितृसत्तात्मक समाज की भाषा स्त्रियों के साथ न्याय नहीं करती, इसलिए स्त्रियों को चाहिए कि वह भाषात्मक प्रयोगों के द्वारा भाषा की सरहदों को भी तोड़े।

2.3.6. सारांश

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मार्क्स, एंगेल्स, अगस्त बेबेल, आदि विचारकों ने स्त्रियों की स्थिति पर विचार किया है। पूंजीवाद का वर्चस्व पूरे विश्व पर छा चुका था और पूंजीवादी समाज में स्त्री केवल उपभोग की वस्तु बनकर रह गई थी। इस समाज में स्त्री आर्थिक स्वतंत्र होते हुए भी शोषण एवं दमन से नहीं बच पाई। इसका कारण यह था कि पूंजीवाद की नैतिकता व्यक्तिगत स्वार्थ पर आधारित थी। स्त्री-पुरुष के बीच के संबंध में भी यही नैतिकता प्रबल थी, जिसके कारण स्त्री को दमन का शिकार होना पड़ा। विशेषकर, मध्यवर्गीय स्त्रियों को दमन का शिकार होना पड़ा। इस संदर्भ में कमलादास ने कहा है – "Middle class bed is a cross where every middle class women has to be crucified" .

मार्क्सवादी स्त्रीवादी विचारधारा में स्त्री मुक्ति के प्रश्न को आर्थिक स्वतंत्रता के साथ जोड़कर देखा गया। परंतु कुछ स्त्री-संबंधी समस्याओं पर उन्होंने विचार नहीं किया, जैसे प्रजनन-कर्म, गृह-कार्य, बच्चों का लालन-पालन,आदि ऐसी बहुत सारी समस्याएँ है, जिन्हें मार्क्सवादी विचारधारा के अंतर्गत शामिल नहीं किया गया। समाजवादी स्त्रीवादियों ने यह माना कि पूंजीवादी समाज में स्त्री का मजदूरी के साथ दोहरा संबंध है- एक वैतनिक मजदूर के रुप में और दूसरा अवैतनिक मजदूर के रुप में। एक वैतनिक घरेलू मजदूर तथा दूसरा उपभोक्ता के रुप में इस समाज में स्त्रियों की जो भूमिका होती है, वही उनकी चेतना को भी निर्धारित करती है।

2.3.7. बोध प्रश्न

1. मार्क्सवादी स्त्रीवाद की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

2. एंगेल्स ने स्त्रियों के दमन के कारणों को किस प्रकार वर्णित किया है?
3. मार्क्सवादी स्त्रीवादी चिंतकों के अनुसार स्त्रियों के उत्थान एवं सशक्तिकरण के लिए कौन-कौन से कार्य किए जाने चाहिए?
4. मार्क्सवादी स्त्रीवाद की सीमाएँ क्या हैं? स्पष्ट करें
5. समाजवादी स्त्रीवाद की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं? बताएँ
6. राममनोहर लोहिया के स्त्री संबंधी विचारों पर एक लेख लिखें।
7. स्त्रीवादी सिद्धांतों की धाराएं पर प्रकाश डालें।

2.3.8. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1. Marx, K. & Engels, F. (1906). *The Origins of the family, private property and the State*. (Selected Works, Vol.III) Moscow: Progress Publishers.
2. माहेश्वरी, सरला. (1998). *नारी प्रश्न*. दिल्ली :राधाकृष्ण प्रकाशन.
3. बोउवार, सीमोन. द. (1998). द *सेंकण्ड सेक्स* (अनुवाद- स्त्री उपेक्षिता - प्रभा खेतान). दिल्ली : हिन्दी पॉकेट बुक्स.
4. अनामिका. (2012). *स्त्री विमर्श की उत्तर गाथा*. दिल्ली : सामयिक प्रकाशन.
5. कात्यायनी. (1997). *दुर्ग द्वार पर दस्तक*. लखनऊ : परिकल्पना.
6. मिल, जॉन. स्टुअर्ट. (2002). *स्त्रियों की पराधीनता*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन
7. दीक्षित, ताराचंद. (2013). *डॉ. रामनोहर लोहिया का समाजदर्शन*. दिल्ली: लोकभारती प्रकाशन

इकाई 4 - अश्वेत एवं दलित नारीवाद

इकाई की रूपरेखा

2.4.0. उद्देश्य

2.4.1. प्रस्तावना

2.4.2. अश्वेत नारीवाद की अवधारणा

2.4.3. अश्वेत नारीवाद आंदोलन का इतिहास

2.4.4. अश्वेत नारीवाद की समीक्षा

2.4.5. दलित नारीवाद की अवधारणा

2.4.6. दलित नारीवाद आंदोलन का इतिहास व उनके प्रणेता

2.4.6.1. ज्योतिबा फुले और सावित्री बाई फुले का योगदान

2.4.6.2. डॉ. भीमराव अंबेडकर का योगदान

2.4.7. दलित नारीवाद की समीक्षा

2.4.8. सारांश

2.4.9. पारिभाषिक शब्द

2.4.10. बोध प्रश्न

2.4.11. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.4.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- अश्वेत और दलित नारीवाद आंदोलन को समझ सकेंगे।
- नस्ल और जाति के आधार पर होने वाले इन आंदोलनों की मूल अवधारणा को समझ सकेंगे।
- अश्वेत और दलित नारीवादी आंदोलनों के प्रभाव और उसके महत्व को जान पाएंगे।

2.4.1. प्रस्तावना

नारीवाद एक समता और अस्मिता मूलक विमर्श/आंदोलन है। नारीवादी आंदोलनों द्वारा स्त्रियों के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक अधिकार, समानता और पारिवारिक शोषण के मुद्दों को उठाया गया है। नारीवादी आंदोलन शुरू में जिस तीव्रता और कुछ खास मुद्दों को लेकर चले थे, उनमें देश, काल और परिस्थिति के अनुसार कई बदलाव भी हुए हैं, जो वास्तव में समावेशी प्रवृत्ति के हैं और नारीवादी चेतना को पुष्ट करते नज़र आते हैं। नारीवादी आंदोलनों के अंतर्गत आनेवाले अश्वेत और दलित नारीवाद इसी श्रेणी के अंतर्गत आते हैं। अश्वेत नारीवाद की शुरुआत जहाँ भारत के बाहर एफ्रो-अमेरिकी स्त्रीवादियों द्वारा की गई, वहीं दलित नारीवाद का उदय भारतीय परिदृश्य में हुआ। इन दोनों नारीवादी आंदोलनों के केंद्र में पारंपरिक स्त्रीवादियों द्वारा छोड़ दिए गए अथवा महत्वहीन समझे जाने लायक मुद्दों, जिनमें नस्ल और जाति के आधार पर होने वाले स्त्री-शोषण के मुद्दे शामिल नहीं थे, को प्रमुखता से उठाया गया। इन स्त्रीवादियों ने बताया कि अश्वेत अथवा दलित स्त्रियों पर होने वाले शोषण का स्वरूप सामान्य स्त्री पर होने वाले शोषण की तुलना में अधिक गहरा और कई श्रेणियों में विभक्त है। इन स्त्रीवादियों ने स्त्री के नस्ल और जाति से जुड़े शोषण के मुद्दों को उठाने के साथ-साथ स्त्री की मानवीय गरिमा के प्रश्न को भी बेहतर ढंग से उठाने का प्रयास किया है, जिससे नारीवादी चिंतन का क्षेत्र भी व्यापक हुआ है। इसी चिंतन के क्रम में आगे हम अश्वेत और दलित नारीवाद को जानने और समझने का प्रयास करेंगे।

2.4.2. अश्वेत नारीवाद की अवधारणा

अश्वेत नारीवाद की विवेचना करने से पहले हमें 'श्वेत' और 'अश्वेत' को समझना होगा। 17वीं सदी में अमेरीका में उद्योग, व्यापार और आर्थिक विकास के लिए अफ्रीकी देशों के नागरिकों को दास के रूप में लाया गया। शुरू में इन अश्वेत दासों को सिर्फ गुलाम के रूप में कार्य करने की अनुमति थी, लेकिन कालांतर में विभिन्न आंदोलनों के द्वारा दास प्रथा का संवैधानिक रूप से अंत हो गया। दास प्रथा के संवैधानिक रूप से उन्मूलन होने के बाद भी श्वेत लोगों का अश्वेतों से दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाना जारी रहा। तत्कालीन परिवेश में अश्वेत समुदाय की स्त्रियों की दशा और भी दयनीय थी। पश्चिम के नारीवादी आंदोलनों और नागरिक अधिकार आंदोलनों में पर्याप्त भागीदारी के पश्चात भी जब अश्वेत स्त्रियों से जुड़े मुद्दों को नज़रअंदाज किया जाने लगा तब एक ऐसे आंदोलन की जरूरत महसूस की जाने लगी जो 'अश्वेत स्त्रियों' से जुड़े मुद्दों को प्रकाश में लाए। इसी की परिणति 'अश्वेत नारीवादी आंदोलन' के रूप में हुई।

जब हम वर्तमान के अश्वेत नारीवाद की बात करते हैं तो हमें यह जान लेना चाहिए कि यह राजनीतिक/सामाजिक आंदोलन 1970 के दशक में अफ्रीकी-अमेरीका स्त्रियों द्वारा चलाया जाने वाला नारीवादी आंदोलन था। इससे पूर्व तक अश्वेत स्त्रियों पर होने वाले शोषणों और अत्याचारों के मुद्दों को श्वेत स्त्रीवादियों अथवा नागरिक अधिकार आंदोलनों द्वारा नहीं उठाया गया था। यही कारण था कि उन्होंने श्वेत

नारीवादी आंदोलन को अभिजात्यता का विमर्श बताते हुए इन पर नस्ल (रंग) के मुद्दे को शामिल नहीं किए जाने का आरोप लगाया और इससे इतर अपनी एक अलग राह बनाई। अश्वेत नारीवादी आंदोलन की आधारभूमि तैयार करने में **'एलिस वॉकर'** के **'वुमनिज्म'** के सिद्धांत का भी महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने बताया कि 'अश्वेत नारीवादी, चुनौती स्वीकार करने वाले, साहसी, दृढ़संकल्पी, स्वावलंबी और ज़िम्मेदार होते हैं तथा सभी प्रकार के नारीत्व गुणों का सम्मान करते हुए स्त्री और पुरुष दोनों के जीवन के लिए प्रतिबद्ध होते हैं।'

अश्वेत स्त्रीवादियों ने केवल वर्ग, नस्ल और लिंग के आधार पर होने वाले शोषण की ही आलोचना नहीं की, बल्कि उन्होंने अश्वेत समाज की पितृसत्तात्मक संरचना पर भी प्रहार किया। उन्होंने बताया कि वर्गीय, नस्लीय तथा लैंगिक शोषण एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। अश्वेत स्त्रीवादियों ने अश्वेत स्त्रियों के विभिन्न स्तरों पर होने वाले सामाजिक/आर्थिक/लैंगिक शोषणों के साथ-साथ दास-प्रथा की भी आलोचना की है। पेट्रीशिया हिल कॉलिन्स के शब्दों में कहा जाए तो –'अश्वेत नारीवाद स्व-चेतन संघर्ष की एक प्रक्रिया है, जो स्त्री और पुरुष को समाज के मानवतावादी नज़रिए से साक्षात्कार कराता है।' समकालीन अश्वेत स्त्रीवादियों में हेजेल कार्बी, केथी कोहेन, पेट्रीशिया हिल कॉलिन्स, किम्बर्ले क्रेनशॉ, एंजेला डेविस, बेल हुक्स, जॉय ए जेम्स, नेल इरविन पेंटर, बारबरा स्मिथ, मिशेल वालेस, पेट्रीशिया जे. विलियम्स आदि का नाम लिया जा सकता है।

2.4.3. अश्वेत नारीवाद आंदोलन का इतिहास

अश्वेत नारीवाद का अपना एक अलग इतिहास रहा है, जिनमें अश्वेत स्त्रियों के जीवनानुभव से जुड़े अनेक मुद्दे शामिल हैं। अश्वेत नारीवादी आंदोलन को बेहतर रूप से जानने और समझने के लिए इसे दो चरणों में बाँट कर देखा जा सकता है-

- पहले चरण के तहत हम उन्मूलनवादी आंदोलनों को रख सकते हैं।
- द्वितीय चरण के तहत हम नागरिक अधिकार आंदोलनों को रख सकते हैं।

उन्मूलनवादी आंदोलन के तहत अश्वेत स्त्रियों से जुड़े हुए विभिन्न पूर्वाग्रहों, मिथकीय चेतनाओं और दास अथवा सेवक के रूप में उन पर होने संस्थागत (दास-प्रथा) शोषण के उन्मूलन की बात की गई है। दास प्रथा के अंतर्गत अश्वेत व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) केवल दास के रूप में ही कार्य कर सकता था। अमेरीका में अश्वेत स्त्रियों के प्रति पूर्वाग्रहों और मिथकों के तहत अफ्रीकी-अमेरीका स्त्रियों की 'चरित्रहीन' एवं 'सेवा करने वाली आया' तथा 'समलैंगिक' वाली रूढ़ (स्टीरियोटाइप) छवि गढ़ी गई थी, जो लंबे समय से समाज में चली आ रही थी। इन परिस्थितियों के मद्देनज़र ऐसे आंदोलनों का विकास होना लाज़िमी था। इस नारीवादी आंदोलन की कड़ी में 1851 ई. में सोजोनर ट्रुथ द्वारा ओहियो में हो रहे श्वेत स्त्रियों के अधिवेशन में दिया गया जोरदार भाषण काफी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस भाषण को "क्या मैं औरत नहीं हूँ?" (Ain't I a Woman?)के नाम से जाना जाता है। न्यूयॉर्क में जन्मी सोजोनर ट्रुथ ने इस मंच से अश्वेत स्त्रियों के जीवन के

विभिन्न कष्टकारी और शोषणयुक्त पहलुओं और उनके प्रति होने वाले भेदभाव को सबके सामने रखा। उन्होंने अश्वेतों को अमेरीका से अलग देश ('दासों के देश') का निवासी बताते हुए उनके लोकतांत्रिक अधिकारों की पुरज़ोर वकालत की और मानवता के पहरूओं के सामने अश्वेत स्त्रियों की सच्ची तस्वीर पेश की। उन्होंने अश्वेत स्त्रियों के अधिकारों के सवाल पर छायी चुप्पी को प्रश्नांकित किया और बताया कि अश्वेत स्त्रियों को मिलने वाले अधिकार ही पितृसत्ता से संघर्ष के लिए पर्याप्त नहीं हैं। अश्वेत स्त्री कार्यकर्ताओं में **अन्ना जूलिया कॉपर** का नाम विशेष महत्व रखता है। इन्होंने 1894 ई. में वाशिंगटन डी.सी में "कलर्ड वुमेन्स लीग" (सी.डबल्यू.एल) की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा 'वुमन्स क्रिश्चियन टेम्पेरेन्स यूनियन' (डब्ल्यू.सी.टी.यू) के संस्थापक सदस्यों में से एक रहीं। इन्हें सामाजिक कार्यकर्ता, लेखक, व्याख्याता, शिक्षाविद एवं अश्वेत नारीवाद के आरंभिक सिद्धांतकारों के रूप में जाना जाता है। अश्वेत नारीवादी आंदोलनकारियों में **मैरी मेक्लेओड बेथुने** का नाम काफी महत्वपूर्ण है। इन्होंने अश्वेत स्त्रियों की शिक्षा के लिए विशेष प्रयास किया, अश्वेत स्त्रियों में शिक्षा के प्रसार हेतु सर्वप्रथम उन्होंने नीग्रो लड़कियों के लिए 'लिटरेरी एंड इंडस्ट्रियल ट्रेनिंग स्कूल' खोला और बाद में इसे विस्तार देकर 'बेथुने-कुकमेन कॉलेज' का नाम दिया गया। 1935 में इन्होंने 'नेशनल काउंसिल ऑफ नीग्रो वुमन' की स्थापना की। एक संघीय संस्था के माध्यम से नीग्रो समुदाय के जीवन से जुड़े विभिन्न महत्वपूर्ण मामलों जैसे - उनकी घरेलू सेवा, शिशु कल्याण, पत्रकारिता, शिक्षा, गैरकानूनी प्राणदंड और उनके वोट के अधिकार के मामले को उठाने वाली वह पहली स्त्री थीं। अश्वेत स्त्रीवादियों के क्रम में '**मैरी एन्न वेदर्स**' का नाम भी हमारे सामने आता है। मैरी एन्न वेदर्स ने अश्वेत नारीवादी चिंतन को एक यथार्थवादी स्वरूप प्रदान किया। ये 1960 के दशक के नागरिक अधिकारों में शामिल रही थीं और बाद में अश्वेत नारीवादी आंदोलन से जुड़ी। इन्होंने अश्वेत स्त्रियों को संबोधित करते हुए कहा था कि – "आपकी लड़ाई के लिए कोई दूसरा लड़ने नहीं आएगा, बल्कि अपनी लड़ाई आपको स्वयं लड़नी होगी।" उन्होंने अश्वेत समुदाय के भीतर मौजूद पितृसत्ता को भी प्रश्नांकित किया। 1913 ई. में केन्याई महिला, 'मैकतीलिली वा मेंजा' के नेतृत्व में गिरियामा समुदाय के लोगों द्वारा ब्रिटिश उपनिवेशवादी प्रशासन के खिलाफ किया गया संघर्ष अश्वेत नारीवादी आंदोलन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह आंदोलन मुख्यतः ब्रिटिश द्वारा लगाए जाने वाले करों के खिलाफ था। इस सशस्त्र विद्रोह और प्रतिरोध के फलस्वरूप स्त्रियों ने उपनिवेशवादी ताकतों के खिलाफ 1920 के दशक में अपना संगठन भी बनाया, जिनमें 'लागोस मार्केट वुमन एसोशिएशन' (एल.एम.डब्ल्यू.ए), 'नाइजीरियन वुमन्स पार्टी' (1944) आदि शामिल थे। अश्वेत स्त्रियों द्वारा किए गए इन सशक्त संघर्षों ने अश्वेत नारीवादी आंदोलन के उभार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अश्वेत नारीवादी आंदोलन का व्यवस्थित रूप, जिसमें उसके सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और जीवन से जुड़े विविध पहलुओं का समावेश था, 1970 के दशक में हमारे सामने आया। इसी समय अश्वेत

नारीवाद की एक व्यवस्थित सैद्धांतिकी के साथ-साथ सक्रिय अश्वेत नारीवादी संगठनों का उदय हुआ। अश्वेत नारीवादी आंदोलन से जुड़े कुछ प्रमुख घटनाक्रम को ऐतिहासिक क्रमानुसार यहाँ देखा जा सकता है-

- 1973 में न्यूयॉर्क में 'नेशनल ब्लैक फेमिनिस्ट ओर्गेनाइजेशन' की स्थापना
- 1973 में सैन फ्रांसिस्को में 'ब्लैक वुमन ओर्गेनाइज्ड फॉर एक्शन' की स्थापना
- 1974 में बोस्टन में 'द कॉमबाही रिवर कलेक्टिव' की स्थापना।
- 1977 में तीसरी दुनिया के लेस्बियनों के लिए एक साहित्यिक पत्रिका 'आजेलिया' का पहली बार प्रकाशन।
- 1978 में 'वैरिड वायसेस ऑफ ब्लैक वुमन कन्सर्ट टूर'।
- 1979 में कॉमबाही रिवर कलेक्टिव ने 12 अश्वेत स्त्रियों के मारे जाने के खिलाफ बोस्टन में प्रदर्शन किया।
- 1980 में वाशिंगटन डीसी में 'थर्ड वर्ल्ड वुमन एंड वोयलेंस' विषय पर पहला राष्ट्रीय सम्मेलन।
- 1980 में ओटारा न्यूजीलैंड में 'अश्वेत स्त्री हेतु' प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन।
- 1981 में बर्कले में 'थर्ड वर्ल्ड विमेन्स क्लीनिक' की स्थापना।
- 1981 में 'किचन टेबल : वुमन ऑफ कलर प्रेस' की स्थापना।
- 1981 में वाशिंगटन डीसी में 'ब्लैक विमेन्स सेल्फ-हेल्प कलेक्टिव' की स्थापना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न संगठनों और नागरिक अधिकार आंदोलनों में अश्वेत स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी ने संगठित होकर अश्वेत स्त्रियों के जीवन से जुड़े मुद्दों को उठाया, जिससे इस संबंध में चिंतन प्रक्रिया को बल मिला और इससे अश्वेत नारीवादी आंदोलन का सैद्धांतिक और व्यावहारिक विकास हुआ।

2.4.4. अश्वेत नारीवाद की समीक्षा

मुख्यधारा के नारीवादी आंदोलनों और अश्वेतों द्वारा चलाए जा रहे विभिन्न आंदोलनों से अलग राह बनाते हुए 'अश्वेत नारीवाद' ने अपनी एक अलग सैद्धांतिकी तैयार की है। अपनी चिंतन परंपरा की स्वीकार्यता और उसे स्थापित करने के क्रम में अश्वेत नारीवादी सिद्धांत को ***तीन स्तर*** पर चुनौतियों का सामना करना पड़ता है

- सर्वप्रथम इसे साधारण अश्वेत स्त्रियों के बीच अपने सिद्धांतों के प्रति विश्वास का भाव जगाना पड़ता है।
- दूसरा अश्वेत मध्यमवर्गीय और शिक्षित स्त्रियाँ जो सामान्यतः नारीवादी नहीं है, उनके बीच इस सैद्धांतिकी की स्वीकृति और

- तीसरा, जो सबसे अहम है – कि 'यूरोसेण्ट्रिक' (यूरोकेंद्रित) और पुरुषवादी विचारधाराओं से अकादमिक जगत में ज्ञान मीमांसात्मक मुठभेड़ करना।

इसे देखते हुए कुछ आलोचकों का कहना है कि अश्वेत स्त्री द्वारा स्वयं को सिर्फ अश्वेत समूह के रुप में देखने की प्रवृत्ति के कारण यह नस्लीय पूर्वाग्रहों का शिकार हो गया है, जिससे इसके तार्किक आयाम कमजोर हुए हैं। वहीं नस्लीय भेदभाव के विरोधियों का मानना है कि अश्वेत स्त्री सिर्फ अश्वेत होने के कारण शोषित नहीं है, बल्कि स्त्री होने के साथ-साथ वह अश्वेत भी है, यह उसके दोहरे शोषण का प्रमुख कारण है। वास्तव में 'अश्वेत नारीवाद' जिन परिस्थितियों की उपज है, उसमें नस्ल और लिंग के मुद्दे को प्रमुखता देना इसकी विशेषता है, लेकिन बदलते समय के साथ-साथ अश्वेत नारीवाद की अवधारणा और समावेशी हो गई है, जिसे अश्वेत नारीवाद का तीसरा चरण कहा जा सकता है। इसमें अश्वेत स्त्रियों के विधिक मामले, उनके स्वास्थ्य संबंधी मुद्दे एवं रोज़गार के अवसरों की उपलब्धता के संबंध में चिंतन और संघर्ष दोनों के स्तर पर कार्य किए जा रहे हैं।

अश्वेत नारीवादी आंदोलन का प्रभाव श्वेत स्त्रीवादियों और अश्वेत समुदाय के मध्य अलग-अलग है। नारीवादी आंदोलनों से जुड़ी अनेक श्वेत स्त्रीवादियों ने इस आंदोलन की जरूरत को स्वीकार करते हुए स्त्री-जीवन में नस्ल, वर्ग और लैंगिक आधार पर शोषण की बात को भी स्वीकारा है। इसी का परिणाम है कि अमेरीका एवं अन्य देशों के विभिन्न प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों के 'जेंडर स्टडीज़' केंद्रों में अश्वेत स्त्रियों के लेखन, उनके इतिहास और उनके संघर्ष को पाठ्यक्रम में शामिल किया जा रहा है। वहीं अश्वेत समुदाय के बीच यह आंदोलन उतना प्रभावी नहीं है। अश्वेत समुदाय द्वारा चलाए जा रहे मुक्तिकामी आंदोलनों में अभी भी अश्वेत स्त्री से जुड़े मुद्दों को प्रभावी तरीके से नहीं उठाया गया है। अश्वेत अकादमिक समुदाय में 'जेंडर' के प्रति संवेदनशीलता में तो बढ़ोत्तरी हुई है, लेकिन लोकप्रिय संस्कृति, विशेषकर 'रैप म्यूजिक इंडस्ट्री', जिसमें अनेक अश्वेत पुरुष लगे हुए हैं, वह स्त्री विरोधी होने के साथ-साथ लैंगिकता से प्रभावित भी है।

अश्वेत स्त्रियों पर होने वाले किसी भी प्रकार के शोषण के खिलाफ संघर्ष और उससे मुक्ति की प्रतिबद्धता अश्वेत नारीवादी आंदोलन का मुख्य लक्ष्य है। अश्वेत महिलाएं एक विशिष्ट सांस्कृतिक विरासत को प्रश्रय देती हैं, जो उन्हें रोज-रोज के नस्लीय भेदभाव के खिलाफ प्रतिरोध और संघर्ष की प्रेरणा देता है। इस आंदोलन ने नारीवाद की एक अलग ज्ञान मीमांसा / चिंतन प्रणाली तैयार की है, जो अपने आप में बेहद समावेशी एवं शोषण के विविध रूपों को उजागर करने वाली है। इस आंदोलन को और व्यापक बनाने के लिए इसे अश्वेत समुदाय और तीसरी दुनिया के स्त्रियों से जुड़ाव को और बेहतर बनाना होगा एवं साथ ही इस आंदोलन को मुख्यधारा के नारीवादी आंदोलनों से संवाद की स्थिति भी बनानी होगी, ताकि यह अपने व्यापक सरोकारों की पूर्ति कर सके।

2.4.5. दलित नारीवाद की अवधारणा

दलित स्त्रियों के अधिकारों को लेकर संघर्ष करने का इतिहास काफी पुराना है, लेकिन 1990 के दशक से भारत में 'दलित नारीवाद' की शुरुआत मानी जा सकती है। इससे पूर्व ही भारत में स्त्री विमर्श और दलित विमर्श अपनी जड़े जमाने लगा था, लेकिन इन दोनों विमर्शों/आंदोलनों में दलित स्त्री से जुड़े मुद्दों व उनके सरोकारों का कोई व्यवस्थित रूप नहीं दिखाई पड़ता। इसी अभाव की पूर्ति हेतु 'दलित नारीवाद' की अवधारणा प्रकाश में आई। दलित स्त्रीवादियों ने मुख्यधारा के नारीवादी विमर्शों को प्रश्नांकित करते हुए बताया कि भारत के नारीवादी विमर्शों में वर्ग और लिंग का मुद्दा ही केंद्र में रहा है, और इसमें लिंग के साथ जाति के सवाल को हाशिये पर रख दिया है। इन्होंने मुख्यधारा के नारीवादी आंदोलनों के चरित्र पर ब्राह्मणवादी होने और प्रभुत्वशाली वर्ग के अधीन कार्य करने का आरोप भी लगाया। इन्होंने 'दलित विमर्श' के पैरोकारों पर भी दलित स्त्री के मुद्दों को न उठाए जाने तथा दलित वर्ग से जुड़े विभिन्न मुद्दे व आंदोलन में दलित स्त्रियों की भागीदारी को प्रायः नज़रअंदाज किए जाने का आरोप लगाया। डॉ. अंबेडकर ने जिस तरह से दलित स्त्रियों को जागरूक कर उनमें संघर्ष की चेतना जगाई, वैसा हमें अंबेडकर के बाद नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि स्वतंत्रता के पश्चात जो तीन महत्वपूर्ण दलित आंदोलन हुए जिनमें – मराठवाड़ा, नासिक, अहमदनगर आदि में होने वाले भूमिहीन सत्याग्रह, दलित पैन्थर आंदोलन और नामांतर आंदोलन का नाम लिया जा सकता है। इन तीनों आंदोलनों में दलित स्त्रियों की भी एक सक्रिय भूमिका थी, लेकिन इन सबमें दलित स्त्रियों की उपस्थिति अथवा उसकी भूमिका को नज़रअंदाज कर दिया गया। दलित स्त्रियों के मुद्दे को दलितवादियों और स्त्रीवादियों द्वारा नज़रअंदाज किए जाने के संबंध में शर्मिला रेगे ने बताया है कि दलितवाद के पुरुषीकरण और स्त्रीवाद के सवर्णीकरण तक सिमटने की वजह से ही दलित नारीवादी आंदोलनों की निर्मिति हुई।

दलित स्त्रीवादियों के अनुसार एक दलित स्त्री का तिहरा (तीन स्तरों पर) शोषण होता है। इनमें जाति, लिंग और वर्ग के आधार पर किए जाने वाले शोषण शामिल हैं। इन्होंने ये भी बताया कि दलित स्त्रियों को घर और घर के बाहर दोनों मोर्चे पर पितृसत्ता का सामना करना पड़ता है। आंतरिक मोर्चे पर दलित स्त्री को परिवार के सदस्यों द्वारा किए जाने वाले शोषण का शिकार होना पड़ता है तो बाहरी मोर्चे पर इन स्त्रियों को सवर्ण/गैरदलित पुरुषों व सवर्ण/गैरदलित स्त्रियों के द्वारा किए जाने वाले शोषण का शिकार होना पड़ता है। आंतरिक पितृसत्ता द्वारा दलित स्त्रियों का परिवार के भीतर अपेक्षाकृत कम शोषण होता है, वहीं बाहरी पितृसत्ता द्वारा उन पर किए जाने वाले शोषण का स्वरूप अधिक क्रूर व जटिल होता है। इनमें अधिकांशतः बलात्कार व छेड़छाड़ की घटनाएँ शामिल हैं। दलित नारीवाद दलित समुदाय में स्थित पितृसत्ता के साथ-साथ सवर्ण अथवा ब्राह्मणवादी दोनों पितृसत्ता पर प्रश्न-चिह्न लगाते हुए एक समता मूलक समाज के निर्माण की बात करता है, जिसमें स्त्री को महज एक मानव के रूप में गरिमा प्रदान की जा सके। इस संबंध में दलित स्त्री आत्मकथाओं व उनकी अन्य रचनाओं को देखा जा सकता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि दलित नारीवाद अथवा दलित स्त्री विमर्श एक ऐसा सामाजिक आंदोलन है जो, मुख्य रूप से दलित स्त्रियों

की समस्याओं, उन पर होने शोषण के साथ-साथ उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, मूलभूत आवश्यकताओं संबंधी मुद्दों एवं उनकी अस्मिता और प्रतिनिधित्व के प्रश्न को प्रभावी रूप से हमारे सामने रखता है, और उसके लिए संघर्ष करता है।

1990 के आस-पास दलित नारीवादी संगठनों की स्थापना की गई, जिससे इस विचारधारा को एक संगठनात्मक संबल मिला। इन संगठनों में मुख्य रूप से महाराष्ट्र के 'नेशनल फेडरेशन ऑफ दलित वुमन'(1993) व 'दलित महिला संगठना'(1995) एवं दिल्ली के 'ऑल इंडिया दलित वुमन फोरम'(1994) आदि का नाम लिया जा सकता है।

2.4.6. दलित नारीवाद आंदोलन का इतिहास व उनके प्रणेता

आज के समय में दलित नारीवाद का जो स्वरूप हमारे सामने दिखाई दे रहा है, उसकी एक लंबी पृष्ठभूमि रही है। दलित स्त्री विमर्श के सूत्र बौद्धकालीन थेरी गाथाओं से जोड़े जा सकते हैं। दलित समुदाय से ताल्लुक रखने वाली थेरी सुमंगला और पूर्णिमा दासी की कविताओं में नारीवाद की अभिव्यक्ति को साफ तौर पर देखा जा सकता है। आधुनिक काल में इसकी शुरुआत स्वतंत्रता पूर्व एवं स्वतंत्रता के पश्चात हुए अनेक महत्वपूर्ण दलित अधिकार आंदोलनों में हमें देखने को मिलते हैं। इन आंदोलनों और चिंतन का प्रभाव एक सुसंगत 'दलित नारीवाद' आंदोलन के रूप में 90 के दशक में हमारे सामने आता है। दलित नारीवादी आंदोलन को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने में अनेक चिंतकों/बुद्धिजीवियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनमें ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले, पेरियार, जाईबाई चौधरी, छत्रपति साहू जी महाराज, ताराबाई शिंदे, दुर्गाबाई देशमुख, डॉ. भीमराव अंबेडकर, रमाबाई आदि का महत्वपूर्ण योगदान है। समकालीन दलित नारीवादी चिंतकों में उर्मिला पवार, गोपाल गुरु, शर्मिला रेगे, उमा चक्रवर्ती, बजरंग बिहारी तिवारी, अनीता भारती आदि का नाम लिया जा सकता है।

2.4.6.1. ज्योतिबा फुले और सावित्री बाई फुले का योगदान

दलित चिंतकों ने सामाजिक असमानता, शोषण और अस्पृश्यता से मुक्ति पाने में शिक्षा को सबसे बड़ा हथियार माना है। दलित स्त्रियों के उत्थान हेतु शिक्षा के महत्व को सर्वप्रथम मूर्त रूप देने में ज्योतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले का नाम सबसे महत्वपूर्ण है। सन 1848 ई॰ में ज्योतिबा फुले ने दलित बालिकाओं को शिक्षा देने के उद्देश्य से पुणे के एक गाँव में स्कूल की स्थापना की। तत्कालीन सामंती परिस्थितियों के बीच दलित लड़कियों के लिए स्कूल खोलना एक क्रांतिकारी कदम था, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें समाज से बहिष्कार भी झेलना पड़ा। स्कूल खोलने के पश्चात उनके सामने स्कूल में पढ़ाने के लिए शिक्षक की आवश्यकता एक नई समस्या थी, क्योंकि यहाँ पढ़ाने के लिए कोई आसानी से तैयार नहीं हो रहा था। इस स्थिति को देखते हुए ज्योतिबा फुले ने अपनी पत्नी सावित्रीबाई फुले को प्रशिक्षित कर पढ़ाने का कार्यभार सौंप दिया। सावित्रीबाई फुले ने इस महत्वपूर्ण कार्य का बड़ी ही ज़िम्मेदारी के साथ बखूबी

निर्वहन किया। इस तरह से घर से बाहर आकर पढ़ाने का काम करने वाली सावित्रीबाई प्रथम शिक्षिका थीं। लेकिन इस कार्य को जारी रखना तत्कालीन व्यवस्था के अनुसार उतना आसान नहीं था। लोग इन्हें तंग करने के लिए रास्ते में उन पर गोबर और पत्थर फेंका करते थे। लेकिन सावित्रीबाई इन सारी परिस्थितियों से भी नहीं घबराईं और अध्यापन का कार्य जारी रखा। ज्योतिबा फुले ने क्रमशः 1851 और 1852 में एक–एक स्कूल और खोला। सन 1855 में उन्होंने पुणे में एक प्रौढ़ पाठशाला की स्थापना की और 1852 ई॰ में मराठी पुस्तकों के प्रथम पुस्तकालय की स्थापना भी की। स्त्रियों के बारे में फुले के विचार क्रांतिकारी थे, वे स्त्री और पुरुष दोनों को बराबर समझते थे, और विवाह प्रथा में भी सुधार की बात करते थे। इस प्रकार अगर हम फुले के संपूर्ण विचार पर ध्यान दें तो हम पाते हैं कि फुले दंपति के विचार और उनके कार्यों ने दलित स्त्रियों में चेतना के बीजारोपण करने का कार्य किया।

2.4.6.2. डॉ. भीमराव अंबेडकर का योगदान

डॉ. अंबेडकर ने 1942 ई॰ के नागपुर के सम्मेलन में बोलते हुए कहा था कि –'दलित समाज ने कितनी प्रगति की है इसे मैं दलित स्त्री की प्रगति से तौलता हूं' यह कथन वही व्यक्ति कह सकता है, जिसे समाज में एक स्त्री की मानवीय भूमिका और उसकी प्रतिबद्धता की बारीक पहचान हो। दलित अधिकारों और उनके शोषण के खिलाफ लड़ने वालों में बाबासाहब अंबेडकर का नाम अग्रगण्य है। डॉ. अंबेडकर पर फुले और छत्रपति साहू जी महाराज के विचारों का गहरा प्रभाव था। डॉ. अंबेडकर ने अपने आंदोलनों और विचारों के माध्यम से दलित पुरुषों में ही चेतना का प्रसार नहीं किया बल्कि इससे दलित स्त्रियों में भी चेतना का गहन प्रसार हुआ।

1920 में कोल्हापुर नरेश छत्रपति शाहू जी महाराज की अध्यक्षता में आयोजित 'भारतीय बहिष्कृत परिषद' की सभा में पहली बार दलित स्त्रियों ने हिस्सा लेकर अपनी सक्रिय उपस्थिति दर्ज की। इस आंदोलन के बाद अनेक सामाजिक आंदोलनों में दलित स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी लगातार बढ़ती रही। 1927 में हुए महार सत्याग्रह आंदोलन, जिसमें मनु स्मृति का दहन व 'चावदार तालाब का पानी पीना' शामिल था, इस घटना ने दलित स्त्रियों के जीवन में प्रतिदिन होने वाले शोषण के खिलाफ संघर्ष करने का भाव पैदा किया। दलित स्त्रियों को घर में पिसने के बाद बाहर भी अनेक तरह के मामले, जिनमें मजदूरी करने के लिए कम पैसे दिए जाना, शारीरिक शोषण, काम के घंटे नियत न होने जैसी समस्याओं से गुजरना पड़ता था। स्त्री अधिकारों की रक्षा के लिए बाबासाहब ने 1928 में मुंबई में 'स्त्री मंडल' की स्थापना की और इस स्त्री मंडल की प्रथम अध्यक्ष के रुप में डॉ. अंबेडकर की पत्नी रमाबाई को चुना गया। स्त्री मंडल ने पूना के पार्वती मंदिर में प्रवेश के लिए संघर्षपूर्ण सत्याग्रह किया। स्त्री मुक्ति के बिना समाज का सांस्कृतिक तथा आर्थिक उत्थान अधूरा है। इस उद्देश्य को केंद्र में रखकर उन्होंने सन 1955 में 'हिंदू कोड बिल' तैयार किया। यह बिल जीवन निर्वाह, विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, दत्तक, अल्पसंख्यक और अभिभावकता के कानून से संबंधित था। यही 'हिंदू कोड बिल' प्रत्येक तबके की स्त्रियों के अधिकारों का कानूनी दृष्टि से मूलभूत आधार बना। डॉ. अंबेडकर का

मानना था कि स्त्री तथा समाज की उन्नति शिक्षा के बिना नहीं हो सकती, शिक्षित होकर ही स्त्री अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकती है। वे मानते थे कि परिवार में स्त्री शिक्षा ही वास्तविक प्रगति की धुरी है। स्त्री शिक्षा को अत्याधिक महत्व देते हुए उन्होंने कहा भी है कि, 'अगर घर में एक पुरुष पढ़ता है तो केवल वही पढ़ता है और यदि घर में स्त्री पढ़ती है तो पूरा परिवार पढ़ता है।' इस प्रकार हम देखते हैं कि बाबासाहब अंबेडकर के भाषणों, उनकी रचनाएँ एवं उनके आंदोलनों ने दलित स्त्रियों में संघर्ष और प्रतिरोध की चेतना का विकास किया, जिसने दलित नारीवादी आंदोलनों के लिए एक उर्वर जमीन तैयार की।

2.4.7. दलित नारीवाद की समीक्षा

स्वतंत्रता के 65 वर्ष बाद भी दलित स्त्रियों की दशा में कोई खास परिवर्तन देखने को नहीं मिलता है। एक सामान्य स्त्री के बनिस्पत दलित स्त्रियों की समस्या न केवल अधिक है, बल्कि दारुण भी है, क्योंकि आज भी वह समाज के सबसे वंचित और उत्पीड़ित तबके से आती है। लेकिन इन सबके बावजूद भी दलित नारीवादी आंदोलन ने दलित स्त्री के भीतर एक आत्मविश्वास और चेतना का भाव जरूर पैदा किया है, जिसके कारण ये अपने अधिकारों और रचनात्मक अभिव्यक्तियों को समाज के सामने लाने का कार्य कर रही हैं। इस कड़ी में दलित स्त्री आत्मकथाओं का काफी महत्व है, जिसमें बेबी कांबले की 'जीणं आमुचं' (जीवन हमारा), कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' तथा सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। दलित स्त्री आत्मकथाएं विभिन्न भारतीय भाषाओं में निरंतर लिखी जा रहीं हैं, इनमें बामा की 'कोरक्कू' (तमिल) और बेबी कांबले की 'जीणं आमुचं' (मराठी) में हैं। इन आत्मकथाओं के माध्यम से इन्होंने एक दलित स्त्री पर पितृसत्ता, धर्मसत्ता, जातिसत्ता तथा रूढ़िवादी व्यवस्था के अनेक रूपों द्वारा किए जाने शोषण के विभिन्न रूपों को परत दर परत उघाड़ने का कार्य किया है।

दलित नारीवादी आंदोलन ने अपना शुरुआती चरण पूरा कर लिया है और इसे व्यापक स्तर पर पहचान भी मिल चुकी है। हालांकि इसमें कहीं-कहीं अंतर्विरोध भी भी है और इसकी वैचारिकी में विकास की गुंजाइश भी है। आज पूंजीवाद और बाजारवाद के समय में शोषण के नए स्वरूपों की पड़ताल करते हुए दलित नारीवादी आंदोलन को उसके खिलाफ सजग होने के साथ-साथ इस आंदोलन को जीवन के आधारभूत मुद्दों से जोड़ते हुए संघर्ष करने की आवश्यकता है। अभी भी इसे कई सवालों से टकराना बाकी है। इन सवालों में दलित स्त्रियों की जीविका के साधन, बराबर काम के घंटे, समान मजदूरी का सवाल, स्वास्थ्य एवं सफाई, उचित अवकाश की व्यवस्था, शोषण और हिंसामुक्त परिवार के साथ-साथ समान प्रतिनिधित्व व समुचित भागीदारी का सवाल बहुत महत्वपूर्ण है। ये मुद्दे दलित या स्त्री तक ही सीमित नहीं हैं, बल्कि इसके सरोकार व्यापक हैं। इन व्यापक लक्ष्यों और एक समतावादी समाज की स्थापना के लिए दलित नारीवाद को विभिन्न अधिकार आंदोलनों, संघर्षरत संगठनों के साथ मिलकर एक साझे मंच से इस आंदोलन को और गति देने की जरूरत है।

2.4.8. सारांश

अश्वेत और दलित नारीवादी आंदोलन, दोनों ही मुख्य धारा के नारीवादी आंदोलनों से अलग होते हुए भी नारीवादी आंदोलनों के फ़लक को विस्तार देने का कार्य कर रहे हैं। ये दोनों आंदोलन समाज के सबसे शोषित तबके से संबंधित होने के बावजूद अपने विशिष्ट देश, काल और परिस्थितियों के कारण प्रकाश में आए हैं, और इन दोनों नारीवादी आंदोलन को लेकर नारीवाद की एक व्यापक भूमि तैयार की जा सकती है। इन दोनों नारीवादी आंदोलनों ने नस्ल, जाति, वर्ग और लैंगिक आधार पर शोषित तबके को आवाज दी है। अपने अस्तित्व, अस्मिता और सामाजिक न्याय के मुद्दों को लेकर चलने वाले इन आंदोलनों को बाजारवाद और भूमंडलीकरण के दौर में और सजग होने की आवश्यकता है, क्योंकि समय के साथ-साथ शोषण के स्वरूप में भी बदलाव हुए हैं, और इन्हें समझ कर इनके खिलाफ संघर्ष करना तथा इन आंदोलनों से निकली चेतना का विस्तार करना हमारे लिए एक बड़ी चुनौती है। अश्वेत और दलित स्त्रियों के विविध अनुभवों ने उनकी चेतना को समृद्ध करने का कार्य किया है। ये मात्र अब शोषित नहीं है, बल्कि अपने ज्ञान उत्पादन की प्रक्रिया में विभिन्न समस्याओं का सृजनात्मक और प्रभावकारी तरीके से समाधान भी कर रही हैं।

अश्वेत और दलित नारीवाद का अध्ययन इस अर्थ में उपयोगी है कि यह हमें वैश्विक स्तर की संरचनाओं और कार्य प्रणालियों के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक नया दृष्टिकोण प्रदान करता है। और इस अर्थ में संपूर्ण और समग्र है कि इससे हमें एक ऐसी दृष्टि मिलती है, जो इन स्त्रियों के विरोध और प्रतिरोध के माध्यम से शोषक और शोषित के संबंधों को समग्र रूप में उजागर करती है। सामाजिक न्याय के उद्देश्य से स्त्रियों को केंद्र में रखकर यह आलोचनात्मक रूप से एक नए आंदोलन, नई शब्दावली और नई प्रक्रियाओं की मांग करता है। आने वाले समय में मानवतावादी मूल्यों के साथ-साथ इन आंदोलनों को मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं से जोड़ना इन आंदोलनों को विस्तार देने जैसा होगा।

2.4.9. पारिभाषिक शब्द

दलित : दलित शब्द सीधा अर्थ निकलता है कि जिसका दमन अथवा शोषण हुआ हो। वर्तमान संदर्भों में भारतीय संविधान में वर्णित अनुसूचित जातियों के लोगों को दलित कहा जाता है।

एफ्रो-अमेरीका अध्ययन : एक अंतरनुशासनात्मक अध्ययन क्षेत्र, जिसमें अश्वेत अमरीकियों के इतिहास, राजनीति, धार्मिक अध्ययन, समाजशास्त्र, मानविकी एवं समाज विज्ञान के विभिन्न विषयों का अध्ययन किया जाता है।

पितृसत्ता : पितृसत्ता अंग्रेज़ी के पैट्रियार्की (Patriarchy)का हिंदी समानार्थी है। पहले इस शब्द का प्रयोग परिवार में पिता द्वारा किए जाने वाले शासन के रूप में किया जाता था, लेकिन बाद में नारीवादी आंदोलनों में इस शब्द का अर्थ 'पुरुष सत्ता' के रूप में रूढ़ हो गया।

दास प्रथा : दास प्रथा एक ऐसी वैधानिक और आर्थिक व्यवस्था है, जिसमें मनुष्य को 'संपत्ति' के रूप में समझा जाता है। संपत्ति के रूप में इसे खरीदा और बेचा भी जा सकता है। तथा इसे किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं प्रदान किए जाते।

2.4.10. बोध प्रश्न

1. अश्वेत नारीवाद के उदय के कारणों का उल्लेख करें।
2. दलित नारीवाद की सैद्धांतिकी के बारे में बताएँ।
3. अश्वेत और दलित नारीवाद के बीच समानता के बिंदुओं का उल्लेख करें।
4. नारीवादी आंदोलनों को और व्यापक बनाने में अश्वेत और दलित नारीवाद किस प्रकार अपना योगदान दे रहा है?

2.4.11. संदर्भ ग्रंथ सूची

- बैसंत्री, कौशल्या. (1999). *दोहरा अभिशाप*. नई दिल्ली: परमेश्वरी प्रकाशन.
- भारती, अनीता. (2013). *समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध*. दिल्ली: स्वराज प्रकाशन.
- Chakravarti, Uma. (2003). *Gendering caste* : *through a feminist lens*. Kolkata : Stree.
- Collins, Patricia. Hill. (1989). *The Social Construction of Black Feminist* Thought. Signs, Vol. 14, No. 4, pp.-745-773.
- Guru, Gopal. (1997). *Dalit Cultural Movements and Dalit Politics* in Maharashtra. Mumbai: Vikas Adhyayan Kendra.
- Hooks, bell. (1984). *Feminist Theory: From Margin To Center.* Cambridge, MA: South End Press.
- Pilcher, Jane. & Whelehan, Imelda. (2004). *Fifty* Key Concepts *in Gender Studies*. New Delhi : SAGE Publications.

खंड-3 महिला एवं विकास

इकाई-1 विकास विभिन्न नज़रिए और आर्थिक विकास में स्त्री की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

3.1.0. उद्देश्य

3.1.1. प्रस्तावना

3.1.2. विकास की परिभाषा

3.1.3. विकास के प्रतिमान

3.1.4. विकास के विभिन्न रास्ते

3.1.4.1. पूँजीवादी मार्ग

3.1.4.2. समाजवादी अर्थव्यवस्था

3.5.4.3. मिश्रित अर्थव्यवस्था

3.5.4.4. पूँजीवादी विश्वव्यवस्था

3.1.5. आर्थिक विकास और स्त्रियों

3.1.6. सारांश

3.1.7. बोध प्रश्न

3.1.8. संदर्भ ग्रंथ सूची

3.1.0. उद्देश्य

विकास क्या है? यह एक कठिन सवाल हैं। विकास के बारे में हर आदमी की अलग-अलग नज़रिया हो सकती है और उसकी राय भी। भिन्न-भिन्न व्यक्ति विकास के बारे में भिन्न-भिन्न तरीके से सोचता है और उसी के अनुरूप अपने देश-समाज का विकास देखना चाहता है। लेकिन कोई भी देश हर व्यक्ति की इच्छा के अनुसार विकास का नज़रिया नहीं अपना सकता। देश अपने स्तर पर विकास की नीतियाँ तय करते हैं। ये नीतियाँ किसी के लिए अनुकूल तो कुछ लोगों के लिए प्रतिकुल होती हैं। तब यह एक सहज सवाल उठा खड़ा होता है कि विकास के विभिन्न जजरिए होते हैं, जिनके आधार पर किसी देश के विकास का अध्ययन किया जाता है। किसी भी देश का विकास समाज के विभिन्न तबकों को प्रभावित करता है और कोई भी विकास विभिन्न लोगों की भूमिका का परिणाम होता है। इस इकाई में हम विकास के विभिन्न नज़रिए उनका क्रमिक विकास और विकास में स्त्रियों की भूमिका पर चर्चा की जाएगी।

3.1.1. प्रस्तावना

पूरी दुनिया के सामने 'विकास' चर्चा के केंद्र में काफ़ी पहले से रहा है। इसे बड़े-बड़े अर्थशास्त्रियों समेत तमाम लोग समझने की कोशिश करते रहें हैं और एक व्यापक तबके की इसमें बराबर की रूचि रही है। यह एक समान्य-सा कौतूहलपूर्ण सवाल हैं कि विकास किसे कहा जाए? इसका जबाब ढ़ेर सारे विद्वानों ने दिए हैं लेकिन उनके जवाब समय के साथ-साथ कमज़ोर पड़ने लगते हैं लिहाजा 'विकास' पुन:-पुन: विचारणीय प्रश्न बनने लगता है। वास्तव में दुनिया की सारी चीजें परिस्थितियों से प्रभावित होती है। जैसे-जैसे जीवन जटिल होता है, वैसे-वैसे परिस्थितियों में परिवर्तन होता है। व्यक्ति की आक्षाओं और आवश्यकताओं में बदलाव होते हैं। ये सारी चीजें विकास को प्रभावित करती हैं। यही वजह है कि समय-समय पर विकास की अवधारणाएँ भी बदलती रहती हैं।

सामान्य रूप से विकास की अवधारणा को आर्थिक विकास तथा लोगों के जीवन में परिवर्तनों की प्रक्रिया के रूप में लिखा जाता है। विकास के बारे में भिन्न-भिन्न लोगों से पूछे जाने पर उनके जवाब भिन्न-भिन्न होंगे। यहाँ तक कि उनके जवाब परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। एक चींज किसी की नज़र में विकास हो सकती है तो किसी की नज़र में वह विनाशक हो सकती है; जैसे नदियों पर बड़ें-बड़ें बाँध बनाकर बिजली पैदा किया जाना विकास का द्योतक है। इसी तरह से कुछ लोगों को नियमित काम अच्छी मज़दूरी और अपनी उपज की अच्छी से अच्छी कीमत प्राप्त करना उनकी आवश्यकता हो सकती है। कुछ लोग आय पाने के साथ-ही-साथ समानता, स्वतंत्रता, सुरक्षा और सम्मान की भी आंकाक्षा रख सकते है। परिणामस्वरूप कहा जा सकता है कि विकास से तात्पर्य ऐसे नियोजन से है कि जिसके ज़रिए अधिक-से-अधिक जनआकांक्षाओं को पूरा किया जा सकें।

वास्तव में विकास की अवधारणा किसी देश के नागरिकों का जीवन स्तर, बुनियादी सुविधाओं की उपलब्धता, बेहतर जीवन स्तर, सामूदायिक जीवन, स्वतंत्रता और समानता आदि जैसे प्रश्नों पर विचार करने और लक्ष्यों प्राप्त करने के उपायों से जुड़ी है। विकास की अवधारणा विभिन्न ऐतिहासिक काल-क्रमों में आकार ग्रहण किया और विकसित हुई। गत वर्षों में हमारे देश के अंदर जो विकास की अवधारणा विकसित हुई इसने काफ़ी विरोधी संघर्षों और वाद-विवादों को जन्म दिया है तथा विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

विकास की अवधारणा का सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों के साथ ही आर्थिक विकास से भी उसका गहरा संबंध है। इस इकाई के अगले भाग में हम चर्चा करेंगे कि विकास की अवधारणा कैसे यूरोप में पैदा हुई और एक सिद्धांत के रूप में प्रस्थापित हुई।

3.1.2. विकास की परिभाषा

'विकास' एक व्यापक शब्द है और उसमें उन्नति, कल्याण और बेहतर जीवन की अभिशालाएं अंतर्निहित है। कोई समाज विकास के ज़रिए समाज के लिए अपनी दृष्टि को समग्रता में स्पष्ट करता है और अपने दृष्टिगत लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रयोग किए जाने वाले तरीके को प्रस्तुत करता हैं। यद्यापि इस 'विकास' शब्द का प्रयोग आमसि पर आर्थिक विकास की दर में वृद्धि तथा समाज के आधुनिकीकरण जैसे सीमित अर्थ तक ही सिमट कर रह गया है। प्राय: देखा जाता है कि विकास को पूर्व निर्धारित लक्ष्यों या बांध, उद्योग और अन्य निर्माणाधीन परियोजनाओं को पूरा कर लेने तक ही सीमित मान लिया जाता है और विकास का लक्ष्य समाज के व्यापक दृष्टि को ध्यान में रखकर निर्धारितनहीं किया जाता हैं, जिसके चलते समाज के कुछ हिस्से का भला तो होता है, किंतु दूसरी तरफ कुछ लोगों को घर, जमीन, जीवन-शैली की अपूर्तनीय क्षति भी उठानी पड़ती है।

दुनिया के अनेक देशों में विकास के संदर्भ में यह सवाल उठाया जा रहा है कि विकास की प्रक्रिया में क्या लोगों के अधिकारों का सम्मान प्राप्त है? क्या विकास के लाभ और दायित्व का वितरण हुआ? और विकास की प्राथमिकताओं के बारे में फ़सले लोकतांत्रिक तरीके से लिए गए? इन सवालों के चलते विकास आज काफी विवादस्पद मुद्दा बन चुका है। दुनिया के कई देशों में विकास के जो मॉडल अपनाएं जा रहे हैं वे तीखी बहस और आलोचनाओं के केंद्र में है और उनकी जगह वैकल्पिक मॉडल पर विचार किए जा रहे हैं तीखी बहस और आलोचनाओं के परिस्थितियों में यह आवश्यक हो गया है कि विकास की एक व्यापक समझ विकसित हो जो विकास के प्रतिमान के रूप में अपनाया जा सके।

3.1.3. विकास के प्रतिमान

एडम स्मिथ की कृति 'वेल्थ ऑफ नेशन्स को विकास के अर्थशास्त्र को पहला ग्रंथ माना जाता है, लेकिन विकास के अर्थशास्त्र का व्यवस्थित अध्ययन की शुरूआत 20 वीं सदी के मध्य में प्रारंभ हुआ।'

विकास की अवधारणा के क्रम में शुरूआती दौर में अर्थशास्त्रियों की नज़र में विकास की अवधारणा उस रूप में नहीं थी, जिस रूप में आज की तिथि में हम विकास की अवधारणा को लेते हैं। उस दौर में सिर्फ तार्किक अवधारणा की जाती थी। विकास की सीमा आर्थिक संवृद्धि तक ही सीमित होती थी। प्रगति की माप प्रति व्यक्ति आय, सकल राष्ट्रीय उत्पाद तथा सक्रिय औद्योगिक इकाईयों की संख्या को आधार बनाकर किया जाता था। विकास के आर्थिक संवृद्धि के इस परिप्रेक्ष्य में विकास को इसी नज़रिये से देखा गया और खास तौर से उत्पादन की भौतिक एवं मानवीय जैसे भूमि, श्रम, पूँजी एवं तकनीक मे सतत वृद्धि ही उल्लेख माने गए। इस तरह से शुरू-शुरू में विकास को आर्थिक संवृद्धि के आधार पर अर्थशास्त्र के अंतर्गत परिभाषित करने की कोशिश हुई।

एडम स्मिथ ने 18 वीं सदी की औद्योगिकी क्रांति की शुरूआती दौर में अधिक संवृद्धि की प्रस्थापना दी। वृद्धि के लिए तकनीकी विकास की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शास्त्रीय अर्थशास्त्र ने आर्थिक संवृद्धि आधारित विकास पर बल दिया। इसके अंतर्गत कहा गया कि यदि वार्षिक वृद्धि दर 5 से 6 प्रतिशत हो तो उस अर्थशास्त्र को विकासशील माना जा सकता है। शास्त्रीय युगीन प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डब्ल्यू. ए. लेविस ने वितरण की जगह प्रति व्यक्ति आय को आधार बनाया।

कार्ल मार्क्स ने ऐतिहासिक क्रम विकास में प्रौद्योगिकी को एक निर्णायक कारण माना है। उनकी मान्यता है कि प्रौद्योगिक वर्ग ध्रुवीकरण को बढ़ा देती है, जिसके चलते वर्ग-संघर्ष की तीव्रता बढ़ती है और संगठित श्रमिक अपनी ताकत से पूँजीपतियों को अधिकार विहीन करके उत्पादन के साधन पर स्वामित्व प्राप्त कर लेते हैं।

एडम स्मिथ तथा डेविल रिकोर्डो ने कहा कि जनसंख्या वृद्धि का आर्थिक संवृद्धि की दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हैं जॉन मेनार्ड केन्स ने स्मिथ और रिकार्डो की इस मान्यता की आलोचना करते हुए कहा कि जनसंख्या वृद्धिवस्तुओं की माँग को बढ़ा देती है, जो निवेश और आर्थिक संवृद्धि को प्रोत्साहित करती हैं।

एडम स्मिथ डेविड , राबर्ट माल्थस, जॉन स्टुअर्ट मिल आदि अर्थशास्त्रियों के यहाँ विकास का मानवीय दृष्टिकोण पाया जाता है, किंतु कालांतर में आर्थिक संवृद्धि की महत्व मिलने के कारण यह गौण हो गया। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम UNDP ने सन 1990 की मानव विकास रिपोर्ट ने 'विकास की अवधारणा को परिभाषित करते हुए कहा कि विकास इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही किया जाना चाहिए

कि यह ज़रूरी नहीं कि आर्थिक संवृद्धि यथार्थ परक और जमीन से जुड़ा विकास हो। विकास का अंतिम लक्ष्म मानव कल्याण है और विकास की अवधारणा का मानव विकास परिप्रेक्ष्य विकास के मानवीय पक्ष पर केंद्रित हैं यह अवधारणा इस मान्यता पर आधारित है कि सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि तथा जीवन की गणवत्ता में सुधार के बीच कोई स्वत: स्फूर्ति और सीधा संबंध नहीं है। माइकेल पी. टोडारो ने कहा कि विकास आय और उत्पादन में वृद्धि के साथ ही साथ संस्थात्मक, सामाजिक और प्रशासनिक संरचनाओं में आमूलचूल परिवर्तन पर निर्भर करता है। किसी समाज में लोगों के जीवन स्तर और भौतिक दिशाओं में सुधार तक ही विकास सीमित नहीं है, बल्कि मानव विकास सूचकांक जैसे जीवन प्रत्याशा, शिशु मृत्यु, दर व्यस्क साक्षरता तथा लोगों की सामाजिक दशाओं में सुधार को भी शामिल करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 60 और 70 के दशक को विकास दशक मानते हुए 6 प्रतिशत या अधिक का सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि का लक्ष्य प्राप्त करने वाले देश को विकासशील अर्थव्यवस्था मानने का प्रस्ताव किया तथा 6 प्रति वृद्धि दर को और जी. एन. पी. की 6 प्रतिशत वृद्धि दर को आधार बनाकर उसने विकास को परिभाषित किया।

किंतु 50 और 60 के दशक में ही विकासशील देश के अनेक देशों ने संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्धारित वृद्धिदर हासिल कर ली थी तब 70 के दशक में डडले सिअर्स से प्रभावित होकर बेरोज़गारी, असमानता और गरीबी उन्मुलन को आधार बनाकर विकास को परिभाषित किया जाने लगा। इसके बावजूद भी गरीबों का उन्मूलन नहीं किया जा सकता और बेरोज़गारी असमानता बनी हुई है।

जिन दिनों तीसरी दुनिया के देश आर्थिक विकास के लिए प्रयासरत थे, उन्हीं दिनों सामाजिक विकास की अवधारणा अस्तित्व में आई। अनेक अर्थशास्त्रियों एवं संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थाओं ने इस बात को स्वीकार किया कि आर्थिक विकास के लिए आर्थिक के अलावा सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पक्ष भी महत्वपूर्ण होते हैं, इसलिए इनका विकास भी आवश्यक है। विकासशील देशों का आधुनिकीकरण ठीक से न होने की वजह से उनके विकास में कई समस्याएँ हैं।

सामाजिक विकास की अवधारणा में 'आर्थिक विकास शामिल है, किंतु यह अवधारणा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों को भी विकास के लिए महत्वपूर्ण मानती है। इस अर्थ में सामाजिक विकास नियोजन अब सिर्फ सामाजिक सेवाओं हेतु नियोजन से ही नहीं जुड़ा है, बल्कि यह आर्थिक संवृद्धि हेतु नियेाजन से अधिक संबंद्ध है। सामाजिक और कल्याणकारी सेवाओं के अतिरिक्त भी बहुत सारे ऐसे क्षेत्र है, जिनमें सामाजिक विकास परिप्रेक्ष्य की प्रासंगिकता है। इनमें से प्रमुख क्षेत्र है – जनसंख्या, नगरीकरण, औद्योगिक अवस्थिति तथा पर्यावरण प्रदूषण से संबंधित नीतियाँ, क्षेत्रीय विकास, आय वृद्धि आय-वितरण तथा भूमि सुधार से संबंधित नीतियाँ, प्रशासन को चलाने वाली नीतियाँ तथा योजनाओं के कार्यान्वययन तथा नियोजन में जनता की सहभागिता।

3.1.4. विकास के विभिन्न रास्ते

3.1.4.1. पूँजीवादी मार्ग

3.1.4.2. समाजवादी अर्थव्यवस्था

3.1.4.3. मिश्रित अर्थव्यवस्था

3.1.4.4. पूँजीवादी विश्वव्यवस्था

3.1.5 आर्थिक विकास और स्त्रियाँ

3.1.6 सारांश

3.1.7 बोध प्रश्न

3.1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

इकाई-2 स्त्री सशक्तिकरण के सरकारी और गैर-सरकारी प्रयास

इकाई की रूपरेखा

3.2.0. उद्देश्य

3.2.1. प्रस्तावना

3.2.2. भारत में स्त्री सशक्तिकरण के लिए सरकारी प्रयास

- **3.2.2.1. किशोरियों की अधिकारिता हेतु राजीव गांधी योजना**
- **3.2.2.2. स्त्रियों के लिए प्रशिक्षण तथा रोजगार कार्यक्रम (स्टेप)**
- **3.2.2.3. राष्ट्रीय महिला कोष (आर एम के)**
- **3.2.2.4. स्वयंसिद्धा**
- **3.2.2.5. स्वशक्ति परियोजना**
- **3.2.2.6. स्त्रियों के विकास और सशक्तिकरण हेतु दूरस्थ शिक्षा**
- **3.2.2.7. स्वाधार**
- **3.2.2.8. बालिका समृद्धि योजना**
- **3.2.2.9. कामकाजी स्त्रियों के लिए होस्टल**
- **3.2.2.10. सामुदायिक परिसंपत्ति सृजन हेतु अधिक लाभ कमाने संबंधी विधियों के लिए सहायता**
- **3.2.2.11. स्त्रियों के संबंध में कानून**
- **3.2.2.12. स्त्रियों के लिए राष्ट्रीय संसाधन केंद्र (एन. आर. सी. डब्ल्यू)**
- **3.2.2.13. स्त्री शक्ति पुरस्कार**
- **3.2.2.14. स्त्री सशक्तिकरण में राष्ट्रीय महिला आयोग का योगदान**
- **3.2.2.15. स्त्री सशक्तिकरण एवं पंचवर्षीय योजनाएँ**
- **3.2.2.16. ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्रियों व बच्चों के विकास कार्यक्रम**
- **3.2.2.17. ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्रियों व बच्चों के विकास कार्यक्रम**
- **3.2.2.18. इंदिरा महिला योजना (आई. एम. वाई)**
- **3.2.2.19. राष्ट्रीय महिला सशक्तिकरण नीति -2001**
- **3.2.2.20. आदिवासी महिला सशक्तिकरण योजना**

3.2.3. स्त्री सशक्तिकरण के लिए किए गए गैर-सरकारी प्रयास

- **3.2.3.1. आखिल भारतीय महिला सम्मेलन**
- **3.2.3.2. भारतीय महिला संगठन**

3.2.3.3. भारतीय महिला परिषद

3.2.3.4. राज्य स्तर गैर सरकारी संगठन

3.2.4. सारांश

3.2.5. बोध प्रश्न

3.2.6. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.2.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- स्त्री सशक्तिकरण के लिए सरकारी और गैर-सरकारी प्रयासों के संबंध में जान सकेंगे।

3.2.1. प्रस्तावना

स्त्री सशक्तिकरण एक ऐसा महत्वपूर्ण सामाजिक घटक है, जिसके द्वारा किसी भी देश का विकास संभव है। लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत हमारे कानून, विकास संबंधी नीतियों, योजनाओं तथा कार्यक्रमों में स्त्रियों की उन्नति होना आवश्यक है। सरकारी एवं गैर-सरकारी ऐसे अनेक कार्यक्रम हैं, जिनमें महिला-संवेदी कार्यक्रम, सहायक सेवाएँ और जागरूकता फैलाने पर जोर दिया गया है। ये कार्यक्रम स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि और ग्रामीण विकास क्षेत्रों के कार्यक्रमों के पूरक के तौर पर काम करते हैं। इन सभी कार्यक्रमों का उद्देश्य स्त्रियों को आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से सशक्त बनाना है, ताकि वे राष्ट्रीय विकास के प्रयासों में पुरुषों के समान और सक्रिय भूमिका अदा कर सकें।

3.2.2. भारत में स्त्री सशक्तिकरण के लिए सरकारी प्रयास

महिला विकास पर भारत सरकार की नीति में स्वतंत्रता के बाद के परिवर्तन हुए हैं। सबसे उल्लेखनीय परिवर्तन पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान आया जब स्त्रियों के कल्याण से हटकर स्त्रियों के विकास पर जोर देने की नीति अपनाई गई। महिला तथा बच्चों के विकास एवं कल्याण के लिए केंद्र सरकार ने कई योजनाएँ शुरू की हैं तथा कई नीतिगत पहले की हैं जिनमें स्त्रियों के आर्थिक तथा सामाजिक सशक्तिकरण तथा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन के उनके पहलुओं में बराबरी हासिल करने के लिए कदम भी सामिल हैं। इन कार्यक्रमों, योजनाओं और कार्यकलापों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है – 1) स्त्रियों का सशक्तिकरण 2) स्त्रियों का प्रशिक्षण तथा रोजगार, 3) बालिका मे प्रति व्यवहारात्मक बदलाव, 4) स्त्रियां के लिए समर्थन सेवाएँ 5) स्त्रियों के अधिकार और कानून।

केंद्र सरकार का महिला तथा बाल विकास एवं कल्याण विभाग संसाधन जुटाकर, संगठित करके तथा जागरूकता फैलाकर स्त्रियों के लिए कई योजनाएँ कार्यन्वित कर रहा है। मुख्य योजनाएँ इस प्रकार हैं-

3.2.2.1. किशोरियों की अधिकारिता हेतु राजीव गांधी योजना (आर.जी.एस.ई.ए.जी)

यह योजना 19 नवंबर, 2010 को प्रारंभ की गई थी, जिसका उद्देश्य 11-18 वर्ष की आयु वर्ग की किशोरियों को उनकी पोषाहार तथा स्वास्थ्य स्थिति में सुधार लाकर और विभिन्न कौशलों, जैसे- गृह कौशल, जीवन कौशल तथा व्यावसायिक कौशल उन्नत करके उन्हें अधिकारिता दिलाना है। प्रारंभ में इसे प्रायोगिक तौर पर देशभर के चुनिंदा 200 जिलों में कार्यान्वित किया गया है।

3.2.2.2. स्त्रियों के लिए प्रशिक्षण तथा रोजगार कार्यक्रम (एस टी ई पी) योजना

यह योजना गरीब स्त्रियों को कृषि, पशुपालन, डेयरी, मत्स्यपालन, हथ्करधा, दस्तकारी, खादी तथा ग्रामीण उद्योगों, रेशम उत्पादन, सामाजिक वानिकी तथा बंजर भूमि विकास, जैसे- 10 पारंपारिक क्षेत्रों और खाद्य प्रसंस्करण और सेवाओं के दो नये क्षेत्रों का अद्यतन हुनर उपलब्ध कराती है, ताकि उनकी उत्पादकता तथ आय सृजन में बढ़ोत्तरी हो सके। इस कार्यक्रम की पहुँच को और व्यापक बनाने और मजबूत करने के लिए योजना के कार्यान्वयन को नवंबर, 2009 में संशोधित किया गया था। योजना का उद्देश्य स्थानीय रूप से उपयुक्त क्षेत्रों को प्रवेश कराना है।

3.2.2.3. राष्ट्रीय महिला कोष (आर एम के)

आर एम के (स्त्रियों हेतु राष्ट्रीय ऋण निधि) 31 करोड़ रुपये की आधारभूत निधि से 1993 में सृजित किया गया था। आरंभिक आधारभूत निधि 180 करोड़ रुपये से अधिक बढ़ गई है, जिसमें ऋण के कारण आरक्षित और निवेश तथा वसूली प्रबंधन तथा 69 करोड़ रुपये का अतिरिक्त व जातीय आवंटन शामिल है। आय सृजन से ही आर एम के गरीब स्त्रियों के लिए असंगठित क्षेत्र में प्रवाह की बढ़ोत्तरी हुई है। आजीविका संबंधी गतिविधियों हेतु ऋण उपलब्ध कराकर यह गरीब स्त्रियों और उनकी अधिकारिता पर ध्यान केंद्रित करता है। आर एम के ने सूक्ष्म –वित्तपोषण, बचत तथा ऋण, एस एच जी के स्थिरीकरण तथा गरीब स्त्रियों के लिए उपक्रम विकास करते हुए कई उन्नतिकरण उपाय किए हैं।

3.2.2.4. स्वयंसिद्धा

स्वयंसिद्धा स्त्रियों के सशक्तिकरणकी एकीकृत योजना है। यह योजना स्त्रियों के स्वसहायता समूहों (एस.एच.जी) के गठन पर आधारित है और इसका उद्देश्य संसाधन जुटाकर, जागरूकता फैलाकर तथा विभिन्न योजनाओं के अभिसरण के माध्यम से स्त्रियों को संपूर्ण अधिकार देना है। स्त्रियों का सर्वांगीणसशक्तिकरण की इस कार्यक्रम का दीर्घकालीन उद्देश्य है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य इस प्रकार है-

1. आत्मनिर्भर स्त्रियों के स्वसहायता समूहों (एस.एच.जी) की स्थापना।
2. स्त्रियों की स्थिति, स्वास्थ्य, पोषण, शिक्षा, स्वच्छता और सफाई, कानूनी अधिकार आर्थिक उत्थान तथा अन्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों के संबंध में स्वसहायता समूहों के सदस्यों में विश्वास तथा जागरूकता पैदा करना।

3. ग्रामीण स्त्रियों में बचत की आदत तथा आर्थिक संसाधनों पर उनके नियंत्रण को सुदृढ़ तथा संस्थागत बनाना।
4. स्त्रियों को लघु ऋण उपलब्ध कराने की सुविधा में सुधार लाना।
5. स्थानीय स्तर की आयोजना में स्त्रियों को शामिल किया जाना।

3.2.2.5. स्वशक्ति परियोजना

स्व शक्ति परियोजना, जिसे ग्रामीण महिला विकास और सशक्तिकरण परियोजना के रूप में भी जाना जाता है। यह परियोजना महिला विकास निगम (डब्ल्यू. डी.सी.) के माध्यम से अन्य राज्य सरकारों के उपक्रमों और राज्यों के गैर-सरकारी संगठनों के जरिये बिहार, हरियाणा, गुजरात, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, झारखंड, छत्तीसगढ़ और उत्तरखंड राज्यों में कार्यन्वित की गई है, जिसमें 57 जिले, 323 खंड और 7288 गाँव शामिल है। केंद्र स्तर पर एक परियोजना समर्थन इकाई (सी.पी.एस.डब्ल्यू.) परियोजना कार्यान्वयन के लिए तकनीकी तथा प्रबंधन सहायता प्रदान करती है।

स्वशक्ति ग्रामीण स्त्रियों के विकास तथा सशक्तिकरण की परियोजना है, जिसमें विश्व बैंक तथा अंतरराष्ट्रीय कृषि विकास कोष (आई.एफ.ए.डी.) दोनों द्वारा सहायता प्रदान की जा रही है। इस परियोजना का उद्देश्य स्त्रियों को कठिन परिश्रम तथा समय की कटौती संबंधी तरीकों का इस्तेमाल, स्वास्थ्य, साक्षरता और विश्वास वृद्धि तथा दक्षता विकास एवं आय-सृजन संबंधी कार्यकलापों में उनकी भागीदारी द्वारा आय पर नियंत्रण को बढ़ाकर उनके जीवन-स्तर को बेहतर बनाने हेतु संसाधनों तक उनकी पहुँच को सुलभ बनाना है।

3.2.2.6. स्त्रियों के विकास और सशक्तिकरण हेतु दूरस्थ शिक्षा

इस परियोजना का उद्देश्य स्वैच्छिक सामाजिक कार्यकर्ताओं सामुदायिक आयोजनकों, सामाजिक व्यक्तियों, सुविधा प्रदान करनेवालों, स्व-सहायता समूहों के कर्मचारियों आदि को देश भर में दूरस्थ तरीके से 'स्त्रियों को स्व-सहायता समूहों के माध्यम से अधिकार प्रदान करने पर प्रशिक्षण हेतु प्रमाण-पत्र पाठ्यक्रम उपलब्ध कराना है।

यह परियोजना महिला तथा बाल विकास विभाग और इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (इग्नू) द्वारा स्त्रियों के स्व-सहायता समूहों के जरिये सशक्तिकरण हेतु संयुक्त रूप से कार्यान्वित की जा रही है। चूँकि इस परियोजना का खर्च महिला एवं बाल विकास विभाग द्वारा वहन किया जाता है, तथापि प्रशिक्षण कार्यक्रम का विकास/कार्यान्वयन 'इग्नू' का कार्य है।

संगठन के लिए शिक्षा और प्रशिक्षण, नेतृत्व संसाधनों का प्रबंधन तथा नियंत्रण, विश्वास-निर्माण और जानकारी संबंधी तत्वों जैसे क्षेत्रों को प्रशिक्षण पैकेज और पाठ्यक्रम मॉड्यूल में शामिल किया गया है। पाठ्यक्रम डिजाइन में स्त्रियों के विश्वास, दक्षता तथा क्षमता, विशेषत: उद्यमशील दक्षता में वृद्धि करने के

उद्देश्य से दक्षता का विकास में सहायता करने पर ध्यान केंद्रित किया गया है। उत्पादन–दक्षता, सेवा सुपुर्दगी, प्रबंधन विपणन, वित्त तथा ऋण के विकास हेतु उपयुक्त कार्यनीतियों और योजनाओं की पहचान करने के लिए गैर-सरकारी संगठनों/सरकारी क्षेत्र में वास्तविक जीवन के अनुभवों को विस्तारपूर्वक बताया गया है।

3.2.2.7. स्वाधार

कठिन परिस्थितियों का सामना कर रही स्त्रियों के लिए जैसे- वृंदावन, काशी आदि धार्मिक स्थानों पर अपने परिवारों द्वारा छोड़ी गई निराश्रित विधवाओं, जेल से छूटी ऐसी स्त्रियों जिनके परिवार में कोई नहीं है, प्राकृतिक आपदा के बाद जीवित बची ऐसी स्त्रियां बेघर हो गई हो तथा जिसका कोई सामाजिक–आर्थिक अवलंब न हो, वैश्यालयों या अन्य स्थानों से छुड़ाई गई या भागी हुई स्त्रियों/बालिकाओं, यौन अपराधों की शिकार ऐसी महिलाओ/बालिकाओं, जिनका उनके परिवारों ने परित्याग कर दिया हो या जो विभिन्न कारणों से वापस अपने परिवारों में जाना चाहती हों, आतंकवादी हिंसा की शिकार ऐसी स्त्रियों, जिनका परिवार में कोई न हो और न ही जीविका का कोई आर्थिक साधन हो, मानसिक रूप से बीमार ऐसी स्त्रियों, जिन्हें अपने परिवार या रिश्तेदारों का समर्थन प्राप्त न हो, की सुविधा के लिए केंद्रीय क्षेत्र में वर्ष 2001-2002 के दौरान विभाग द्वारा यह शुरू की गई थी।

इस योजना के अंतर्गत उपलब्ध सहायता पैकेज में आश्रय, भोजन, वस्त्र, स्वास्थ्य रक्षा और ऐसी स्त्रियों के लिए परामर्श, व्यवहारगत प्रशिक्षण आदि द्वारा शिक्षा, जागरूकता दक्षता उन्नयन और व्यक्ति विकास के माध्यम से उनके सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्वास हेतु उपाय, ऐसी स्त्रियों के लिए हेल्पलाईन या अन्य ऐसी कोई सुविधा तथा विषादग्रस्त ऐसी स्त्रियों की सहायता और पुनर्वास के लिए आवश्यक अन्य किसी भी सेवा को शांति किया जाएगा।

3.2.2.8. बालिका समृद्धि योजना

बालिका समृद्धि योजना 2 अक्टूबर, 1887 को इस उद्देश्य के साथ शुरू की गई थी कि बालिका की समग्र स्थिति को ऊपर उठाना है और उसके प्रति परिवार तथा समाज के व्यवहार में परिवर्तन बना है। इस योजना में भारत सरकार द्वारा परिभाषित गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों में (ग्रामीण अथवा शहरी क्षेत्र में) अगस्त, 1947 को या इससे पूर्व पैदा हुई दो बालिकाओं को शामिल किया गया है। 1 वर्ष 1997-98 और 1990-99 के दौरान यह योजना केंद्रीय क्षेत्र की स्थान परिव्यय के रूप में कार्यान्वित की गई थी। इसके अंतर्गत नवजात कन्या शिशुओं की माताओं को 500 रुपये का अनुदान देने हेतु डी.आर.डी.ए. तथा डी.यू.डी.ए. जैसी जिला स्तरीय कार्यान्वयन एजेन्सियों को धन राशि जारी की गई थी।

वर्ष1999 में इस योजना की समीक्षा की गई थी और समेकित बाल विकास सेवा(आई. सी.डी.एस.) योजनाअवसरंचना के माध्यम से इस योजना के अंतर्गत जल प्रदान करने हेतु राज्यों तथा संघ राज्य क्षेत्रों को शत-प्रतिशत केंद्रीय सहायता देन हेतु इसका केंद्र द्वारा प्रायोजित योजना के रूप में पुननिर्माण किया गया। पुन: निर्मित योजना के अनुसार प्रस्ताव के बाद 500 रुपये की अनुदान राशि को बालिका के नाम पर बैंक या

डाकखाने के ब्याज वाले खाते में जमा किया जाएगा। इसके अतिरिक्त बालिका प्रत्येक कक्षा उत्तीर्ण होन पर कक्षा एक के लिए 300 रुपये से लेकर दसवीं कक्षा के लिए 1000 रुपये तक की छात्रवृत्ति पाने की हकदार होगी। छात्रवृत्ति राशि को भी उपर्युक्त खाते में जमा किया जाएगा। खाते में जमा संचित राशि बालिका को 18 वर्ष की आयु पूरा करने तथा अब तक अविवाहित रहने पर दी जाएगी।

3.2.2.9. कामकाजी स्त्रियों के लिए होस्टल

कामकाजी स्त्रियों के लिए दिन में बच्चों की देखरेख के केंद्रों सहित, होस्टल भवनों के निर्माण/विस्तार की योजना के अंतर्गत कामकाजी स्त्रियों के लिए होस्टलों के निर्माण हेतु स्त्रियों/सामाजिक कल्याण/महिला शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत स्वैच्छिक संगठनों, स्थानीय निकायों तथा सहकारी संस्थाओं, सार्वजनिक क्षेत्रों के उपक्रमों, महिला विकास निगमों शैक्षणिक संस्थाओं तथा राज्य सरकारों को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है, ताकि महिलाएँ रोजगार खोज सकें तथा तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें। इस योजना का उद्देश्य घर से दूर रहने वाली कामकाजी स्त्रियों को सस्ता तथा सुरक्षित होस्टल आवास उपलब्ध करना है। इसमें एकल कामकाजी महिलाऐं, अलग तलाकशुदा महिलाएँ तथा ऐसी महिलाऐं जिनके पति शहर से बाहर हों, लक्षित लाभार्थी हैं। रोजगार के लिए प्रशिक्षण ले रही महिलाऐं तथा विद्यालय के लिए व्यावसायिक पाठ्यक्रम में पढ़ने वाली छात्राएँ भी होस्टल में रह सकती हैं।

3.2.2.10. सामुदायिक परिसंपत्ति सृजन हेतु अधिक लाभ कमाने संबंधी विधियों के लिए सहायता

कुएँ से जल निकालने चारा तथा इंधन लकड़ी को एकत्र करने तथा काटने आदि जैसे कार्यों में स्त्रियों के कठिन परिश्रम ने स्त्रियों की आर्थिक कार्य तथा सामुदायिक कार्यकलापों से उन्हें प्राप्त होने वाले फायदों के स्तर को प्रभावित किया है। यह परियोजना कुछ ऐसी राशियों प्रदान करती है, जिनसे स्व-सहायता समूह परिसंपत्तियों को सृजित करने के लिए समुदायों की प्रति गाँव 2,00,000 रुपये की अधिकतम सहायता की जा सकती है। स्व सहायता समूह अन्य विकासात्मक योजनाओं स्थानीय निकायों से अनुदान, समुदाय से दान-राशि और अन्य योजनाओं के साथ अभिसरण के माध्यम से और अधिक धनराशि प्राप्त करने हेतु इस धनराशि का इस्तेमाल कर सकते हैं।

यह परियोजना सरकारी या गैर-सरकारी सेवाओं को दोहराने के बजाय अंतर को पूरा करती है। परिसंपत्ति के सृजन के संबंध में निर्णय लेने की शक्ति समुदाय को प्राप्त होगी। सृजित परिसंपत्ति का इस्तेमाल और रख रखाव भी वृहत समुदा द्वारा किया जाएगा। परियोजना स्व-सहायता समूहों द्वारा 40 प्रतिशत परिसंपत्ति लागत राशि की व्यवस्था करने के बाद अपने हिस्से के 60 प्रतिशत का अंशदान करेगी। इसके अतिरिक्त अन्य स्रोतों से श्री धनराशि जुटाई जाएगी, तथार्थ कम से कम 10 प्रतिशत राशि गाँव वासियों द्वारा वहन की जाएगी, जो श्रम सामग्री के दान के रूप में भी हो सकती है।

3.2.2.11. स्त्रियों के संबंध में कानून

घरेलू हिंसा के सरंक्षण विधेयक, 2002 ; स्त्रियों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत करने के उद्देश्य में 1 मई, 2002 को यह विधेयक मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने संबंधित विभाग की स्थायी समिति को भेजा था। स्थायी समिति ने 12/12/2002 को संसद में घरेलू हिंसा से संरक्षण विधेयक, 2002 पर अपनी सिफारिशों सहित 124 वीं प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था।

स्त्रियों संबंधी – कार्य बल का प्रतिवेदन: योजना आयोग के उपाध्यक्ष श्री के.सी.पंत की अध्यक्षता में महिला संबंधी कानूनों और कार्यक्रमों की समीक्षा करने हेतु अगस्त, 2002 को गठित कार्य दल ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था। इस कार्यदल ने स्त्रियों संबंधी निम्नलिखित 22 कानूनों में संशोधन की सिफारिश की थी-

1. कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948
2. फॅक्टरी अधिनियम, 1948
3. न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948
4. बंधुआ मजदूरी प्रणाली (उन्मूलन) अधिनियम, 1976
5. विधि व्यवसायी (महिला) अधिनियम, 1923
6. प्रसूति प्रसुविधा अधिनियम, 1961
7. बाल श्रम (निषेध और विनियमन) अधिनियम, 1986
8. चलाचित्र अधिनियम, 1952
9. ठेका श्रम (विनियमन और उत्पादन) अधिनियमन और सेवा शर्तें) अधिनियम, 1979
10. मजदूरी संदाय अधिनियम,1936
11. बागात श्रमअधिनियम, 1951
12. कर्मकार प्रतिकार अधिनियम, 1923
13. सती (निवारण) अधिनियम, 1987
14. महिलाओं का अशिष्ट निरूपण (निषेध) अधिनियम, 1948
15. परिवार न्यायालय अधिनियम, 1948
16. दंड प्रक्रिया संहिता, 1973
17. भारतीय दंड संहिता, 1960
18. अनैतिक पणन (निवारण) अधिनियम, 1956
19. दहेज निषेध अधिनियम, 1961

3.2.2.12. महिलाओं के लिए राष्ट्रीय संसाधन केंद्र (एन. आर. सी. डब्ल्यू)

विभाग में महिलाओं के लिए राष्ट्रीय संसाधन केंद्र स्थापित करने का प्रस्ताव किया था, जिसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं-

1. चयनित प्रतिनिधियों, नीति योजनाकारों, प्रशासनकों, न्यायपालिका, पुलिस बैंकों, आदि के सदस्यों को महिला संबंधी मुद्दों पर जानकारी देना।
2. निम्नलस स्तर पर श्रमिकों, नव-निर्वाचित पंचायत प्रमुखों, गैर-सरकारी संगठनों के सदस्यों इत्यादि के लिए नेतृत्व संबंधी प्रशिक्षण की सुविधा देना।
3. महिला विकास के क्षेत्र में सूचना आधार स्थापित करना तथा जानकारी का प्रचार-प्रसार करना और विकास में स्त्रियों के समकालीन मुद्दों पर आँकड़ों तैयार करने की भी सुविधा देना तथा सांमजस्य स्थापित करना।
4. महिला विकास से संबंधित मौजूदा कार्यक्रमों की निगरानी तथा मूल्यांकन की सुविधा देना तथा सामंजस्य स्थापित करना।
5. महिला विकास पर अनुसंधान से संबंधित नीति और कार्यक्रमों को शुरू और समन्वित करना।
6. महिला विकास के क्षेत्र में सक्रिय रूप से संस्थाओं तथा व्यक्ति विशेष को नेटवर्क की सुविधाएँ प्रदान करना।
7. जेंडर-संवेदी तथा सहभागिता संबंधी आयोजना और कार्यान्वयन प्रक्रियाओं के बारे में महिला और बाल विकास विभाग की संस्थानिक क्षमता को सुदृढ़ करना।
8. चयनित क्षेत्रों में नीति आयोजना कार्यान्वयन तथा निगरानी में जेंडर संबंधी परिदृश्य को शामिल करना।
9. महिलाओं के मुद्दों की वकालत करना तथा नीतिगत समर्थन प्रदान करना।
10. महिलाओं के संपूर्ण विकास के लिए सभी या किसी एक कार्यकलाप को करना।

3.2.2.13. स्त्री शक्ति पुरस्कार

भारतीय इतिहास में पाँच प्रमुख महिला हस्तियों, यानि कन्नगी, माता जीजाबाई, देवी अहिल्याबाई होलकर, रानी लक्ष्मीबाई तथा रानी गैडिन्ल्यू के नाम पर वर्ष 1999 में विभाग द्वारा स्त्री शक्ति पुरस्कार के रूप में पाँच राष्ट्रीय पुरस्कार शुरू किए गए। ये पुरस्कार प्रति वर्ष ऐसी स्त्रियों विशेष को सम्मान देने तथा उनकी उपलब्धियों को मान्यता देने के लिए दिए जाएँगे, जिन्होंने कठिन परिस्थितियों पर विजय पाई हो और शिक्षा, स्वास्थ्य, खेती, ग्रामीण उद्योग, बन और पर्यावरण सरंक्षण तथा कला और मीडिया के जरिए स्त्रियों के मुद्दों पर जागरूकता पैदा करने तथा स्वचेतना जगाने जैसे विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियों के अधिकारों के लिए संघर्ष किया हो।

प्रत्येक पुरस्कार में एक लाख रुपये का नकद इनाम तथा प्रशस्ति-पत्र होता है। मानव संसाधन विकास मंत्री की अध्यक्षता में राष्ट्रीय चयन समिति द्वारा पुरस्कारों के लिए चयन किया जाता है।

3.2.2.14. स्त्री सशक्तिकरण में राष्ट्रीय महिला आयोग का योगदान

स्त्रियों के हितों एवं अधिकारों की रक्षा और उन्हें बढ़ावा देने के लिए राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम, 1990 के अंतर्गत 31 जनवरी, 1992 को एक वैधानिक संस्था के रूप में राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किया गया। आयोग समाज में स्त्रियों की दशा में सुधार और उनके चहुँमुखी सशक्तिकरण की दशा में होने वाले प्रयासों में अग्रणी रहा है।

महिला एवं बाल विकास विभाग भारत सरकार के अधीन वर्तमान में चार स्वायत्तशासी संगठन कार्य कर रहे हैं-

1. राष्ट्रीय महिला आयोग (राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम, 1990)
2. राष्ट्रीय जन सहयोग एवं बाल विकास संस्थान (निपसिड) सोसायटी पंजीयन अधिनियम, 1860
3. राष्ट्रीय महिला कोष (पंजीकृत सोसायटी)
4. केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड (भारतीय कंपनी अधिनियम, 1956 की धारा 25 के अनुसार। ये संगठन पूर्ण रूप से भारत सरकार द्वारा वित्त पोषित है।

3.2.2.15. स्त्री सशक्तिकरण एवं पंचवर्षीय योजनाएं

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात से ही विभिन्न वर्गों व क्षेत्रों को अधिक उत्पादक बनाने, उनके संतुलित व तीव्र विकास हेतु पंचवर्षीय योजनाओं का प्रावधान रखा गया है। इन योजनाओं में विकास से संबंधित अन्य महत्वपूर्ण मुद्दों के साथ-साथ सर्वाधिक महत्वपूर्ण व आवश्यक विषय के रूप में महिला विकास के संबंध में भी प्रत्यक्ष रूप से अनेक कार्यक्रम बनाए गए हैं।

1. प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) प्रथम पंचवर्षीय योजना में केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना द्वारा स्त्रियों की समस्याओं के निदान हेतु कल्याण मूलक विचारधारा पर ध्यान केंद्रित किया गया। इस बोर्ड ने सामुदायिक विकास के विभिन्न संचालित कार्यक्रमों में स्त्रियों के संगठन पर विशेष बल दिया। केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड ने ग्रामीण स्वैच्छिक संगठनों में अनेक परिवार व बाल विकास योजनाएँ प्रारंभ की तथा स्टेट सोशल वैलफेयर एडवाइजरी बोर्ड की स्थापना की।
2. द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61) द्वितीय पंचवर्षीय योजना में अधिक दबाव कृषि पर था। इसी समय यह अवधारणा सामने आयी कि स्त्रियों को श्रम की दृष्टि से अत्यंत कठोर कार्यों के विरूद्ध संरक्षण देना चाहिए और उन्हें कठिनाइयों का सामना करने हेतु मातृत्व लाभ तथा शिशु पालन केंद्र आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए।

3. तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66)- इससे एक प्रमुख कल्याण मापक के रूप में स्त्रियों की शिक्षा को अति आवश्यक माना गया तथा उनके स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रमों, मातृ एवं शिशु कल्याण से संबंधित सेवाओं, स्वास्थ्य, शिक्षा, पोषण तथा परिवार नियोजन पर अत्यधिक ध्यान केंद्रित किया गया।
4. चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1967-74) इसमें स्त्रियों की शिक्षा पर बल दिया गया और पारिवारिक कल्याण पर ध्यान केंद्रित किया गया।
5. पंचम पंचवर्षीय योजना (1974-79)- पंचम पंचवर्षीय योजना में स्त्रियों की आय व उनके सरंक्षण को त्वरित गति से बढ़ाने हेतु स्त्रियों के प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया गया। स्त्रियों के लिए कार्यात्मक साक्षरता के कार्यक्रम की सिफारिश की गई जिसमें बाल सुरक्षा, पोषण, स्वास्थ्य तथा गृह अर्थव्यवस्था आदि कौशल व ज्ञान से स्त्रियों को परिपूर्ण किया जाए।
6. छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85)- इस योजना में पहली बार स्त्रियों के लिए कल्याण के स्थान पर विकास पर बल दिया गया। साथ ही स्त्रियों के विकास को अवरूद्ध करनेवाले निर्णायक तत्व के रूप में स्त्रियों तक साधनों की अपर्याप्त पहुँच की समस्या का अनुभव किया गया तथा पुरुष व स्त्रियों को सम्मिलित रूप से पट्टा आदि दिलाने का कार्यक्रम प्रारंभ किया गया।
7. सातवीं पंचवर्षीय योजना (1985-90)- इस योजना में स्त्रियों से संबंधित अनेक कार्य करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। उन्हें देश के विकास के लिए एक निर्णायक स्रोत के रूप में चिह्नित कर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की मुख्य धारा में उनके संगठन व एकता को लक्ष्य बनाया गया। इस योजना की दूसरी मुख्य विशेषता स्त्रियों को निर्णायक साधनों तथा उत्पादक स्रोतों के रूप में मान्यता देना था।
8. आठवीं पंचवर्षीय योजना(1992-97)- इस योजना के अंतर्गत 1993-94 में सेंट्रल सेक्टर स्कीम के अंतर्गत कृषि में स्त्रियों की दक्षता को बढ़ाने के लिए उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान तथा केरल में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का अनुप्रयोग की योजना लागू की गई। इस योजना के अंतर्गत ग्रामीण स्त्रियों को प्रसार तकनीकों तथा उन्नतशील कृषि में विभिन्न पहलुओं के विषय में जानकारी प्रदान की जाती है तथा महिला किसानों के लिए शैक्षिक भ्रमण तथा कृषि गोष्ठियों का आयोजन भी किया जाता है।
9. नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002)- नौवीं योजना में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का अनुप्रयोग 'योग्य' का विस्तार 28 राज्यों तथा केंद्र शासित प्रदेशों में किया गया। महिला सशक्तिकरण इस योजना का प्रमुख लक्ष्य रखा गया। स्त्रियों में आर्थिक, सामाजिक एवं शैक्षिक विकास के लिए केंद्र सरकार ने अनेक सकारात्मक कदम उठाए। इसमें स्त्रियों के विकास के लिए 30 प्रतिशत धन महिला स्वयं सहायता संस्थानों के लिए आरक्षित किया गया। महिला स्वास्थ्य की तरफ समुचित ध्यान दिया गया, स्त्रियों के पोषण स्तर को सुधारने के लिए अनेक कार्यक्रम चलाए गए हैं, जैसे- दोपहर का भोजन, विशेष पोषण कार्यक्रम इत्यादि। सुरक्षा के क्षेत्र में भी स्त्रियों को अनेक सुविधाएँ उपलब्ध करवाई गई। बारहवीं तक की

शिक्षा की नि:शुल्क व्यवस्था की गई तथा स्त्रियों पर होने वाले अपराधों के लिए अनेक कानून बनाए गए।

10. दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007)- 29 जून 2001 को प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में योजना आयोग की पूर्ण बैठक में दसवीं पंचवर्षीय योजना के दृष्टिकोण पत्र के प्रारूप को स्वीकार किया गया, जिसमें महिला विकास से संबंधित विभिन्न लक्ष्य निर्धारित किए गए।

11. ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012) इस योजना में विकास के 25 प्रमुख क्षेत्रों को चिह्नित किया गया, जिसमें महिला विकास को 'सामाजिक न्याय एवं महिला सशक्तिकरण' तथा 'महिला एवं बाल विकास' के रूप में दो क्षेत्रों में स्थान दिया गया। योजनानुसार महिला सशक्तिकरण के लिए 41 सदस्यीय वर्किंग कमेटी का गठन किया गया।

3.2.2.16. ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्रियों व बच्चों के विकास कार्यक्रम

द्वारका (DWCRA) – यह कार्यक्रम सन 1983 में प्रारंभ किया गया। ग्रामीण स्त्रियों को सशक्त करना इसका उद्देश्य है। इस कार्यक्रम का लक्ष्य ग्रामीण विकास हेतु कार्यक्रम में उनकी भागीदारी में सुधार करना, उनकी आमदनी में सुधार, व्यावसायिक कौशल की प्राप्ति, उनके दैनिक कार्य बोझ में कमी तथा नारी प्रतिष्ठा का बेहतर अभिगम तथा कुछ सामाजिक सेवाएँ देना है।

3.2.2.17. इंदिरा महिला योजना (आई.एम.वाई.)

इंदिरा महिला योजना स्त्रियों के एकीकृत विकास की योजना है। इस योजना में प्राथमिकता स्त्रियों के क्षमता-विकास तथा उनके पक्ष में आय अर्जन एवं जागृति संबंधी–आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाता है और स्त्रियों की प्रगति के लिए चलाई गई सारी योजनाओं को समुद्धिष्ट करने का विचार किया गया है। अभी इसे देश के 200 ब्लॉकों में संचालित किया जा रहा है।

3.2.2.18. राष्ट्रीय महिला सशक्तिकरण नीति

2001- वर्ष 2000- 2001 के वार्षिक बजट में वर्ष 2001 को महिला सशक्तिकरण वर्ष घोषित किया गया था। इसी अनुक्रम में भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय के महिला एवं बाल विकास द्वारा राष्ट्रीय महिला सशक्तिकरण नीति-2001 की घोषणा की गई। इस नीति के मुख्य अंश इस प्रकार हैं –

इस नीति का लक्ष्य देश में स्त्रियों की उन्नति, विकास तथा शक्ति संपन्नता है, स्त्रियों के सामाजिक तथा आर्थिक नीतियों के माध्यम से विकासात्मक वातावरण का सृजन किया जाएगा तथा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं अन्य सभी क्षेत्रों में स्त्रियों द्वारा समस्त मौलिक अधिकारों तथा

मानवाधिकारों के वस्तुत: उपयोग हेतु वातावरण तैयार किया जाएगा। आर्थिक जीवन में सभी क्षेत्रों में स्त्रियों की भागीदारी को सुनिश्चित किया जाएगा तथा दफ्तरों, घरों तथा अन्य स्थलों पर स्त्रियों के साथ होने वाली हिंसा के सभी रूपों को समाप्त करने हेतु कानूनी प्रणालियों का सुदृढ़ीकरण किया जाएगा।

नीति निर्धारण –

1. कानूनी-न्यायिक पद्धति को स्त्रियों की आवश्यकता तथा सामाजिक सुरक्षा के प्रति अधिक संवेदनशील बनाया जाएगा तथा आवश्यक होने पर नए कानून का निर्माण किया जाएगा।
2. धार्मिक तथा सामुदायिक नेताओं की भागीदारी तथा पहल पर स्त्रियों से संबंधित वैयक्तिक कानूनों एवं सामाजिक परंपराओं को स्त्रियों के पक्ष में परिवर्तन हेतु प्रोत्साहित किया जाएगा।
3. संपत्ति में स्त्रियों के अधिकार को पुरुष के अधिकारों के समान स्तर पर लाया जाएगा तथा विरासत के स्वामित्व संबंधी-कानूनों में परिवर्तन किया जाएगा।

वर्तमान के संदर्भ में देखा जाए तो इस नीति का पूर्ण परिपालन हो रहा है।

3.2.2.19. आदिवासी महिला सशक्तिकरण योजना

10 अप्रेल 2002 को राष्ट्रीय अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगम द्वारा अनुसूचित जनजाति की स्त्रियों के विकास के लिए 'आदिवासी महिला सशक्तिकरण योजना' की गई। इस योजना में अनुसूचित जनजातियों की स्त्रियों के आर्थिक विकास हेतु रियायती दर पर वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है।

3.2.3. स्त्री सशक्तिकरण के लिए किए गए गैर-सरकारी प्रयास

महात्मा गांधी द्वारा प्रेरित होकर परतंत्र भारत में स्त्रियों ने विभिन्न संस्थाओं के द्वारा स्त्री सशक्तिकरण के लिए कार्य किया है। भारतीय स्त्रियों ने शिक्षा प्राप्त कर आत्मनिर्भर होकर कई संस्थाओं के द्वारा महिला उत्थान के लिए कार्य किया। उन्होंने स्त्रियों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टि में विकास के लिए सभी को सचेत किया। स्वतंत्रता के पश्चात कई गैर-सरकारी संगठनों के प्रयास के फलस्वरूप गरीब और अशिक्षित स्त्रियों को कानूनी अधिकारों **हतं** आत्मनिर्भरशीलता के लाभ-संबंधी जानकारी प्राप्त हुई। इन सब महिला संगठनों ने प्रौढ़ शिक्षा केंद्र, वैषयिक शिक्षा केंद्र, सिलाई केंद्र, कार्यशील महिला आवास, वृद्धाओं के लिए घर, उपेक्षितों के लिए घर आदि की व्यवस्था की 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कई राष्ट्रीय स्तर की महिला-संस्था कार्यरत थीं –

1. अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (ए.आई डब्ल्यू.सी.)
2. भारतीय महिला संगठन (डब्ल्यू.आई.ए.)
3. राष्ट्रीय महिला परिषद, भारत (एन.सी.डब्ल्यू आई)
4. राष्ट्रीय भारतीय महिला संघ (एन.एफ.आई. डब्ल्यू)

5. भारतीय महिला अध्ययन संगठन (आई.ए.डब्ल्यू.एस.)

इनके अलावा राज्य स्तर के कई महिला गैर-सरकारी संगठन स्त्री सशक्तिकरण के लिए प्रयासरत थीं। स्वतंत्रता के पश्चात इस कार्य में पर्याप्त तेजी आई।

गैर सरकारी संगठन सरकार के सहयोग के द्वारा ही कार्य करती हैं। गैर-सरकारी संगठनों को सार्वजनिक समर्थन के द्वारा नागरिक एवं सार्वजनिक समाज के बीच मजबूत हुए संबंध संयुक्त कार्यवाही के लिए नए अवसर प्रदान करते हैं। सरकारी गैर-सरकारी सहयोग में वृद्धि से जन-सामान्य को उनके अधिकारों के विषय में अधिकाधिक जागरूक बनाने तथा उन्हें अधिकारों से जोड़ने में सहायता मिलती है और आगे चल कर इसी से सार्वजनिक मामलों में पारदर्शिता एवं उत्तरदायित्व निर्धारित करके नए मार्ग खुलते हैं।

3.2.3.1. अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (ए.आई.डब्ल्यू.सी.)

सन 1927 में मार्गरिट बहिनों एवं अन्य के प्रयासों के द्वारा अखिल भारतीय महिला सम्मेलन आयोजित किया गया। यह बाद में एक संस्था के रूप में कार्य करने लगी। यह संस्था समस्त राज्यों को प्रतिनिधित्व करने वाली वृहत संस्था है। महारानी माया राज सिंधिया के अध्यक्षता में इसका पहला अधिवेशन पुने में 1927 को आयोजित हुआ था। इसके अंतर्गत राज्य स्तर पर स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं के संबंध में विचार किया जाता है एवं सरकार के समक्ष महिला सशक्तिकरण के लिए प्रयास किया जाता है। इस संस्था का कार्य भारत वर्ष में फैंले 500 शाखाओं तक है। वर्तमान मे शारीरिक रूप से अक्षम लोगों के लिए, मानसिक रूप से अक्षम लोगों के लिए विद्यालय, परिवार योजना, प्रौढ़ शिक्षा केंद्र, छापाखाना, कार्यशील महिला आवास, कामकाजी स्त्रियों को प्रशिक्षण, वृद्धाओं के लिए वृद्धाश्रम आदि कार्यों में यह संस्था संलग्न है।

3.2.3.2. भारतीय महिला संगठन (डब्ल्यू.आई.ए.)

सन 1917 को मद्रास में अनी बेसन्ट, डोरोथी जिनजरादास एवं मार्गरिट बहिनों के द्वारा इस संगठन को स्थापित किया गया। यह स्त्रियों प्रथम संगठन है, जिसने सभी-स्तर के स्त्रियों को एक साथ लाने का प्रयास किया। इसका लक्ष्य पुरुष और स्त्रियों के लिए समान अधिकार सभी स्त्रियों के लिए शिक्षा, बाल विवाह व अन्य सामाजिक व्याक्तियों पर रोक, राजनीतिक दृष्टि से स्त्रियों के अधिकार, स्त्रियों की आत्मनिर्भर बनाना आदि है।

3.2.3.3. भारतीय राष्ट्रीय महिला परिषद (एन.सी.डब्ल्यू.आई)

यह परिषद 1926 में स्थापित हुई जिसकी संस्थापिका लेडी अम्बरडीन, लेडी टाटा तथा बंबई प्रांत की अन्य महिलाएँ थीं। इस संगठन के साथ बंबई प्रांतीय महिला परिषद, कलकत्ता प्रांतीय सेवा लीग तथा बिहार, बंगाल की अन्य प्रांतीय परिषदों ने हिस्सा लिया था। वे सभी कार्यों में शामिल होती थी।

3.2.3.4. राज्यस्तर के गैर-सरकारी संगठन

महिला विकास में स्वैच्छिक संगठन महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं। जन सहयोग के अभाव में अधिकांश विकास योजनाएँ अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर पाती हैं, अत: ये स्वैच्छिक समूह प्रशासन एवं जनता के मध्य दूरी को कम करते हैं और जन सहयोग को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके अतिरिक्त ये स्वैच्छिक समूह महिला शिक्षा, स्वास्थ्य एवं जागरूकता के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

- स्वाधीना (Shadhina.org.in) – इस गैर-सरकारी संस्था का उद्देश्य महिला सशक्तिकरण है। यह संस्था अशिक्षा, सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता, स्वास्थ्य, आर्थिक शोषण जैसे मुद्दों को लेकर स्त्रियों को सशक्त बनाती है। विशेषत: इनका लक्ष्य आदिवासी एवं पिछड़े वर्ग की महिलाएँ हैं। स्वाधीना अभी झारखंड, पश्चिम बंगाल एवं तमिलनाडु जैसे राज्यों के 52 ग्रामीण इकाई में कार्यरत है।
- स्त्री आधार केंद्र – (www.stree adharkendra.org)- यह स्त्रियों की सहायता के लिए एक गैर-सरकारी संस्था है। इसकी आरंभ शुरुआत अस्सी दशक के प्रारंभ में महाराष्ट्र में हुआ। स्त्रियों को घरेलू हिंसा, और अन्यान्य समस्याओं से लढ़ने तथा क्षमता विकास के लिए यह संस्था कार्यरत है।
- स्व-रोजगार प्राप्त महिला संघ (अहमदाबाद सेवा) – सन 1972 को महिला इस संघ की स्थापना टेक्साटाइल मजदूर संघ, के महिला इकाई द्वारा हुई। यह स्त्रियों में सहकारिता उत्पादन और वितरण के महत्व लेकर आई, जिसके कारण कोई बिचौलिया उनका लाभ न ले सके। स्त्रियों सशक्त बनाने हेतु सेवा बैंक की भी स्थापना की गई ताकि स्व-रोजगार प्राप्त महिलाओं को कम रेट पर ऋण उपलब्ध करावाया जा सके। इससे बहुत अधिक मात्रा में महिलाएँ लाभान्वित हुई। यह गुजुरात में बानसकंठा जिले में अपना काम कर रहा है। यह जिला, राज्य के उत्तरी भाग में सूखा क्षेत्र है। इस क्षेत्र के लोग प्राकृतिक आपदाओं, स्थायी निर्धनता और अनपढ़ता से घोर रूप से प्रभावित हैं। इस क्षेत्र में उच्च मृत्यु दर देखी गई है और सूखे के दिनों में लाभप्रद रोजगार की खोज में अन्य क्षेत्रों में जाकर बसना पड़ता है। सेवा ने इन्हें एकजुट करते हुए क्षेत्र में स्त्रियों को संगठित करने का प्रयास किया है।

बानसकठा महिला संघ (बी डब्ल्यू ए) स्त्रियों का ग्राम स्तर के उत्पादकों के समूहों का परिसंघ है जिसे सेवा के सहयोग से गठित किया गया है। बी.डब्ल्यू.ए. स्त्रियों को ऋण समूहों का गठन करने में सहायता करता है।

कामकाजी महिला संघ (डब्ल्यू.डब्ल्यू.एफ) का गठन 1978 में मद्रास में किया गया था कि जो कि मद्रास झोपड़पट्टी समुदायों में निर्धन स्त्रियों की सहभागितापरक आवश्यक निर्धारण का परिणाम था। तभी से यह असंगठित क्षेत्र में कार्यरत निर्धनतम और उपेक्षित स्त्रियों को एकजुट करता आ रहा है। ये महिलाएँ साख सहकारियों और एकता के माध्यम से डब्ल्यू.डब्ल्यू. एफ. द्वारा संगठित की जा रही हैं। इसके हस्तक्षेप के कारण अब हजारों महिलाएँ साहुकारों और अन्य मध्यस्थों की जकड़ से छुट गई है और अब उन पर निर्भर नहीं हैं। इस तरह महिलाएँ बचत करने, परिसंपत्तियों सृजित करने और जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाने योग्य बन पाई हैं।

इन सबके अलावा देश भर में कई गैर सरकारी संगठन हैं जो महिला सशक्तिकरण का कार्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कर रही है: कुछ ऐसी संगठनों के नाम इस प्रकार हैं- स्वरोजगार प्राप्त महिला संघ, अहमदाबाद, अन्नपूर्णा महिला मंडल, मुंबई, आन्ध्र महिला सभा, मद्रास, महिला अभ्युदय संस्था, आंध्र प्रदेश महिला संगम, अन्वेषी (हाइद्रावाद), महिला समाजम, केरल आदि अनेक संस्थाएँ नारी उत्थान व उन्हें सक्षम बनाने हेतु प्रयासरत हैं।

3.2.4. सारांश

इस इकाई में हमने स्त्री सशक्तिकरण के लिए किए जा रहे सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रयासों की चर्चा की है। सरकारी संस्थाओं द्वारा जो भी कार्य किए जाते हैं, वे मंत्रालय के वेबसाइट पर उपलब्ध हो जाते हैं, किंतु-गैर-सरकारी संगठन भारत में हजारों की संख्या में है, उनकी जानकारी नहीं मिल पातीं। किंतु यह अवश्य है कि केंद्र सरकार और राज्य सरकार इस मुद्दे पर अत्यंत संवेदनशील हैं और उन्होंने बहुत सी पहल की है और स्त्रियों को बेहतर ढंग से जीने के लिए गैर-सरकारी संगठनों ने भी अभिनव प्रयास किए हैं।

इकाई-3 विकास की स्त्रीवादी आलोचना एवं वैकल्पिक विकास

इकाई की रूपरेखा

3.3.0. उद्देश्य

3.3.1. प्रस्तावना (विकास: स्वरूप एवं अवधारणा)

3.3.2. स्त्री और विकास-विचार धाराएँ

3.3.3. भारतीय स्त्री और विकास: कुछ आँकडे

3.3.4. स्त्री विकास-प्रजननएवं स्वास्थ्य

3.3.5. स्त्री विकास-भूमंडलीकरण, तकनीक एवं श्रम

3.3.6. स्त्री और वैकल्पिक विकास

3.3.7. वैकल्पिक विकास-मनोवैज्ञानिक आधार

3.3.8. वैकल्पि विकास की रूपरेखा

3.3.9. सारांश

3.3.10. बोध प्रश्न

3.3.11. संदर्भ ग्रंथ सूची

3.3.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- विकास की अवधारणा का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- विकास और स्त्री संबंधी बहस की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- वैकल्पिक विकास और स्त्री की भूमिका के परस्पर संबंध को समझ सकेंगे।

3.3.1. प्रस्तावना विकास : स्वरूप एवं अवधारणा

'विकास' को फैलाव के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। वृद्धि के लिए वस्तु के रूप आदि में निरंतर परिवर्तन होना ही विकास है। अर्थशास्त्र में विकास की अवधारणा का तात्पर्य है किसी भी राष्ट्र के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि और वृद्धि का नैरंतर्य बनाए रखना। विकास की अवधारणा में सभ्यता को विकास के साथ-साथ तीन केंद्रीय मूल्य समाहित हो गए-जीवनयापन, आत्मगौरव तथा विकल्प चुनने की स्वतंत्रता। 'द चेंज टु चेंज':मॉर्डनाइजेशन, डेवेलपमेंट एंड पॉलिटिक्स शीर्षक लेख में सैमुअल पी.हटिगंटन ने आधुनिकीकरण के संदर्भ में जिन नौ विशेषताओं का उल्लेख किया है, उन्हें प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्यामाचरण

दूबे ने विकास की प्रक्रिया के लिए भी समान माना है (विकास का समाजशास्त्र, पृष्ठ 28, श्यामाचरण दूबे) जो निम्नलिखित हैं-

(1) आधुनिकीकरण और विकास, क्रांतिकारी प्रक्रियाएँ है।इसके तकनीकी और सांस्कृतिक परिणाम उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितनी नव लौह क्रांति के थे, जिसने खानाबदोश और शिकारी आदमी को कृषक के रूप मे स्थापित किया। अब ग्रामीण कृषि-प्रधान संस्कृतियों को नागर-औद्योगिक संस्कृतियों में बदलने का प्रयास हो रहा है। ए.टाफलर(1980)के शब्दों में यह पहली धारा से दूसरी धारा की ओर आगे बढ़ना है।

(2) आधुनिकीकरण और विकास दोनों की प्रक्रिया जटिल और बहुआयामी है। संज्ञानात्मक, व्यवहारपरक और संस्थागत परिमार्जन तथा पुनर्रचना की श्रृंखला उनके साथ जुड़ी हुई है।

(3) दोनों ही अवधारणाएँ सर्वांगिक (Systematic) प्रक्रियाएँ हैं। एक आयाम में पीरवर्तन लाता है।

(4) ये व्यापक प्रक्रियाएँ है। अपने उद्भव-केंद्र से उत्पन्न होकर विचार और तकनीक विश्व के अन्य भागों में फैल जाते हैं।

(5) ये दीर्घकालिक प्रक्रियाएँ हैं। आधुनिकीकरण तथा विकास दोनों में ही समय महत्वपूर्ण है। इन्हें तत्काल उत्पन्न करने वाला कोई तरीका ज्ञात नहीं है।

(6) ये कई चरणों में निबद्ध प्रक्रियाएँ हैं। इतिहास बताता है कि आधुनिकीकरण और विकास के लक्ष्यों की दिशा में प्रवृत्ति पहचाने जा सकने वाले चरणों और उपचरणों में घटित होती है।

(7) ये समरूप बनाने वाली प्रक्रियाएँ है। आधुनिकीकरण और विकास ज्यों-ज्यों उच्च चरणों पर पहुँचते हैं, राष्ट्रीय समाजों के बीच अंतर घटते हैं और अंततोगत्वा एक स्थिति आती है "जब आधुनिक विचारों और संस्थाओं के सार्वभौमिक रूप लागू होते हैं, जिससे विभिन्न समाज एक ऐसे बिंदु पर पहुँचते हैं कि वे इतने एकरूप हो जाते हैं कि विश्व राज्य का निर्माण करने में समर्थ हो जाते हैं''(ब्लेक 1966,पृष्ठ 155-174)

(8) दोनों ही ऐसी प्रक्रियाएँ हैं, जिनका रूखा पीछे नहीं मोड़ा जा सकता। आधुनिकीकरण और विकास में पीछे नहीं जाया जा सकता, हालंकि यदा-कदा उथल-पुथल और अस्थायी तौर पर उतार-चढ़ाव आ सकते हैं।

(9) ये प्रगतिशील प्रक्रियाएँ हैं। आधुनिकीकरण और विकास अपरिहार्य और वांछित हैं। दीर्घकाल में ये मानव की भौतिक और सांस्कृतिक दोनों ही प्रकार की समृद्धि में योगदान करती हैं।

विकास की अवधारणा उत्तर-औपनिवेशिक काल में द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद विश्व व्यवस्था के संदर्भ में अस्तित्व में आई और शीघ्र ही इसने एक अंतरराष्ट्रीय उघोग का रूप ले लिया। एमेनयुएल वालेरस्टाइन के अनुसार पूँजीवादी विश्व अर्थ-व्यवस्था की स्थापना की तीन शर्तें होती हैं- विश्व के भौगोलिक आकार में वृद्धि, विश्व अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न कटिबंधों में विभिन्न उत्पादों में

श्रम-नियंत्रण की बहुवर्णी विधियॉं और पूँजीवादी वैश्विक अर्थव्यवस्था के केंद्रीय राज्यों में सशक्त तंत्रों का निर्माण।

आरंभिक अर्थशास्त्र में विकास की अवधारणा बड़ी सरल थी-विकास का तात्पर्य था राष्ट्र की स्थिर अर्थव्यवस्था की 5 से 7 प्रतिशत या उससे अधिक की दर से सकल राष्ट्रीय उत्पाद को बढ़ाना और बनाए रखना। संयुक्त राष्ट्र ने 1960 के दशक को 'विकास-दशक' घोषित किया था, इस अवधि के लिए सकल राष्ट्रीय उत्पाद में 6 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की दर का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त दूसरा सूचक था प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि और किसी देश की जनसंख्या दर की तुलना में अधिक तीव्र गति से अपने उत्पादन की मात्रा को तय करने के लिए प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि की दर और स्तर का निर्धारण किया गया। वित्तीय विकास की इस अवधारणा में उत्पादन तथा रोज़गार की संरचना में नियोजित बदलाव लाना ही लक्ष्य था। लेकिन बाद में देखा गया कि विकास का लाभ संपूर्ण जनसंख्या की जगह सिर्फ एक छोटे हिस्से को मिला। अंत: पुनर्परिभाषित करने की ज़रूरत महसूस की गई। अब विकसित हो रही व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में निर्धनता तथा असमानता तथा बेरोज़गारी मिटाने के लक्ष्यों के साथ इसे जोड़कर देखा गया। कुछ ही वर्षों में विकास की अवधारणा की बाधाएँ और अवरोधक तत्व सामने आ गए तथा शिक्षा और संचार माध्यमों तथा स्वास्थ्य सुविधाओं तथा सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। संरचनात्मक स्तर पर परिवर्तन के लिए जनमत का दबाव और सोद्देश्य प्रशासनिक गठन एवं क्रियान्वयन की आवश्यकता, परियोजनाओं को कार्यरूप में परिणत करने के लिए अपेक्षित कल्पनाशीलता का अनुभव विकास की प्रक्रिया में प्रमुख अवरोधक तत्वों के रूप में पहचाने गए। तीसरी दुनिया के देशों में परंपराएं और संस्कृति विकास के मार्ग में बाधा बनी। परंपरा के प्रति निष्ठा और आधुनिकीकरण के प्रति लगाव के बीच की दूरी को पाटने के लिए जिस गतिशीलता की आवश्यकता थी, उसके अभाव ने विकास की प्रक्रिया को धीमा रखा। इसके अतिरिक्त शिक्षा तथा तकनीकी ज्ञान का पर्याप्त प्रचलन होने के कारण विकास के कार्यक्रमों का अकुशल नियोजन हुआ, इससे प्रबंधन को अनेक दिक्कतों का सामना करना पड़ा। विकास के अनंतर कुछ सफल कार्यक्रमों को कई बार अप्रत्याशित रूप से कट्टरपंथी प्रतिक्रियाओं का सामना करना पड़ा और विकास की प्रक्रिया जो आधुनिकीकरण से अनिवार्यत: संबंद्ध थी, उसमें घोषित लाभ कहीं नहीं दिखे, और तीसरी दुनिया के देश और अधिक निर्धन होते गए। अपेक्षित परिणामों के अभाव ने व्यापक जनसमुदाय में विरक्ति का संचार किया सामाजिक अनुशासन की कमी ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

आज जबकि विश्व को 'ग्लोबल गाँव' कहा जा रहा है वहाँ वर्ग, जाति और लिंग के आधार हो रहे सामाजिक आर्थिक भेदभाव दरअसल 'ग्लोबल विलेज' की अवधारणा को खंडित कर रहे हैं। विश्व के सभी देश चाहे यूरोप के देश हो, अमेरिका हो, या विकासशील देश उनके भीतर उत्तर औपनिवेशिक युग

में पुरानी पंरपराएं और रूढ़िया सिर उठा रही हैं- आधुनिकता और भूमंडलीकरण के इस दौर में आधुनिकताविरोधी तथा विकास विरोधी विचार धाराएँ दृढ़ हो रही हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से देखें तो आधुनिकता और विकास का अर्थ है-प्रगति। लेकिन यह देखने की बात है कि इस विकास का परिणाम क्या हैं? कुछ विकसित देशों को सामाजिक सांस्कृतिक स्तर पर विकास की कड़ी कीमत चुकानी पड़ी है। अकेलापन, व्यर्थताबोध, तलाक, विवाहेतर, संबंध, आत्महत्या की घटनाएं, मनोरोग, हिंसा (वैयक्तिक और सामूहिक) को विकास के नकारात्मक परिणामों के तौर पर देखा जा सकता है। वृद्धि के लिए वस्तु के रूप आदि में निरंतर परिवर्तन होना ही विकास है-सभ्यता के विकास के साथ इसमें तीन केंद्रीय मूल्यों का समाहार हो गया- जीवनयापन, आत्मगौरव और विकल्प चुनने की स्वतंत्रता। समाज में मनुष्य के विकास की क्रमिक अवस्थाओं के विषय में कई बौद्धिकों और विचारकों ने अपने विचार व्यक्त किए।

विश्व में पितृसत्तात्मक समाज की स्थापना 3100 से लेकर 600 ईसा पूर्व तक की एक लंबी प्रक्रिया थी, जिसमें पुरुषवर्चस्ववादी शक्तियों ने स्त्री को एक अधीनस्थ स्थिति में ला खड़ा किया। प्रसिद्ध दार्शनिक एवं चितंक 'प्लेटो' ने पुरुषों को अपने घर के गुलामों और स्त्रियों पर अपनी सत्ता और शासन कायम रखने की सलाह दी थी। 'अरस्तू' ने राजनीति को स्त्रियों का कार्यक्षेत्र ही नहीं माना और उनके अस्तित्व की सार्थकता गुलामों की तरह घरेलू काम-काज करने और सीखने में मानी तथा विकास का सारा दारोमदार पुरुषों को सौंपा। इसके बाद 'डेकार्टस' के अनुसार स्त्रियों का काम उच्चतर संधानों और बौद्धिक श्रम से थके पुरुषों के लिए भोग्या की भूमिका निभाना है। 'कांट' ने स्त्री-पुरुष के लैंगिक विभेद को गहरा करते हुए बताया कि पुरुषों को कोई संरक्षण और सहारा नहीं चाहिए, जबकि स्त्रियां कूप मंडूक होती हैं, और इसलिए उनकी उपस्थिति द्रवक होती है। 'हीगेल' ने अपने सिद्धांत द्वंद्ववाद में माना कि "मनुष्य के विकास की क्रमिक अवस्थाएँ होती हैं: आत्मिक और सामाजिक संरचनाएं जो बुद्धि के रास्ते प्रज्ञा में उदात्तीकरण नामक विकास-क्रमका आईना मानी जा सकती हैं। विकास की आरंभिक/अपरिपक्व अवस्था का प्रतिबिबंन स्त्री के सरल चित्र में होता है- घर-गृहस्थी, भावनात्मक सुरक्षा आदि छोटी चिंताओं से ये इस क़दर भरी होती हैं कि नाक के आगे इन्हें कुछ सूझता ही नहीं, 'प्राइवेट स्फियर' लांघकर 'पब्लिक स्फियर' के बृहत्तर उद्देश्यों के बारेमें सोचना इनसे सधता नहीं।

इसलिए इन्हें 'नागरिक' तो माना ही नहीं जा सकता; अधिक से अधिक ये इतना कर सकती हैं कि पुरुषों को वृहत्तर सामाजिक उद्देश्य साधने की प्रेरणा और सुविधा दें। 'हीगेल' ने पुरुषों के विकास की तुलना पशुओं से और स्त्रियों के विकास की तुलना वनस्पतियों से की। (स्त्रीत्व का मानचित्र अनामिका पृष्ठ 21) कार्लमार्क्स ने आगे चलकर सभ्यता के विकास के केंद्रीय सत्य के रूप में वर्ग-संघर्ष को पहचाना। 'जॉन स्टुअर्ट मिल' वे पहले दार्शनिक थे जिन्होंने समाज और राष्ट्र के सम्यक विकास में स्त्री और पुरुष की बराबर की भागीदारी की बात की, लेकिन वे स्त्री के लिए 'विवाह' या कैरियर में से किसी एक को चुनने की बात की।

दार्शनिक और चिंतकों के विचारों के अलावा वर्ग और लिंग-विभेद की संरचना ने पूँजीवादी व्यवस्था को सशक्त बनाया। पूँजीवादी शक्तियों ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था को हमेशा से प्रोत्साहित किया,इसका प्रभाव साहित्य और विचारधाराओं पर भी पड़ा। विकास की लंबी प्रक्रिया में पितृसत्ता, लिंग-विभेद ने स्त्रियों के संपूर्ण व्यक्तित्व, समाज में उनके प्रति सोच को प्रभावित किया। लैंगिक-विभेद और विकास की अवधारणाओं को समझकर ही हम स्त्री के विकास को अच्छी तरह समझ सकते हैं-

लिंग और विकास की अवधारणाओं को समझने के लिए हमें कुछ पारिभाषिक शब्दों की ओर देखना होगा-

(1) **संस्कृति-** विचारों, विश्वासों और नियमों का एक विशिष्ट स्वरूप जो समाज के किसी एक वर्ग अथवा किसी समाज़ के संबंधों और जीवन शैली का निश्चित करता है।

(2) **लैंगिक विश्लेषण-** समाज में लिंगाधारित भेदभाव और सामाजिक संबंधों का विश्लेषण करना, ताकि लैंगिक भेदभाव के कारणों की तह तक पहुँचा जा सके।

(3) **लैंगिक भेदभाव-** किसी व्यक्ति से लिंग के आधार पर भेदभाव करना और उसे लिंग के कारण अधिकारों एवं अवसरों से वंचित करना।

(4) **श्रम का लैंगिक विभाजन-** समाज में प्रचलित वे विचार और अभ्यास जो पुरुष और स्त्री के उपयुक्त श्रम का विभाजन करते हैं।

(5) **लैंगिक समानता और न्याय-** लैंगिक समानता का अर्थ है कि स्त्रियों को भी जीवन में पुरुषों के समान अवसर मिलें। इसमें सामाजिक क्षेत्र में बराबरी के अवसर भी शामिल हैं। लैंगिक न्याय का अर्थ है कि उत्पादन के साधनों में स्त्री और पुरुष को उनकी अलग-अलग आवश्यकताओं और रुचियों के आधार पर उचित भागीदारी मिले तथा शक्ति एवं उत्पादन के स्रोतों का पुनर्वितरण हो।

(6) **लैंगिक मुख्यधारा-** किसी संस्था के सभी पक्षों उसकी नीतियों और क्रियाकलापों में लैंगिक समानता के मुद्दों पर विचार करना और उसे मुख्यधारा में लाना।

(7) **लैंगिक आवश्यकताएँ-** एक समूह के रूप में स्त्रियों का स्त्रीलिंग के तौर पर अपनी आवश्यकताओं को पहचानना।

(8) **लिंगाधृत योजना-** लैंगिक भेदभाव रहित समाज निर्माण की दिशा में तकनीकी और राजनैतिक प्रक्रियाएं और प्रणाली की योजना का निर्माण एवं उसे व्यवहार में लाने का प्रयास।

यौन और लिंग- यौन किसी जैविक विशेषताओं की ओर संकेत करता है और उसे मादा या नर की श्रेणी में रखता है,जबकि लिंग का संबंध समाज द्वारा निर्धारित विचारों और प्रयतन से है जो किसी को नर या मादा के रूप में निर्धारित करता है।

सामाजिक न्याय- सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में औचित्य, न्याय और समानता, जो विकास के परिणाम स्वरूप ही आ सकते हैं, उनका अधिकार के रूप में प्रयोग।

विकास में स्त्रियां- WID (वूमन इन डेवलेपमेंट) में विकास की प्रक्रिया में स्त्रियों की भागीदारी का आमंत्रण एवं नियोजन GAD (लिंग और विकास)सामाजिक तौर पर स्त्री और पुरुष के बीच निश्चित अंतराल को पहचानना और अस्तित्व में लैंगिक भूमिका और उस पर आधारित संबंधों को पुनर्विश्लेषित करना।

स्त्री और पुरुष के शक्तिसंबंध

(9) लैंगिक संबंध- समाज में श्रेणी पर आधारित होते हैं, जिनमें पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा लाभ की स्थिति में रहते हैं।

(10) लैंगिक प्रशिक्षण- समाज एवं उसके विभिन्न वर्गों में लैंगिक समानता के लिए और सांस्थानिक प्रयास।

(11) लिंगाधृत हिंसा- किसी पुरुष या पुरुषप्रधान संस्था द्वारा किसी स्त्री या लड़की को उसके स्त्री होने के कारण शारीरिक, यौनिक या मनोवैज्ञानिक हानि पहुँचाना।

(12) अंत:घरेलू-संसाधनों का विभाजन- वह समीकरण, जिसमें बताया जाए कि कैसे अलग-अलग संसाधन जुटाए जाते हैं और घरेलू स्तर पर सदस्यों के बीच इनका विभाजन कैसे किया जाता है।

(13) स्त्री के लिए राष्ट्रीय स्तर के प्रयास-स्त्रियों के विकास के लिए सरकारों द्वारा विकास-नीतियों और योजनाओं को क्रियान्वित करने वाली संस्थाओं के प्रयासों और कार्यों को इसके अंतर्गत रखा जा सकता है।

(14) पितृसत्ता- सामाजिक संरचना व्यवस्था जो स्त्रियों पर पुरुषों के शारीरिक, सामाजिक वर्चस्व की हिमायती हैं।

(15) स्त्री शक्ति- लिंगाधृत शक्ति संबंधों में स्त्रियों की दोयम स्थिति के प्रति स्त्रियों में चेतना जगाना और पुरुषवर्चस्व वादी व्यवस्था को चुनौती देने की शक्ति का निर्माण करना।

(16) स्त्रियों के मानवधिकार- यह पहचानना कि स्त्रियों के अधिकार मानवाधिकार है और स्त्रियां केवल लैंगिक भेदभाव के कारण अन्याय का शिकार बनती हैं।

(17) संस्कृति-विचारों, विश्वासों और नियमों की एक विशिष्ट व्यवस्था जो यह बताने में सक्षम होती है कि किसी समाज या समाज के किसी एक वर्ग की जीवन शैली ओर आपसी संबंध कैसे बनते हैं? संस्कृति ही किसी समाज में लैंगिक विचारधाराओं को निर्मित करती है अधिकारों और दायित्वों का निर्धारण करने के साथ-साथ स्त्री और पुरुष के लिए उपयुक्त व्यवहार का निर्धारण भी करती है। संसाधनों के वितरण पर भी लैंगिक विचार धाराओं का प्रभाव पड़ता है साथ ही नीति-निर्धारण पर भी इनका वर्चस्व रहता है।

3.3.2. स्त्री और विकास-विचार धाराएँ

सन 1971 में पहली बार भारत में स्त्रियों की हालत जानने के लिए स्टेटस ऑफ वूमेन नाम कमेटी का गठन किया गया था। इस कमेटी की रिपोर्ट में जिन मुद्दों पर ध्यान दिया गया था वे थे:-

(1) आर्थिक और सामाजिक असमानता

(2) सामाजिक संरचना में स्त्री की मातहत स्थिति

(3) सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिवर्तनों का स्त्रियों पर प्रभाव

इस रिपोर्ट में माना गया कि राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए स्त्रियों का बराबरी में योगदान अनिवार्य है। स्त्रियों को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होना चाहिए, जिसकें लिए उन्हें रोज़गार के समुचित अवसर दिए जाने चाहिए। संतान की ज़िम्मेदारी माता-पिता दोनों की होनी चाहिए। घरेलू स्त्रियों के योगदान को भी राष्ट्रीय बचत और विकास के रूप में आंका जाना चाहिए। विधवाओं की स्थिति पर विचार करते हुए इस कमेटी ने बताया कि 1971 की जनगणना में दो करोड़ तीस लाख विधवाएँ थी। विधवाओं की स्थिति और रहन सहन में परिवर्तन महसूस किया गया, लेकिन ऐसी हज़ारों विधवाएँ थी जो परित्यक्ता का जीवन जी रही थी। वे भीख मांगकर या वेश्वावृत्ति करके अपना भरण-पोषण कर रही थी। समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची थी कि स्त्रियों की दशा सुधारने में हमारा समाज असफल रहा है। तकनीक के विकास ने दहेज की प्रथा को बढ़ाया। स्त्री की नौकरी भी दहेज का हिस्सा बन गई है। नेखनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो 1998 की रिपोर्ट में बढ़ती दहेज हत्याओं पर गंभीर टिप्पणी की गई। सन 2000 में जारी यूनिफेम की रिपोर्ट में कहा गया कि "स्त्रियों को यह समझ में आ गया है कि जब तक उनकी अर्थिक स्थिति नहीं सुधरती तब तक उनका विकास नहीं हो सकता, क्योंकि संसार के अधिकांश संसाधनों पर पुरुषों का आधिपत्य है। इसलिए स्त्रियां वित्तीय बाजार में रुचि लेने लगी हैं और राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उनकी पहल को देखा जा सकता है। मार्क्स ने समाज में नारी की स्थिति को सामाजिक प्रगति का सूचकांक माना था। एंगेल्स ने अपनी पुस्तक 'परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' में मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत का प्रयोग करते हुए प्रसिद्ध नृतत्वशास्त्री लुईस मार्गन की पुस्तक के आधार पर प्रारंभिक कबीलाई समाज से लेकर वर्तमान के परिवार के उदय के पूरे इतिहास पर प्रकाश डालते हुए कुछ महत्वपूर्ण बातें सामने रखी। एंगेल्स ने कहा कि विवाह में पुरुष की श्रेष्ठता उसकी आर्थिक श्रेष्ठता का सीधा परिणाम है। आर्थिक श्रेष्ठता समाप्त हो जाने पर वैवाहिक जीवन में पुरुष की श्रेष्ठता भी समाप्त हो जाएगी।" इस पुस्तक के प्रकाशन से पहले 1845 में एंगेल्स ने एक पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक था 'इंग्लैंड में मज़दूर वर्ग की दशा (The condition of working class in england) इस पुस्तक में वे जिन निष्कर्षों तक पहुंचे थे, उससे मालूम होता है कि उनपर 1845 तक ऐतिहासिक भौतिकवाद के वैज्ञानिक सिद्धांत ने विशेष प्रभाव नहीं डाला था। इस पुस्तक में स्त्री-कामगारों और श्रमिकों के कठोर श्रम के संदर्भ में उनकी टिप्पणी थी कि इस प्रकार के रोज़गार का पारिवारिक जीवन पर बुरा असर पड़ता है और स्त्रियों से उनका 'औरतपन या स्त्रीपन' छिन जाता है। बाद में चलकर 'परिवार निजी

संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति'(1884) में स्त्रियों के रोज़गार को, उनकी आर्थिक आत्मनिर्भरता को एक आदर्श स्थिति बताया। उनका कहना था कि परिवार के दायरे में पुरुष बुर्जुआ की भूमिका में होता है तथा स्त्री सर्वहारा। एंगेल्स ने लिखा है कि "शुरू में जंगली जानवरों को पकड़कर पालतू बनाना और फिर उनका पालन पोषण करना पुरुष का ही काम था। इसलिए वही जानवरों का मालिक होता था और उनके बदले में मिलने वाले तरह-तरह के मालों और दासों का भी। इसलिए उत्पादन से प्राप्त अतिरिक्त पैदावार पुरुष की संपत्ति होती थी। स्त्री उसके उपभोग में हिस्सा बँटाती थी पर उसके स्वामित्व में उसका कोई भाग नहीं होता था। 'जंगल' योद्धा और शिकारी की घर में प्रमुख स्थान देकर स्त्री को खुद गौण स्थान से ही संतुष्ट रहना था अब 'सीधे-सादे' गड़रिये ने अपनी दौलत के बल पर मुख्य स्थान पर खुद अधिकार कर लिया और स्त्री को गौण स्थिति में धकेल दिया। स्त्री कोई शिकायत नहीं कर सकती थी। पति और पत्नी के बीच संपत्ति का विभाजन परिवार के अंदर के श्रम-विभाजन से संचालित होता था। श्रम-विभाजन पहले जैसा था, फिर भी अब उसने घर के अंदर के संबंधों को एकदम उलट-पलट दिया, क्याके कि परिवार के बाहर श्रम-विभाजन में परिवर्तन आ गया था। जिस कारण से पहले घरमें स्त्री सर्वेसर्वा थी, यानी घरेलू कामकाज तक सीमित रहकर-उसी ने अब घर में पुरुषका वर्चस्व सुनिश्चित किया। पुरुष के जीविका कमाने के काम की तुलना में स्त्री के घरेलू काम का महत्व जाता रहा। अब पुरुष का काम सब–कुछ बन गया और स्त्री का काम एक महत्वहीन योगदान मात्र रह गया। "हमें ये स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि जब तक स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन के काम से अलग और केवल घर के निजी कामों तक सीमित रखा जाएगा, तब तक स्त्रियों को स्वतंत्रता और पुरुषों के साथ बराबरी का हक पाना असंभव है और असंभव ही रहेगा। स्त्रियों की स्वतंत्रता केवल तभी संभव होती है जब वे बड़े पैमाने पर उत्पादन में भाग लेने में समर्थ होती हैं और जब घरेलू काम उनसे बहुत कम ध्यान देने की माँग करते हैं। यह सब केवल बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग के फलस्वरूप ही संभव हुआ है, जो न केवल स्त्रियों के लिए बड़ी संख्या में उत्पादन में भाग लेना संभव बनाता है, बल्कि जिसके लिए स्त्रियों को उत्पादन में खींचना जरूरी भी होता है और जिसमें घरेलू कामकाज को भी एक सार्वजनिक उद्यम बना देने की प्रवृत्ति होती है।" (परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पति-एंगेल्स, अनुवाद-नरेश नदीम, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली संस्करण-2006 पृष्ठ 173)

स्त्रियों की आर्थिक आत्मनिर्भरता को स्त्री मुक्ति से जोड़कर देखने की प्रक्रिया में मार्क्स, एंगेल्स आदि विचारकों ने सामाजिक विकास का अत्यंत सुसंगत वैज्ञानिक विश्लेषण किया और सामाजिक उपादन को स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता के प्रश्न से जोड़ा। इन्होंने सामाजिक व्यवस्थाओं के इतिहास को विकास के साथ जोड़कर देखने-समझने की पूर्णत: विकसित अवधारणा दी। इससे स्त्री को देखने की एक भिन्न दृष्टि का विकास हुआ, जिसमें वह पुरुष की मातहतया सर्वहारा न रहकर परस्पर एकता और सौमनस्य की भावना से एक नूतन समाज के विकास की ओर उन्मुख थी। बाद में चलकर कई विचारकों ने मार्क्स वादी चिंतन को इस आधार पर खारिज करना आरंभ किया कि यह चिंतन दृष्टि सभी सामाजिक प्रश्नों को मात्र आर्थिक प्रश्न बना

देती है। लेकिन स्त्री-मुक्ति की विचारधारा का मूल आधार मार्क्स की भौतिकवादी विचारधारा ही है- यह आधुनिक समीक्षकों और चिंतकों ने माना। मार्क्सवाद इस समझ पर आधारित है कि मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती, बल्कि उसका अस्तित्व ही उसकी चेतना का मुख्य कारक तत्व होता है, इसलिए मनुष्य की मुक्ति भौतिक और आत्मिक दोनों स्तरों पर उसकी सामाजिक परिस्थितियों से संबंद्ध होती है "मनुष्य अपना इतिहास स्वयं बनाते हैं पर अपने मनचाहे ढंग से नहीं, अपितु ऐसी परिस्थितियों में बनाते हैं जो उन्हें अतित से प्राप्त और अतीत के द्वारा संप्रेषित होती है और जिनका उन्हें सीधे-सीधे सामना करना पड़ता है'' (मार्क्स-एंगेल्स संकलित रचनाएँ, लुई बोनापार्त की अठारहवी ब्रूमेर, भाग-1, प्रगति प्रकाशन, मास्को, पृष्ठ 133) यह विचार धारा स्त्री और स्त्री की पारिवारिक स्थिति को, लैंगिक संबंधों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती हे। स्त्री-पुरुष संबंधों की तरह विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति की उपज होती है तथा इतिहास के प्रत्येक नए मोड़ पर स्त्री-पुरुष और परिवार के संबंधों के नए रूप सामने आ सकते हैं। साथ ही, उत्पादन की परिस्थिति में परिवर्तन करके ही स्त्र-पुरुष संबंधों में मौलिक परिर्वतन किया जा सकता है। अंत: उत्पादन की उत्कृष्ट परिस्थितियां वे हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष समानता हो और यही परिस्थितियां किसी भी सभ्य समाज के विकास के लिए उत्तरदायी होती हैं।

एंगेल्स के विचारों को अगस्त बेबेलकी पुस्तक स्त्री और समाजवाद में अधिक ठोस रुप मिला। जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के लिए कार्यक्रम तय करने में अगस्त बेबल के अलावा क्लारा जेटकिन, रोज़ा लक्ज़मबर्ग ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और जो सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी 1890 के दशक के शुरूआती वर्षों में ट्रेड-यूनियनों पर ही केंद्रित थी, उसने स्त्रियों के बीच व्यापक राजनीतिक गतिविधियों के विशेष संगठनों के विकास में रुचि दिखाई। इन संगठनों ने राजनीतिक समानता, प्रजनन तथा स्वास्थ्य, श्रमिक स्त्रियों को संरक्षण देनेके लिए कानून बच्चों की शिक्षा और सुरक्षा तथा स्त्रियों की राजनीतिक शिक्षा जैसे मुद्दों पर कार्य करना शुरू किया। इसी दौरान क्लारा जेटकिंस के संपादन में स्त्री केंद्रित पत्रिका 'इक्वेलिटी' (Gleichheit) का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। समाजवादी विचारों के प्रभाव से जर्मनी ही नहीं, पूरे यूरोप और अमेरिका में स्त्री-मुकित संबंधी विचारों का प्रचार-प्रसार होने लगा। रूस में समाजवादी क्रांति के बाद लेनिन ने तीसरे कम्युनिस्ट अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में जो विचार व्यक्त किए उन्हें क्लारा जेटकिंस ने 'लेनिन की स्मृतियाँ' शीर्षक पुस्तक में रखा। लेनिन ने स्त्रीयों की मानवीय और सामाजिक परिस्थिति तथा उत्पादन के साधनों की निजी मिल्कियत के बीच अविभाज्य संबंध बल दियातथा स्त्रियों की गुलाम स्थिति को सामाजिक-आर्थिक विकास के बाधक तत्व के रूप में रेखांकित किया और साम्यवाद को स्त्री-आंदोलन और सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष से जोड़ने की आवश्यकता पर बल दिया। लेनिन ने साम्यवादी पार्टी में स्त्रियों को पुरुषों से अलग देखने की दृष्टि से परहेज करते हुए कहा कि "हमारी विचारधारात्मक अवधारणाओं से ही हमारे सांगठनिक विचार उत्पन्न होते हैं। हम कम्युनिस्ट स्त्रियों का कोई पृथक संगठन नहीं चाहते, जो स्त्री कम्युनिस्ट है वह, अन्य कम्युनिस्टों की भाँति ही पार्टी की सदस्य है, उन्हें वही अधिकार तथा कर्तव्य हासिल हैं।"

लेनिन का मानना था कि समाज के समग्र विकास के लिए श्रमिक स्त्रीयों के आंदोलन की आवश्यकता है- स्त्रियों के लाभ के लिए, श्रमिक स्त्रियों, किसान स्त्रियों और यहां तक कि धनी स्त्रियों के लिए भी विशेष मांगे उठाने की जरूरत है।

मार्क्सवाद और समाजवादी विचारधारा ने स्त्री के विकास को समूचे समाज के विकास से जोड़कर देखा और इसके लिए व्यापक जनांदोलन की आवश्यकता पर बल दिया। स्त्री प्रश्न को नए वैश्विक दृष्टिकोण से देखने का सूत्तपात हो चुका था आगे आने वाले वर्षों में पूरे विश्व में स्त्री-मुक्ति आंदोलनों ने ज़ोर पकड़ लिया। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक दौर में मेरी बॉल्स्टनक्राफ्ट, विलियम थामपसन, जेम्स मिल तथा जॉन स्टुअर्ट मिल ने स्त्रियों के जनतांत्रिक अधिकारों की माँग उठाई, सदी के अंत तक ब्रिटेन तथा अमेरिका में, उनमें से अधिकांश मांगों को कानूनी तौर पर मान लिया गया। इससे स्त्रियों में शिक्षा की दर बढ़ी और सैद्धांतिक तौर पर स्त्रियों को बौद्धिक स्तर पर पुरुषों के समकथा समझा जाने लगा। आगे चलकर स्त्री-मुक्ति से संबंधित अनेक आंदोलन और वाद प्रकाश में आए, उदाहरण के लिए उग्र स्त्रीवादी विचार धारा ने मार्क्सवादी विचारधारा का विरोध किया। जहाँ मार्क्सवाद ने माना कि स्त्रियों को पुरुषों के समान विकास के अवसर दे सकता है, सिर्फ आर्थिक परिवर्तन सं समाज नही बदल सकता और समाजवादी क्रांति कोई क्रांति नहीं, बल्कि पुरुषों द्वारा सत्ता हड़पने का एक और विद्रोह मात्र होगा।' (सिस्टरहुड इज़ पावरफुल, एन एंथोलॉजी ऑफ राइटिंगस फ्रांम द वुमेन्स निबरेशन मूवमेंट सं. आर मार्गन, 1927 पृष्ठ 36) जहां तक स्त्रियों के आर्थिक शोषण का प्रश्न है तो तमाम विकसित और विकासशील देशों में स्त्रियों के साथ भेदभाव बरता जाता है। सियां 1980 की आबादी का आधा हिस्सा है। कुल काम का दो-तिहाई हिस्सा वे करती हैं। लेकिन दुनिया की आमदनी का सिर्फ दसवां हिस्सा उन्हें मिलता है और दुनिया की संपत्ति के सौ वें हिस्से से भी कम संपत्ति स्त्रियों के पास है। दूसरी ओर विश्व बैंक की रिपोर्ट 'जेंडर पावर्टी इन इंडिया' में बाज़ारीकरण के दौर में स्त्रियों की कीमत बढ़ने की संभावनाओं के संकेत दिए बए हैं। समाज में स्त्रियों की स्थिति को देखने के लिए हमें 1901 के भारत में जनगणना आँकड़ों को भी देखना चाहिए जहाँ 1000 पुरुषों के पीछे 997 स्त्रियाँ थी और सन 1999 तक इनका अनुवपात घटकर 900 रह गया। दूसरी ओर भारत में अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की शर्तों पर लागू किया गया आर्थिक उदारीकरण या संरचनात्मक समायोजन में स्त्रियों के विकास के अवसरों पर ध्यान देने की बात की गई है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार सन 2011 तक स्त्रियों को रोज़गार के इतने मौके मिल हैं, जितने पहले कभी नहीं मिले। इसका सिधा सा अर्थ है कि भारतीय स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता अन्य सदियों की तुलना में बेहतर स्थिति में है। ऐसा नहीं है कि आर्थिक उदारीकरण की नीतियां स्त्रियों के पक्ष में है, बल्कि संरचनात्मक समायोजन या स्ट्रक्चरल एडजेस्टमेंट में परिवार की आय संकुचित होने के कग़ार पर है, जिसकी पूर्ति के लिए परिवार के पुरुषों के साथ स्त्रियों को श्रम-बाज़ार में खड़ा होना पड रहा है। ग्राम्शी ने ज्ञान के उत्पादन और वितरण की प्रक्रियासे जुड़े हुए प्रत्येक व्यक्तिको बुद्धिजीवी माना था। पूंजीवादी व्यवस्था में बुद्धिजीवीयों का एक ऐसा वर्ग पैदाहोता है जो औद्योगिक और राजनीति शास्त्र का विशेषज्ञ होता

हैं, इन्हें पूंजीवादी संस्कृति के प्रबंधन और नूतन कानून-व्यवस्था की जानकारी होती है, जो उपभोक्ता वस्तुओं के बिक्रम और बाज़ार पर नियंत्रण करने और उस नियंत्रण को बनाए रखने में इस्तेमाल की जाती है। लेकिन भूमंडलीकरण के इस दौर में स्त्री की स्थिति, विशेषकर पूंजीवादी बौद्धिक की दृष्टि में क्या है इसे 8 मार्च 1983 को महिला दिवस के अवसर पर दिए एक साक्षात्कार में स्त्रिवादी चिंतक सीमोन द बोडवार ने व्यक्त किया- "मानव अधिकार उतने विश्वव्यापी नहीं है, जितना उन्हें होना चाहिए और अब भी मानव अधिकारों में महिलाओं के विशेष अधिकारों का विपरण नहीं है। स्त्रियों के शोषण को समाप्त करने की मांग अधिकतर संस्थाएं केवल अनसुनी ही नहीं कर रही, बल्कि स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों की ओर ध्यान भी नहीं देतीं।"

3.3.3. भारतीय स्त्री और विकास: कुछ आँकड़े

विकास के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक पहलू के संदर्भ में राष्ट्रीय परिवार सर्वेक्षण और श्रम मंत्रालय, भारत सरकार की रिपोर्टों पर एक नज़र डाल लेना उचित है। भारत सरकार की की एक रिपोर्ट के अनुसार स्त्रियों पर हिंसा घरेलू एवं सामाजिक की दर पिछले दशकों में उत्तरोत्तर बढ़ी है। नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो ने प्रतिवर्ष स्त्रियों के यौन उत्पीड़न, दहेज हत्या और 'ह्यूमन ट्रैफिकिंग' के मामलों में सन 2000 के बाद रिकार्ड बृद्धि दर्ज की है। पिछले दशक के मुकाबले स्त्री श्रम और स्त्री कर्मचारियों की संख्या सार्वजनिक क्षेत्र में बढ़ी है। एक अनुमान के अनुसार घरेलू स्त्री कामगारों की संख्या दो करोड़ के आसपास है। अपने देश में 1996 में कृषि के सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में एक हज़ार पुरुषों के पीछे 49.20 और 42.30 फीसदी स्त्रियों को रोज़गार मिला हुआ था। कृषि क्षेत्र में स्त्रियां बड़र संख्या में काम कर रही हैं भारत सरकार ने कृषि क्षेत्र की स्त्रियों के लिए बहुत सी योजनाएं शुरू की हैं। अपनी भूमि पर सिंचाई व्यवस्था के लिए स्त्री कृषक को जो सरकारी कर्ज मिलता है उस पर 90 प्रतिशत सब्सिडी है।

जहाँ तक शिक्षा का सवाल है देश में अनुमानत: 24 करोड़ 50 लाख स्त्रियां निरक्षर हैं। भारत में स्त्री साक्षरता की दर विश्व के परिदृष्य पर अति पिछड़ी स्थिति में है। मानव विकास रिपोर्ट 2000 के अनुसार भारत में स्त्री साक्षरता-दर (50 प्रतिशत) सब सहारा अ़फ्रीका से भी कम है। जबकि जांबिया, रवाण्डा नाइजीरिया, सूडान और मेडागास्कर में 69,57,53,54 प्रतिशत स्त्री साक्षरता की दर है। इसके अतिरिक्त भारत में स्त्री स्वास्थ्य की स्थिति चिंताजनक है। यह लगभग 50 प्रतिशत विवाहित स्त्रियों में रक्त की कमी है। इसके अतिरिक्त सरकारी आंकड़े यह बताते हैं कि लगभग दो ढाई करोड़ लड़कियां एवं स्त्रियाँ भारतीय जनसंख्या से लापता हैं। वे भ्रूण हत्या समेत बालिका शिशु मृत्यु का शिकार भी हो जाती हैं।

3.3.4. स्त्री विकास-प्रजनन एवं स्वास्थ्य

विकास की अवधारणा को अमल में लाने के लिए जरूरी है- शिक्षा, जिसके अभाव में राज्य और केंद्र की ओर से उठाए गए कल्याणकारी प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं। भारतीय संदर्भ में देखें तो जो स्त्री ठीक से पढ़ी लिखी नहीं है, अंग्रेज़ी में बातचीत नहीं कर सकती वह सत्ता और उसके संवाहकों की दृष्टि में दोयम दर्जे का जीव ही बनी रहती है। भारत में वर्ग और वर्ण के आधार पर स्त्रियों के साथ भेदभाव किया जाता है- मसलन उसकी अपनी इच्छा से गर्भधारण या गर्भपात कराने का मुद्दा- जो नैतिक और राजनीतिक रूप से जटिल और बहुआयामी है- स्त्री का वर्ग, उसकी जाति के आधार पर निर्णय लिया जाता है- वह भी राज्यसत्ता द्वारा। इस संदर्भ में यह ध्यान देना ज़रूरी है कि स्त्रीवादी विमर्श के केंद्र में प्राय: उच्चवर्गीय स्त्रियाँ ही रही हैं। अत: प्रतनन इत्यादि मामलों मे निम्नवर्गीय स्त्री की प्राथमिकताओं के विषय में हम विस्तृत समझ से परे रह जाते हैं। भारत में 14.5 प्रतिशत माताओं की मृत्यु का कारण असुरक्षित गर्भपात है। निम्नवर्ग की स्त्रियाँ आर्थिक अभाव, दरिद्रता, नैतिकता, लज्जा इत्यादि विभिन्न कारणें से अपने स्वास्थ्य की सही जानकारी न ले पाती हैं नही दे पाती हैं। 1972 में गर्भपात को वैधानिक करा दिया गया था, फिर भी हमारे अधिकांश राज्यों में अधिकांश स्त्रियाँ अन्यान्य कारणों से सुरक्षित गर्भपात नहीं करा पातीं। अधिकांश दूर-दराज़ के इलाकों में प्रशिक्षित स्त्री-रोग विशेषज्ञ अनुपलब्ध हैं। जहां तक गर्भपात और स्त्री-रोग किशेष्ज्ञ जैसी सुविधाएँ उपलब्ध हैं, लेकिन अविवाहित या विधवा स्त्रियाँ, कम दम्र की लड़कियां ऐसी समस्याओं के समाधान के लिए निजी अस्पतालों या प्राइवेट डाक्टर के पास जाना उचित समझती हैं, क्योंकि गर्भपात कराने के लिए पिता या पति की सहमति अनिवार्य है। कई बार विवाहित स्त्री अपनी इच्छा से गर्भपात कराने को स्वतंत्रनहीं होती। इस सारी समस्या की जड़ में है समाज की पितृसत्तत्मक अधिरचना, जिसके कारण जब तक स्त्रियाँ नौकरशाही और उँचे पदों पर नहीं पहुँच जाएगी जब तक संपत्ति में उन्हें बराबरी का अधिकार नहीं मिलेगा, संख्या के अनुपात में विधायिका में स्त्रियों का स्थान सुनिश्चित करने जैसे विधेयक पास नहीं होंगे, संस्थाबद्ध स्त्री द्वेष और लिंगाधृत भेदभाव के कारण स्त्रियों के समुचित विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। स्त्रियों को एक ऐसे कार्यक्रम की आवश्यकता है जो उनपर पितृसत्ताक समाज के दबावों को समझे, उनकी पारिवारिक सामाजिक विवशताओं को समझे-एक ऐसा स्वास्थ्य कार्यक्रम, जिसमें सलाह और इलाज के स्त्रि और पुरुष दोनों चिकित्सक उपलब्ध हों, उनकी बातों समस्याओं को ध्यान से सुनें, सिर्फ गर्भपात ही नहीं, बल्कि गर्भनिरोधकों और स्वस्थ संतति के लालन-पालन से जुड़ी समस्याओं की जानकारी और उपाय सुझाए। प्रजनन और स्वास्थ्य जैसे गोपनिय और निजी माने-जाने वाले क्षेत्रों में स्त्रिसों के मुँह से उनकी समस्याओं को सुनना और जानना-बहुत धैर्य और मानववादी कार्यकर्ताओं और चिकित्सकों की अपेक्षा रखता है। भारतीय ग्रामीण व्यवस्था में, जहाँ अशिक्षा और अंधविश्वास जड़ जमाए बैठे हैं- वहाँ अक्सर स्त्रियाँ अपनी स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को छुपाती हैं।

3.3.5. स्त्री विकास-भूमंडलीकरण, तकनीक एवं श्रम

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया हाल के वर्षों में तेजी से बड़ी है। औद्योगिक विकास को गति के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ठेके पर कार्य करवाने के प्रचलन और आवश्यकता में आश्चर्यजनक रूप से बृद्धि हुई है। ठेकों की छोटी इकाइयों में स्त्रियों का श्रम-पूरे विश्व में अपेक्षाकृत सस्ता होने के काण-ज़्यादा लोकप्रिय हुआ है। लेकिन हाल के दशको में स्त्री-श्रम को आयोजित प्रौद्योगिकी का सामना करना पड़ रहा है। तकनीक के आयात ने उत्पादन और वितरण के परंपरागत तौर तरीकों को बदल डाला है। लेकिन इस तकनीक का स्त्रियों पर जो प्रभाव पड़ रहा है उसे देखनाहो तो श्रीलंका की ट्रेड यूनियन शोधकर्ता रोहिणी समेन का शोध देख सकते हैं। वे लिखतीह हैं- "इसमें संदेह नहीं कि नई प्रौद्योगिकी ने स्त्री के लिए नई नौकरियां निर्मित की हैं, विशेषकर कंप्यूटर के क्षेत्र में। यहां पर कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। कंप्यूटर उद्योग में प्रवेश करने वाली स्त्रियाँ आज की स्त्रियाँ हैं, जो अभी-अभी पढ़ लिखकर निकली हैं। ये स्त्रियाँ पारंपरिक उद्योगों से निकली हुई नहीं हैं। दूसरे ये स्त्रियाँ असंगठित कामगार हैं। जबकि मंदी के कारण नौकरी से निकाली गई स्त्रियां यूनियन की संगठित सदस्याएँ हैं, तीसरे नई प्रौद्योगिकी अपने साथ नई समस्याओं को लाती हैं, जिनका सामना करने के लिए ये अराजनीतिक श्रमिक स्त्रियाँ रोज़गार की असुरक्षा के कारण प्रबंधन को चुनौती देने में असमर्थ होती हैं। बहुतेरी स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ, कंप्यूटर अर्मिनल पर घंटों बैठे रहने से कमर-पीठ, गर्दन में दर्द, आँखों की कमज़ोरी और स्थूलताजनित रोग आते हैं। इसके लिए कानून ने अलग से कोई प्रावधान नहीं रखा है।"

आँकड़े बताते हैं, कि सन 1975 के बाद भारतीय स्त्री की स्थिति में बहुत परिवर्तन हुआ है। स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए विभिन्न रिपोर्ट्स जैसे स्टेटस ऑफ वूमन इन इंडिया, नेशनल पर्सपेक्टिव प्लान, बलात्कार विरोधी कानून, स्त्री धन पर स्त्री का अधिकार, नेशनल कमीशन ऑफ वूमन इन इंडिया, कई महिला संगठनों का बनना, लेकिन इन सब आयोगों और संगठनों का लाभ जिस वर्ग को मिलता है, वह अधिकतर उच्च वर्ग और मध्यवर्ग से संबंधित स्त्रियां हैं। आम भारतीय स्त्री वह है जो घर का काम करती है, खेती करती है, मुर्गियां और पशु पालती है, मीलों दूर चलकर पानी और जलावन लाती है। इस श्रमशील स्त्री का कहीं कोई ज़िक्र नहीं है। भूमंडलीकरण और उदारीकरण की नीतियों से वह परिचित नहीं। उसके किए हुए श्रम को 'अनुत्पादक श्रम माना जाता है, जबकि एक सर्वेक्षण के अनुसार भारतीय स्त्रियों की घरेलू कामों में प्रतिभागिता से सकल राष्ट्रीय आय और बचत में इज़ाफ़ा होता है, यदि स्त्रियाँ घरेलू काम करना बंद दें तो भरतीय अर्थव्यवस्था चौपट हो जाएगी स्त्री की विकास में तो भगीदारी है परंतु उत्पादन के लाभांश से वह वंचित है। संचार तंत्र के लिए श्रमिक स्त्री की कोई उपयोगिता नहीं है, क्योंकि इस स्त्री के पास क्रयशक्ति का अभाव है, वह बाज़ार जा कर अपनी मनपसंद चीज़ खरीदने को स्वतंत्र नहीं है। इसलिए वह विज्ञापनों का लक्ष्य तो है, माध्यम नहीं। दूसरी तरफ, मध्यवर्गीय कामकाजी स्त्रियाँ हैं, जो पढ़ी-लिखी होने के साथ-साथ रोज़गार करती हैं, घर संभालती हैं और बच्चे पालती हैं। इसी स्त्री के लिए सूचना समाज विज्ञापन बलाताहै।

इस स्त्री की स्थिति 'श्रमिक स्त्री' से कहीं बेहतर है। टेलिविजन घर बैठे उसे सूचना प्रदान करता है। वह इंटरनेट के माध्यम से खरीदारी कर सकती है। एन. आर. एस. सर्वे के अनुसार इन दिनों लोखों की संख्या में स्त्रियाँ अखबार पढ़ रही हैं। टेलिवितन के विज्ञापनों ने स्त्रियों को घूंघट और पर्देसे बाहर निकालने में एक बड़ी भूमिका निभाई है। वे उसका ड्रेसकोड, बदल रहे हें जो स्त्री के विकास की अनिवार्य शर्त है। मार्क्स से लेकर अधुनातन स्त्रीवादियों का मानना है कि विकास की प्रक्रिया स्त्री के बिना संपूर्ण हो नहीं सकती। स्त्रियों को यदि विकास की प्रक्रिया में शामिल होना है तो उन्हें अपनी दलित-दमित छवि से मुक्ति पानी होगी।

भूमंडलीकरण, संचार तथा तकनीक के फैलाव से मनोरंजन ने उद्योग का रूप धारण कर लिया है। मनोरंजन उद्योग मे लगभग पच्चीस हजार करोड़ रुपए लगे हुए है और भारत में यह उद्योग प्रतिवर्ष दस से बीस प्रतिशत की गति से आगे बढ़ रहा है। इस उद्योग में समाज के प्रत्येक वर्ग की स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी है। फ़िल्मों में अभिनय करने के अलावा संगीत, निर्देयान, कैमरा, फ़िल्म पत्रकारिता जैसे क्षेत्रों में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ रही है। फ़िल्मों में नायक के आगे-पीछे घूमने वाले चरित्रों की अपेक्षा अब अपेक्षाकृत आत्मनिर्भर स्त्रियों का चित्रण किया जा रहा है। मनोरंजन और विज्ञापन उद्योग में केवल टेलिविजन के प्रवेश से इस मध्यवर्गीय स्त्री के जीवन में गंभीर बदलाव आए। 1990 के बाद इस मध्यवर्गीय घरेलू औरत का जीवन बदन गया। कई ऐसे चरित्र टेलिविजन सामने लेकर आया जो वकील, जासूस, उपभोक्ता और एकिटविट थीं। दर्शक के रूप में बैठी स्त्री के सामने एक नई दुनिया पेश करने का काम कई टेलिविजन चैनलों ने किया। धारावाहिकों में पेश की जो वाली आत्मनिर्भर स्त्रियां वे थीं, जिन्हें उद्योग-जगत ने बनाया था। इनके पीछे बलशाली कॉरपोरेट जगत उपस्थित था। ये स्त्रियाँ उद्योग का साध्य भी बनी और साधन भी । इस नए दौर की स्त्री की कुंठा को विज्ञापनों ने सिरे से समाप्त करने की दिशा में कदम बढ़या। इस दौर में तीन प्रकार के विज्ञापन बढ़ते दीखते हैं जो कामकाजी स्त्री और उसकी ज़रूरतो से संबद्ध थे। (क) स्त्रियों की नितांत निजी आवश्यकताओं से संबंधित विज्ञापन (ख) घरेलू सुविधाएँ और घरेलू उपकण फ्रिज़, मिक्सी, प्रेशर कुकर आदि के विज्ञापन (ग) परिवार नियोजन के फहड़ विज्ञापनों की जगह शालीन और सुसंस्कृत विज्ञापन। इस तरह टी.वी.विज्ञापन और मनोरंजन जगत ने स्त्री के पारंपरिक चेहरे की जगह विकसित स्त्री का नया चेहरा प्रस्तुत करने में सफलता पाई।

ये तो थी मध्यवर्गीय स्त्री की पहचान, लेकिन विकास की प्रक्रिया में श्रमशील स्त्रियों की सिथति ओर उनके विकास की स्थिति क्या है, इस पर विचार किया जाना ज़रूरी है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है यह श्रमशी स्त्री भारत समेत विश्व के लगभग सभी देशों की सफल राष्ट्रीय आय में इस श्रमिक स्त्री की स्थिति को जानने के लिए इस तथ्य पर ध्यान देना ज़रूरी है कि स्त्री हमेशा पितृसत्ता द्वारा निर्धारित वर्ग जाति और वर्ण के आधार पर पहचानी जाती है। प्राक्-औपनिवेशिक काल से ही स्त्री गुलाम रही है, भूमंडलीकरण और प्रौद्योगिकी के दौर में पुरुष की तुलना में उसकी हीनतर स्थिति आकस्मिक नहीं है। भूमंडलीकरण में पूंजीपति के लिए ऐसी स्त्री ज़्यादा लाभकारी होती है, जो गाँव-देहात से आई हो और दो वक्त के भोजन के

लिए अपरिमित सस्ता श्रम करने के लिए तैयार हो। इसके अतिरिक्त परिवार की ज़िम्मेदारियों से मुक्त एकाकी, परित्यक्ता, विधवा या कुंवारी स्त्री का श्रम प्रबंधन को ज़्यादा अनुकूल लगता है, क्योंकि निजीकरण के दौर में मातृत्व अवकाश, शिशु-पालन अवकाश देने का झंझट नहीं रहता। जहाँ मध्वर्गीय स्त्रियों का एक छोटा तबका प्रौद्योगिकी के इस युग में नित नूतन सुविधाओं से संतुष्ट-स्त्रियों के हैं, वहीं श्रमिक स्त्रियाँ विशेषकर असंगठित क्षेत्र की स्त्रियों के श्रम और शोषण के स्तर बहुआयामी हैं।

निजी क्षेत्रों में स्त्रियों की अधिकांश आबादी गैर-तकनीकी कार्यों में लगी हुई है। वे तकनीक को सीखने में बहुत कम रुचि दिखाती हैं। ऐसे में तकनीक सीख सकने वाले पुरुष उनकी जगह ले लेते हैं। ज्यों-ज्यों प्रौद्योगिकी विकसित होती जाती हे त्यों-त्यों स्त्री के सस्ते श्रम की आवश्यकता घटती जाती है, साथ ही निचेले स्तर पर कार्य करने वाली स्त्री का श्रम लचीला होता है, क्योंकि आमतौर पर स्त्रियाँ हिंसक नहीं होती, अधिकार डिनने पर नारेबाज़ी ज़रूर कर लें, परंतु प्रबंधन के साथ मारपीट करने, हिंसक होने, गगुटबंदी और दबाव की राजीति अपनाने से बचती हैं, वे अपेक्षाकृत कम भ्रष्टाचारी होती हैं। झमेले में पड़ने की अपेक्षा ये नौकरी बदलना ज़्यादा पसंद करती हैं। दुनिया के कुछ देशों-मसलन चीन में स्त्री और पुरुष श्रम में कोई भेद नहीं है। चीन के विकास के महत्तवपूर्ण कारकों में से एक स्त्रियों द्वारा किया जानेवाला श्रम है, क्योंकि नई प्रौद्योगिकी को सीखने में वहॉ की स्त्रियाँ हिचकिचाई नहीं। इसके अलावा सरकार ने भी स्त्री और पुरुष में भेदभाव रहित शिक्षा एवं अवसर भी नीति अपनाई। चीन में 'एक परिवार एक संतान' के कानून ने भी लैंगिक समानता में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसी तरह मलेशिया में भी स्त्रियों ने नई प्रौद्योगिकी को सीखने के प्रति रुचि दिखाई, लेकिन श्रीलंका में तकनीकी शिक्षा का स्तर निम्न होने की वजह से स्त्रियों के तकनीकी और प्रौद्योगिकीय ज्ञान के निम्न स्तर को देखा जा सकता है। जहाँ तक भारत का प्रश्न है यहां स्त्रियों के सामने दोहरी समस्या है- पहली समस्या तो यह है कि प्रौद्योगिकी और तकनीकी शिक्षा यहाँ महंगी है, दूसरे स्त्रियों को पुरुष सहकर्मियों के प्रतिरोध का सामनाभी करना पड़ता है। नर्सिंग प्रशिक्षण अध्यापकीय प्रशिक्षण् जैसे क्षेत्रों में यहां स्त्रियों की भागीदारी ज़्यादा है, क्योंकि इन क्षेत्रों को लड़कियों के लिए अपेक्षाकृत सुरक्षित समझा जाता है। परिवार में लैंगिक भेदभाव होने के कारण अक्सर मंहगी शिक्षा पाने का अवसर लड़कों को मिलता है। जो लड़कियाँ इंजिनियरिंग, प्रबंधन आदि की शिक्षा प्राप्त कर भी लेती हैं, अक्सर वे पारिवारिक व्यवस्था का अंग बनने के बाद उच्चशिक्षा के लिए नहीं जा पातीं या प्रबंध्कीय कौशलों, दूरस्थ ट्रेनिंग कैंपों और किसी अन्य प्रांत या विदेश में प्रतिक्षण कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए इच्छुक होकर भी नहीं जा पातीं।

विकास के इस दौर में एक और समस्या है- वह है श्रम की पहचान की समस्या। जब भी कोई स्त्री श्रम-रत होती है तो स्वभावत: वह श्रम की पहचान भी चाहती है, लेकिन पूंजी वादी सत्ता अपना नियंत्रण श्रम पर रखना चाहती है, ओर पुरूवर्चस्ववादी समूह प्रबंधन पर अपना नियंत्रण रखना चाहते हैं। ट्रेड-यूनियनों पर पुरुषों का कब्ज़ा रहता है, वहां स्त्री-श्रम की पहचान पिछड़ जाती है या अक्सर उपेक्षित कर दी जाती है। श्रमकी पहचान के लिए चीन की स्त्रियों ने लंबा संघर्ष किया। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ जब दूसरे देशों में अपनी

प्रशाखाएँ खोलती हैं, तो उनकी शर्त होती है, ऐसे श्रमिक को रोज़गार देना जो विनम्र, सहनशील और नई तकनीकों को सीखने को इच्छुक हो साथ ही अराजनीतिक हो। इसलिए मलेशिया और बांग्लादेश ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हित में, स्वयं राज्य ने बाज़ार के ऐजेंट की भूमिका निभाई। भारत में स्त्री श्रमिकों की दशा बदतर है, क्योंकि उन्हें राज्य की ओर से न के बराबर संरक्षण मिलता है। जहां तक ट्रेड- यूनियनों का प्रश्न है तो उनमें पितृसत्ताक दृष्टिकोण ही प्रभावी है- जो उसी समाज के दृष्टिकोण से परिचालित है जो स्त्री और पुरुष के विभाजन पर टिका है। हार्टमेंन का कहना है- "पूंजीवादी व्यवस्था में स्त्री कभी अपनी अधीनस्थ स्थिति से मुक्त नहीं हो सकती। धन चाहे कितना भी आ जाए पर वह औरत के लिए नहीं होगा। मालिक वर्ग कई कारणों से स्त्री-श्रमिकों को नहीं रखना चाहते।" शिक्षा के कारण भी स्त्री-और पुरुषों में भेद किया जाता है। जहां भी सूक्ष्म और सटीक काम की ज़रूरत पड़ती है- वहाँ स्त्रियों को रोज़गार दिया जाता है, लेकिन जब श्रमकी पहचान का प्रश्न आता है तब उन्हें कोई विशिष्ट पग़ार नहीं दी जाती। यूनियनों में भी पुरुष वर्चस्व के कारण स्त्री-हितों की बात अनसुनी रह जाती है। स्त्री के सस्ते श्रम से सकल राष्ट्रीय आय में चाहे जितनी बृद्धि हुई हो, स्त्रियों को अधिक सुविधा नहीं मिलती। कई स्त्रियाँ विवाह की आशा में, दहेज इक्ट्ठा करने के उद्धेय से निरंतर श्रम करती हैं। ठीक-ठाक आर्थिक स्थिति होते ही वे कई बार नौकरियॉं छोड़ भी देती हैं- विवाह के बाद सिर्फ आर्थिक कठिनाई ही उनके रोज़गार के पीछे प्रेरणा स्रोत का कार्य करती है, दूसरे पुरुष सहयोगियों के सामने विनम्र बने रहकर कार्य करना उनकी विवशता होती है, साथ ही वे ओवर टाइम और रात की पालियों में काम करने से बचती हँ, इसलिए भी उनके श्रम की पहचान की उपेक्षा कर दी जाती है। स्त्री के श्रम की उपेक्षा करना वस्तुत: पितृसत्तात्मक मानसिकता का प्रतिफलन है। स्त्री का स्वतंत्र कैरियर आर्थिक आत्मनिर्भरता उसे निर्णयकारी भूमिका प्रदान करती है। स्त्री की आर्थिक निर्भरता पितृसत्तात्मक व्यवस्था के हितों की पूर्ति करती है। यहाँ पर हमें पितृसत्ता और उसके स्त्री संबंधी दृष्टिकोण का विश्लेषण उचित प्रतीत होता है।

पितृसत्ता- शोषक और शोषित, मालिक और गुलाम, स्वामी और सेवक की अवधारणा पर आधारित है। सत्ता चलाने के लिए व्यवस्था की अर्थात मालिक ओर गुलाम दोनों की आवश्यकता है। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती । सत्ता की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए शोषक की उँची हैसियत और शोषित की निम्म हैसियत का होना अनिवार्य है। सत्ता अपने आंतिरक स्वरूप में हीन और कमज़ोर व्यक्ति, जाति, अथवा वर्ग को शासन प्रक्रिया द्वारा शोषित करती है, ताकि सत्ता बनी रहे अर्थात यदि किसी को हीन और विवश न बनाकर उसे सबल बनाया जानेलगे तो सत्ता चरमराने लगती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री और पुरुष दोनों श्रम करते हैं- जिस श्रम से उत्पादन होता है। यह उत्पादन सार्वजनिक और घरेलू दोनों स्तरों पर होता है, लेकिन पितृसत्ता में पुरूष्-वर्चस्व होने के कारण पुरुष के श्रम को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया जाता है। पुरुष सत्ता विशिष्ट उत्पादन पद्धति को अपनाती है, वह छिटपुट और अमहत्वपूर्ण कार्यों, अनिर्णयकारी कार्यों को स्त्री के खाते में डाल देती है। स्त्रियॉं भी विभिन्न सामाजिक,

मनोवैज्ञानिक, शारीरिक कारणों से बहुत कम क्षेत्रों में ही परिवार और बच्चों के लालन-पालन का समूचा दायित्व कई बार इन्हें उच्च तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने और प्रबंधन कौशल के प्रदर्शन में बाधा डालता है। इसलिए चौबीसों घंटे कार्यरत स्त्री चाहे वह कारखाने, उद्योग या किसी संस्थान में हो अथवा घरेलू श्रम में- द्वितीय श्रेणी की श्रमिक बनकर ही रह जाती है। यदि समाज उनके श्रम का मूल्यांकन करता भी है तो पुरुष-दृष्टि से। ऐतिहासिक दृष्टि से पितृसत्ता अपने को आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से ज़्यादा मज़बूत बनाने के लिए प्रयास करती आई है, उसने स्त्री जीवन के विभिन्न पक्षों पर अपना नियंत्रण बनाए रखने के यथा संभव प्रयास किए थे प्रयास प्रयास किए थे। इस पृथक जीवन-मूल्यों के निर्माण और प्रचलन में भी देखे जा सकते हें। स्त्रियों को हमेशा से ऐसी शिक्षा दी गई, जिससे वह स्वयं को पुरुषों की गुलामी के लिए तैयार कर सकें।

स्त्री के दमन और शोषण के लिए पितृसत्ता के व्यवस्था कृतसंकल्प रही है आरै यह सिर्फ ऐतिहासिक घटना नहीं है, बल्कि वर्तमान में भी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्त्रियों को स्थिति के बारे में जाएजा लेने के लिए एमनेस्टी इंटरनेशनल की उस रिपोर्ट को देखा जाना चाहिए जो सन 1995 में बीजिंग के अंतरराष्ट्रीय स्त्री सम्मेलन के अवसर पर प्रस्तुत की गई। इस रिपोर्ट में स्त्री अधिकारों के लिए संघर्षरत स्त्रियों के अनुभावों का ज़िक्र किया गया और 'ह्यूमनराइट्स आर वीमेन्स् राइट्स' शीर्षक पुस्तक का वितरण किया गया, जिससें 15 सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया-

(1) स्त्रियों के मानव अधिकारों को सर्वव्यापक और अविभाज्य माना जाए

(2) मानव अधिकारों के सभी अंतरराष्ट्रीय करारों की पुष्टि की जाए तथा उन्हें लागू किया जाए

(3) स्त्रियों को मानव अधिकारों से वंचित करने के भेदभाव को दूर किया जाए

(4) सशस्त्र संघष्ज्ञ के दौरान स्त्रियों के मानव अधिकारों को सुरक्षित किया जाए

(5) सरकारी तंत्र के हाथों स्त्रियों के बलात्कार तथा अन्य उत्पीड़न को बंद किया जाए।

(6) सरकारी तंत्र द्वारा गैर न्यायिक हत्याओं अथवा लापता करने वाली घटनाओं को रोका जाए तथा पीड़ितों को मुआवज़ा दिया जाए।

(7) पारिवारिक संबंधों के कारण स्त्रियों का उत्पीड़न बंद हो।

(8) हिरासत में रखी स्त्रियों के स्वास्थ्य-अधिकारों की रक्षा हो।

(9) राजनैतिक बंदियों को तत्काल और बिना शर्त रिहा किया जा।

(10) सभी राजनैतिक बंदियों के मामलों की शीघ्र और निष्पक्ष सुनवाई हो।

(11) शरणार्थीयों और विस्थापित स्त्रियों के मानव अधिकारों के उल्लंघन को रोका जाए।

(12) मृत्यु दंड को खत्म किया जाए।

(13) सरकारी और गैरसरकारी संगठनों द्वारा स्त्रियों के अधिकारों के क्षेत्र में किए जा रहे कामों को समर्थन दिया जाए।

(14) शिक्षा और प्रशिक्षण कार्यक्रमों के माध्यम से स्त्रियों के अधिकारों को मानव अधिकार मानने के विचार को बढ़ावा दिया जाए।

(15) सशस्त्र राजनैतिक दल भी स्त्रियों के मनव अधिकारों की मर्यादा का पालन करें।

जून 1994 के जकार्ता सम्मेलन में भी स्त्रियों के प्रति होने वाले अत्याचारों के विरूद्ध आवाज़ उठाई गई थी और सभी देशों से आग्रह किया गया था कि वे अपने देश, समाज की परंपरा, सांस्कृतिक मूल्यों और आर्थिक, राजनैतिक स्थितियों के अनुरूप स्त्रियों के हित में अपनी नीतियाँ बनाएं। इसके मूल में इतिहास के विभिन्न मोड़ों पर हुए युद्धों में स्त्रियों के उत्पीड़न और अत्याचार की स्मृतियाँ थीं। विश्वयुद्धों में जर्मनी और रूस की सेनाओं ने हज़ारों स्त्रियों को बलात्कार का शिकार बनाया था। बोस्निया-हर्जेगोविना और खाण्डा के युद्धों में भी यह प्रक्रिया जारी रही । यूरोपियनों द्वारा अमेरिका की तथा कथित विजय ओर स्कॉटलैंड के विरूद्ध इंग्लैंड के विजय अभियान में भी स्त्रियों पर भयानक अत्याचार हुए। प्रथम विश्वयुद्ध में नागरिक आबादी की क्षति 5 प्रतिशत थी जो द्वितीय विश्वयुद्ध तक 50 प्रतिशत हो गई और 1990 के दशक में 80 प्रतिशत। इनमें से अधिकांश संख्या स्त्रियों और बच्चों की थी। मुज़ाहिदीन कट्टरपंथियों ने कट्टर इस्लामी मूल्य थोपने के लिए शिक्षित और कामकाजी स्त्रियों को विभिन्न अत्याचारों का शिकार बनाया। सिर्फ अफ़गानिस्तान से 1994 के पहले तीन महीनों में लगभग पाँच लाख लोग बाहर भागे, जिनमें अधिकांशत: कामकाजी स्त्रियां थीं। तज़ाकिस्तान के गृहयुद्ध में छह लाख लोग बेघर हुए, जिनमें अधिकांश संख्या स्त्रियों और बच्चों की थी।

इस नव उपनिवेशी दौर में, जबकि नए राष्ट्र राज्यों का उदय हो रहा है, स्त्री के शोषण और दमन के औजार के रूप में संस्कृतिको इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के अंतर्गत स्थायी रूप से हीन भावना से ग्रस्त स्त्री का विकास किया जाता है, जो एक ओर उत्पादन में भागीदारी करे और दूसरी ओर मानसिक रूप से पितृसत्ता के पक्ष में अनुकूलित रहे, ताकि वर्तमान शासन पद्धति जिसके पास मानवीय स्थितियों, जाति, वर्ग अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा आम आदमी के क्रिया कलापों के प्रति सादियों पुराना रवैया है, जिसके बारे में कभी फैनन ने 'रेचेड ऑफ अर्थ' में कहा था- 'यह वही इज़ोरदार पूंजीवादी बुर्जुआ है जो नवउपनिवेधवाद के अधीन साम्राज्यवाद द्वारा विश्व की अर्थिक और राजनीतिक घेराबंदी करने के अभिन्न अंग के रूप में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को बनाए रखने का प्रचारक बन जाता है''- की गुलामी के लिए प्रस्तुत रहे।

3.3.6. स्त्री और वैकल्पिक विकास

भूमंडलीकरण का दावा है कि उसने स्त्रियों की चहुँमुखी विकास की ओर उन्मुख किया है। निश्चित तौर पर बाज़ार के बढ़ते प्रसार ने स्त्री के लिए पहले की अपेक्षा रोज़गार के अनेकानेक अवसर मुहरय्या करवाए हैं। लेकिन यदि स्त्री दृष्टि से इस विकास का विश्लेषण किया जाए तो हमें निम्ननिखित बिंदुओं पर

विचार करना होगा, जिसमें सबसे पहला बात ता यह है कि क्या बाज़ार और भूमंडलीकृत व्यवस्था स्त्री को पहले से ज़्यादा ताकतवर बनाती है या नहीं। आर्थिक विकास के अवसर क्या स्त्री को अनिवार्यत: स्वायत्ता प्रदान करते हैं? क्या स्त्री को जीवन के अन्य क्षेत्रों में स्त्री होने की वजह से सुविधा मिलती है? विकास की प्रक्रिया में, जहाँ तक फाक्टरी मालिकों और व्यवस्थापकों की भूमिका का प्रश्न है, वे चाहते हैं कि कामगारों में आपसी भेदभाव बना रहे, वे समान श्रम के लिए समान पारिश्रमिक या वेतन नहीं देना चाहते। छोटे और बड़े फैक्ट्री मालिक स्त्रियों को सस्ते और झंझट रहित उपलब्ध श्रम के रूप में देखते हैं। स्त्रियाँ यूनियन और संगठन के पचडों में नहीं पड़ा चाहती, इसलिए वे मैनेजमेंट के लिए 'आसान श्रमिक' बनती हैं। श्रमिक आंदोलनों का नेतृत्व अधिकांशत: पुरुषों के हाथ में ही होता है। इसलिए श्रमिक आंदोलनों और नेतृत्व की सोच स्वभावत: पितृसत्तात्मक (पुरुषवर्चस्ववादी) होती है, ऐसा देखा गया है। ऐसे में, भूमंडलीकरण के इस दौर में भी स्त्री-श्रम का दोहन होता है, कहीं-कहीं विभिन्न मनोसामाजिक कारणों से स्त्रियां स्वयं भी आगे नहं आना चाहतीं। हार्टमैनने पूंजीवादी व्यवस्था में स्त्री के शोषण पर टिप्पणी करते हुए लिखा है-"पूंजीवादी व्यवस्था में स्त्री कभी अपनी अधीनस्थ स्थिति से मुक्त नहीं होगा। मालिक वर्ग कई कारणों से स्त्री श्रमिकों को नहीं रखना चाहते।" श्रम के क्षेत्र में शिक्षा के कारण स्त्री और पुरुष में भेद किया जाता है। ऐसे कई क्षेत्र जहां खासतौर पर स्त्री-श्रमिकों की ही माँग रहती है जैसे 'कॉल-सेंटर' या रिसेप्शनिस्ट, एयर होस्टेस आदि की नौकरियॉ इन क्षेत्रों में भी स्त्रियों को समुचित वेतन नहीं दिया जाता, क्योंकि भूमंडलीकरण के इस दौर में आपसी प्रतिस्पर्धा बढ़ी है। ऐसे में महंगा श्रम लागत को बढ़ाता है, जिससे बचने का उपाय है स्त्रियों से सस्ती दर पर श्रम खरीदना।

इस परिस्थिति में हमारे सामने प्रश्न उठता है कि इय स्थिति का विकाल्प क्या है? इन दिनों ग्रामीण (केवल कुछ राज्यों में, मसलन आंध्र प्रदेश, केरल, तमिलनाडु, पंजाब) और शहरी मध्यवर्ग में एक आम राय बनती जा रही है कि स्त्रियों के लिए स्वतंत्र केरियर होना पूरे परिवार की आर्थिक स्थिति को दृढ़ बनाने की दिशा में कारगर हो सकता है। इसलिए माता-पिता अपने खर्च से, स्वयंसेवी संस्थाओं ओर सरकार के कुछ प्रयासों से अपनी पुत्तियों की शिक्षा-दीक्षा पर पहले की अपक्षा कई गुना अधिक ध्यान दे रहे हैं। इसके दो परिणाम हो रहे हैं:-

(1) पितृस्त्तात्मक भाव-भूमि कमज़ोर पड़ रही है।

(2) स्त्री का अपने श्रम पर नियंत्रण प्रकारांतर से स्वावलंबन बढ़ रहा है।

इनमें से सबसे पहले हम पितृसत्तात्मक भावभूमि के कमज़ोर होने को वैकल्पिक विकास से जोड़कर देखें तो पता चलता है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी कोई संस्था संगठित रूप में पितृसत्ता को चुनौती नहीं देना चाहती। नौकरशाही, प्रशासन, राजनेता, श्रमिक, यूनियन के कार्यकर्ता और पार्टी के सदस्य-पितृसत्तात्मक व्यवस्था कदम-कदम पर इनके स्वार्थों के अनुकूल पड़ती है, ऐसे में मानवधिकार को लेकर बोलने वाले लोग कम हैं और उनकी आवाज़ नक्कारखाने में तूती की आवाज़ बनकर रह जाती है। कई बार स्त्रियाँ सव्यं भी

पितृसत्ता के एजेंट के रूप में कार्य करने लगती हैं। इसलिए समाज में पुत्र जन्म के अवसर पर प्रसन्नता, दहेज-प्रथा, भ्रूण हत्या जैसी बातें सहज सामान्य हैं, जिनको लेकर कहीं भी किसी को भी कोई आश्चर्य नहीं होता। जहां तक राजनीति का सवाल है, उसमें सबको अपनी-अपनी पड़ी है, किसी भी दल को स्पस्ट बहुमत नहीं मिल पाता। ऐसे में गठाजोड़ की सरकारें केंद्र में आती हैं, केंद्र के लिए कठोर फैसले लेना अब पहले की तरह आसान नहीं, क्योंकि सभी दल अपनी राजनीति में लगे रहते हैं। ऐसे में किन्हीं मुद्दो पर ठिक कर बात करना या कुछ मूल्यों के लिए अड़िग रहना उन्हें कई बार विशेष रूप से लाभ कर नहीं लगता। भूमंडलीकरण के व्यापक प्रभाव के कारण सरकार के पास पहले जैसे अधिकार भी नहीं रहे। ऐसी स्थिति में स्त्रियों को अपने विकास के वैकल्पिक कार्यक्रम स्वयं तय करने होंगे, क्योंकि स्त्रियों के हितों के प्रति सरोकार राज्य के लिए लाभ का विषय नहीं हैं, इसलिए ये सरोकार कमज़ोर पड़ते जा रहे हैं। विकास की तमाम योजनाएँ कागज़ पर बनती-बिगड़ती है, व्यावहारिक रूप मं उनका लाभा किसी-किस स्त्री को ही मिल पाता है, अधिकांश स्त्रियाँ विकास की योजनाओं से अपरिचित रह जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में स्त्री-हित समूहों का संगठनात्मक एवं आंदोलनात्मक रूप ही वैकल्पिक विकास की भूमिका, प्रस्तावित करने स्त्री हितों की रक्षा करने में सक्षम हो सकता है। स्त्री को अपने उपर संदेह नहीं, बल्कि आत्मविश्वास करना होगा, इसके लिए स्त्रियों को राजनीतिक प्रक्रिया में रुचि लेनी होगी, जहां संभव हो सक्रिय भागीदारी भी करनी होगी। नए दौर में स्त्रीवादी आंदोलन को अमानवीय विकास का विरोध करना होगा। प्रगति के नाम पर विकास की उचित-अनुचित चालों को, पूंजीवादी हथकंडों को समझना-बूझना होगा, उचित-अनुचित का विवेकसम्मत निर्णय करना होगा। कई बार स्त्रियाँ पुरुषसत्ताक व्यवस्था के हथकंडों को समझ नहीं पतीं, चाहे वह कार्यस्थल हो या निजी जीवन वे पुरुष को अपना जीवन सुचारू रूप से चलाने के लिए अनिवार्य मानती हैं। कभी प्रेम तो कभी परूष 'बॉस' की मातहती उन्हें इतनी रास लाने लगती है कि वे कार्यस्थल या निजी जीवन के निर्णयों का पुरुषों के हवालेकर देती हैं और स्वयं कर्तव्यशील दासियाँ बन जाती हैं। सीमोन द बोउवार ने 'द सेकेंड सेक्स' में कहा है कि स्त्री और पुरुष दो स्वतंत्र सत्ताएँ होतीं है, दोनों का अंबंध तभी स्वस्थ रूप में चल सकता है, जब वह पारस्परिक ये दोनों में से कोई एक साथ अपनी-अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके सर्वोपरिता की ओर उन्मुख हों। इसके साथ ही स्त्री पुरुष की मुखापेक्षी न रहकर यदि बिना पुरुष को अपकरण बनाए अपने उद्देश्यों, अपनी परियोजनओं की पूर्ति की दिया में निरंतर प्रयत्नशील रहे तो वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफल हो सकती हैं। "पुरुष अपने अस्तित्व की सीमाओं के अतिक्रमण की क्षमता से सर्वोपरिता की ओर अग्रसर होने के कारण जिस पूर्णता का बोध हासिल करलता है, वह स्त्री के लिए संभ्ज्ञव नहीं, क्यों कि स्त्री को स्वयं को ना की वस्तु बनाए रखना पड़ता है। अत: उसकी चेतना में घटित द्वंद्व हमारी बहस का केंद्रीय विष्य हे। आज की स्त्रीपारंपरिक नारी की भूमिका में स्वयं को पंगु नहीं बना देना चाहती, किंतु इससे बाहर जाते ही उसे अपने नारीत्व का उल्लंघन करना पड़ता है। स्त्री भी पुरुष बराबर अपनी पहचान नारीत्व को बनाए रखकर ही हासिल कर सकती है। व्यस्त जिंदगी शुरू करने वालीस्त्री को पुरुष की भाँति सफलता की कोई परंपरा नहीं

मिलती, समाज उसे नए अध्यवसायी पुरुषों के बराबर महत्व नहीं देता। उसके साथ यह दुनिया एक नए परिप्रेक्ष्य में पेश आती हे। एक स्वतंत्र मानव व्यक्ति की हैसियत से स्त्री होना आज भी विलक्षण समस्याओं से भरा हुआ है।" (पृष्ट 315, द सेकेंड सेक्स, अनुवाद: प्रभा खेतान, सं.1998 हिंद पॉकेट बुक्स) इसी संदर्भ में वे आगे लिखती हैं। "यदि स्त्री और पुरुष एक दूसरे को बराबर का साथी समझें, थोड़ा विनय और आदार्य रखें और वे अहमन्यताजनित हार-जीत की प्रवृत्ति का उन्मूलन कर सकें, तो पर-पीड़न या आत्म-पीड़न की प्रवृत्तियों से छुटकारा पा सकते हैं।" (वही पृ.-326)

जॉन सतुअर्ट मिल ने 'द सब्जेकशन ऑफ विमेन' में कहा था कि स्त्रियों और पुरुषों के बीचजो विषमताएँ हैं वे जीवशास्त्रीय हैं,पर दोनों की बौद्धिक और नैतिक समताएँ बराबार हैं-आगे चलकर उन्होंने कहा कि स्त्री और पुरुष कर मानसिक और स्वभावगत जो विशेषताएँ हैं- वे साझे की होनी चाहिएं पुरुषों में स्त्रियोचित और स्त्रियों में पुरूषोचित गुणों का भी समावेश हो तो व्यक्तित्व आदर्श बनता है और ऐसा न भी तब भी हो, तब भी स्त्रियों को व्यक्तित्व के समुचित विकास के अवसर दिए जाने चाहिए।

जेम्स स्टर्बा ने फ़ेमिनिस्ट जस्टिस एंड फैमिली (261-70) में कहा है कि जब तक स्त्री-पुरुष को विकास के समान अवसर नहीं मिलतेतब तक जान स्टुअर्ट मिल द्वारा प्रस्तुत आदर्श व्यक्तित्व की कल्पना साकार नहीं हो सकती। जेम्स स्टर्बा स्त्री के विकास के कुछ रास्ते सुझाते हैं, मसलन फैक्टरी, दफ्तर, दुकान आदि पर जो स्त्रियां कार्यरत होती हैं, उनके काम के घंटे लचीले होने चाहिएं, ताकि माँ बाप बारी-बारी से बेबी सिटिंग कर सकें ऐसा न हो कि बच्चे की सारी देखभाल सारी माँ के ज़िम्मे हो। स्टैलनी, ग्लोरिया स्टीनेम, सूसन ऐथेनी, लूसीस्टोन, एलिज़ाबेथ हूकर, एलिज़ाबेथ केडी स्टैटन आदि ने स्त्रियों को संपत्ति तथा राजनीतिक समानता के लिए संघर्ष में अति महत्वपूर्ण बौद्धिक भूमिका अदा की और सरकारों को यह समझाने में सफलता पाई कि समाज में किसी भी वर्ग के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा, संपत्ति और मताधिकार का होना ज़रूरी है, जिसके अभाव में न सिर्फ अभाव ग्रस्त वर्ग विशेष, बल्कि समूचे समाज एवं राष्ट्र के विकासकी अवधारणा खंडित हो जाती है। ऐसी ही स्थिति में ही कोई वर्ग विशेष विद्रोह पर उजारू हो जाता है। शिक्षा एवं विकास के समान अवसरों का अभाव समाज में स्त्री पुरुष विद्वेष के रूप में उभरता देखा गया है। जर्मेन ग्रीयर ने इस संदर्भ में एक बहुत महत्वपूर्ण बात कही है कि 'अगर स्त्रियाँ यह सोचो पाएं कि संस्कृति उनके उसमें पूरी तरह से जुटने पर ही परिपक्व होगी तब शायद वे परिवर्तन और नए विकास की संभावना को लेकर ज़्यादा आशावान हों...।" (बधिया स्त्री; जर्मेन ग्रीयर, पृ.19 अनुवाद मधु बी. जोशी, राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण-2005)

स्त्री के विकास के लिए अनिवार्य तत्वों के रूप में स्वयं स्त्री के व्यक्तित्व में कुछ परिवत्रनों और सुधारों की भूमिका को पहचाना जाना ज़रूरी है। मादा-द-स्ताल 'सामाजिक संस्थाओं से साहित्य के संबंध पर विचार' (1800 ई.) पुस्तक में समाज में स्त्री की स्थिति पर साहित्य के संदर्भों में विचार किया और कहा कि 'आखिर प्रेम करने की क्षमता के अतिरिक्त' स्त्रियों को जीवन के बारे में कोई जानकारी नही होती।' स्त्रियों के

विकास में प्रेम का अधिक्य ही उनके विकास की राह में बाधक बनता है। जर्मेन ग्रीयर का मानना है कि हद तक पहुँच गए मामलों में यह परपीड़न, तुनकमिज़ाजी और अपराध बोध से पैदा हुई घृणा और जुगुप्सा का रूप ले लेता है और स्त्रियों के शारीरिक शोषण का कारण बनता है।

विकास के नाम पर विद्रोह या पुरुष द्वेष की भूमिका में उतरी स्त्रियाँ कभी-कभी स्वयं भी शोषक की भूमिका जाने-अनजाने ग्रहण कर लेती हैं। हालांकि स्त्रियों पर होने वाली घरेलू हिंसा की तुलना में पुरुषों पर होने वाली घरेलू/सांस्थानिक हिंसा के प्रमाण बहुत आसानी से नहीं मिलते, फिर भी व्यावहारिक जगत में स्त्रियाँ विद्वेष की कार्रवाई करती देखी जा सकती हैं। अक्सर इसमें विकास और समान अवसर के प्रमुख बिंदुओं की जगह व्यक्तिगत राग-द्वेष, बदले की कर्रवाई ही प्रमुख हो जाती है और समाज का पुरुषवर्ग बनाम स्त्री की लड़ाई की सतह पर दीख पड़ती है।

3.3.7. वैकल्पिक विकास – मनोवेज्ञानिक आधार

स्त्री के समुचित विकास को मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी विश्लेषित करके योजनाबद्ध ढंग से उसके विभिन्न पहलुओं पर ध्यान दिया जाना, चाहिए जिनमें से सबसे प्रमुख है-

(1) उर्जा का पुनर्विस्तार- स्त्रियों को सवयं का मने विज्ञान भली-भाँति समझाना चाहिए तथा गति और सृजन के निए अपनी उर्जा का उपयोग करन चाहिए। इस कार्य में शिक्षण-संस्थाएँ, एन.जी.ओ. तथा मनोविश्लेषक स्त्रियों की सहायता कर सकते हैं। राज्य का कल्याणकारी स्वरूप स्त्रियों के भीतर की उर्जा के मूल स्रोत को पहचान कर उसके आक्रामक रूप को रचनात्मकता में तब्दील करने में मददगार साबित हो सकता है।

(2) स्त्रियों की दृष्टि में परिवर्तन यह परिवर्तन सकारात्मक दृष्टिकोण का दिशानिर्देशक हो सकता है, जब स्त्रियाँ इतरलिंगियों को शोषक और दब्रेग व्यक्त्विों के रूप में न देखें और न स्वयं शोषित हों और ने शोषण करें। स्त्रियां स्वयं को कामल, सौम्य, प्रभाविष्णु लोगों के बीच संवाद के लायक बनाएँ।

(3) स्त्रियों को मानसिक गुलामी से मुक्ति पानी हेागी, तभी वे सव्रसत्तावान प्रशासक की आत्मवंचना का अनुमोदन करने से स्वयं को रोक पाएंगी।

(4) स्त्रियों को आत्मनिर्भरता की दिशा में प्रयास करना चाहिए और विशिष्ट निर्भरताओं और उनमाद ग्रस्त व्यवहारों से बचना चाहिए।

(5) स्त्रियों को अपनी ज़िम्मेदारी स्वयं लना आना चाहिए। अपनी खुद की नैतिक समझदारी का त्याग, परनिर्भरता, मानवता के विरूद्ध अपराधों को झेलना अपने निर्णयों को दूसरों पर छोड़ देना, गैरज़िम्मेदारी के लक्षण हैं।

(6) स्त्रियों को एक सार्वभौमिक भगिनी भाव से आपस में संबंद्ध होकर छदम मित्र का वेश धरे शत्रुओं को पहचानना आना चाहिए। सत्ताधारी, मतांध, स्त्री का उपयोग करने वाल उसे उपभोगकी 'वस्तु'मात्र

समझने वाले लोगों के निहित स्वार्थे को स्पष्ट समझना ज़रूरी है। यह तभी संभव है जब वह निरंतर शिक्षा और संवाद की दिशा में ग्रसर हो।

(7) स्त्री को अपने हितों के पक्ष्ज्ञ में अपने भीतर जड़े जमाए बैठे पितृसत्ताक पुरुष वर्चस्ववादी मानसिक अनुकूलन से संघर्ष करना चाहिए, लेकिन यह संघर्ष आनंदप्रद होना चाहिए, तभी उसकी सही उपयोगिता है। संघर्ष का आनंद आमोद-प्रमोद और सुखवाद में नहीं बल्कि उद्देश्य, उपलब्धि और सम्मान की भावना में है। यही उपलब्धि का संतोष उसके विकास के मार्ग को प्रशस्त करेगा इस मार्ग में स्त्रियों से गलतियाँ भी होगी, लेकिन उन गलतियों का सुधार कर अपनी उर्जा को सकारात्मक दिशा देना भी संघर्ष का ही एक रूप है।

(8) स्त्री को अपनी मुक्ति का रवाक़ा स्वयं तैयार करना होगा। उससे एक ऐसी प्रति तैयार करने की अपेक्षा की जाती है जो उसकी अपनी स्वतंत्रता और मौलिकता को प्रतिबिंबित करे वह जितनी शिक्षित ओर समझदार होगी, उतना ही वह दूसरों के अनुभवों से सीख लेकर विकास के मार्ग में बाधक, मानसिक शारीरिक, भौतिक, सामाजिक, राजनैतिक दमन के रूपों को ठीक ढंग से समझ ओर विश्लेषित कर पाएंगी।

(9) स्त्रीयों का अवसादग्रस्त, हीनता-ग्रंथि से संत्रस्त होना अर्थतंत्र पर पुरुष वर्चस्व के पक्ष में जाता है। निरंतर संवाद और अपने श्रम की सही मूल्यवत्ता को पहचानना, अपने श्रम कह उचित कीमत न पाने पर श्रम के वाजारीकरण से खुद को अलग कर के, वैकल्पिक रास्तों की खोज का संघर्ष ओर अपनी वास्तविका कार्यक्षमता ओर उपयोगिता से समाज और पूंजीपितयों को परिचित कराने के लिए सही रणनीति और आत्मविश्वास स्त्री के पक्ष में है।

(10) स्त्रियों में सदियों से भर दिए गए दासभाव के कारण अक्सर वैज्ञानिक और तार्किक क्षमताएं कम होती हैं, क्योंकि वे अपी उर्जा को जिज्ञासा शांत करने में न लगाकर अनुशासन बनए रखने जेसे अर्थहीन अध्यवसा यों में नष्ट कर देती है। जर्मेन ग्रीयर का कहना है कि "विश्वविद्यालय तक पहुँचने वाली मुट्ठी-भर लड़कियाँ भी अक्सर बिना उसका असली उद्देश्य जाने स्कूल की अपनी अध्यापिकाओं के मार्गदर्शन और दबाव की प्रगतिक्रिया में वहाँ पहुँची होती हैं। अब भी उनकी रुचि अपनी क्षमताओं को विकसित करने में नहीं होती। ज़्यादा से ज़्यादा अंकों और अध्यापन के सिंड्रेला पेशे में जा पाने लायक अर्हता जुटाने की आशा ही रिती हैं। इस प्रतिमान का पालन करके पाया गया संतोष बहुत सीमित होता है। इसलिए यह देखकर हमें आश्र्ख्य नहीं होता कि कई स्त्रियाँ अपने व्यावसायिक जीवन को भी वक्त गुज़ारने के साधन को विवाह के लिए एक अप्रत्यक्ष अर्हताकेरूप में देखती हैं।" (बधिया स्त्री; जर्मेन ग्रीयर, अनु. मधु बी. जोशी, पृ. 65, राजकमल प्रकाशन द्वितीय सं. 2005)

(11) समाज में उत्पादक कार्यों में स्त्रियों की दोयम दर्जे की भूमिका के पीछे मनोसामाजिक कारणों को देखा जाना चाहिए। जूलिएट मिशेल ने 'विमेन-द लांगेस्ट रिवॉल्यूशन में इसे विस्तार से व्याख्यायित किया है।

औद्योगिकीकरण में उतपादन कार्य में स्त्रियों को दास और सस्ते श्रम के रूप में देखा जाता है उसे 'स्त्री प्रजनन की उत्पादन है' ऐसा समझा दिया जाता है। संतान को केवल स्त्री की ज़िम्मेदारी से जोड़कर देखने के कारण भी स्त्री की भूमिका दोयम दर्जे की मानली जाती है।

(12) विकास में स्त्री की भूमिका को पुनर्पारिभाषित करना जरूरी है और इसके लिए कुछ बड़े परिवर्तन लाए जाने अनिवार्य हैं। उत्पादन, प्रजनन, लैंगिकता और विकास के ढाँचे की पुनर्रचना ज़रूरी है।

(13) स्त्रियों से यह अपेक्षा क जाती है कि वे पुरुषों के साथ अपने संबंधों की पुनर्रचना करें। घर के भीतर के असमानतावादी संबंधों से ही सब प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। समाज के सार्वभौमिक विकास के लिए स्त्रियों को अपनी मानसिक गुलामी की प्रवृत्ति से मुक्त होने का प्रयास करना ज़रूरी है।

(14) स्त्रियों को अपने अनुभव आपस में बाँटने चाहिए। वर्चस्ववादी राजनीति को समझना और बयान करना जाना चाहिए, ताकि नका प्रसार व्यापक तौर पर किया ज सके।

(15) कैरॅल थामस ने अश्वेत स्त्रियों के घोषणा पत्र 'टुवर्ड्सए विमेन्स लिबरेशन मूक्मेन्ट' में ऐसे समुदायों के मानसिक प्रारूप तैयार करने पर बल दिया, जिनमें स्त्रियाँ अपने बोझों से मुक्त होकर मानवता को अनुभव करने का अंतराल पा सकें।

(16) भविष्य के विकास के कार्यक्रमों के लिए यह ज़रूरी है कि स्त्रियाँ अपना इजिहास जानें। यह कार्य तभी संभव है, जब स्त्री साहित्य (स्त्रियों द्वारा लिखा गया साहित्य) और स्त्रीवादी साहित्य कि स्त्रियों और पुरुषों द्वारा (स्त्रियों के बारे में लिखा गया- बड़े पैमाने पर लिखा जाए और बाज़ार में वह सस्ते दामों में उपलब्ध हो।

(17) समान कार्य के लिए समान बेतन के सिद्धांत पर टिके रहना और मानसिक यप से उसके निए संघर्ष के लिए प्रस्तुत रहना स्त्रियों के विकास के लिए ज़रूरी है।

(18) स्त्रियों को श्रम-कानूनों गर्भपात, मातृत्व, विवाह, अत्तराधिकार संबंधी कानूनों का ज्ञान अच्छी तरह होता चाहिए, तभी वे विकास की प्रक्रिया में अपने कर्तव्यों ओर अधिकारों को समझ पा सकती हैं।

(19) स्त्री विकास के में गतिरोधक तत्वों को रेखांकित करते हुए बीवर्ली जोन्स ओर तूडिथ ब्राउन ने टुवर्ड ए फीमेल लिबरेशन मूवमेंट में कहा- "हम एक विजित जाति हैं। हमें एक स्त्री-आंदोलन विकसित करने की ज़रूरत है। इसकी बहुत ही जरूरत इसलिए है, क्योंकि हमें इस सामाजिक व्यवस्था से अपनी तमाम क्षमता के साथ लड़ना है। और हमें मुक्त होना चाहिए, ताकि हम अपने अलग-अलग घरेलू नैराश्य से, आधा की हर किरण के मरने के खिलाफ सामाजिक क्षोभ व्यक्त करने की ओर जा सकें।

(20) स्त्री के विकास और मुक्ति का संबंध अन्योन्याश्रित है1 विवाहित स्त्री के लिए आवश्यक है कि वह अने स्वास्थ्य पर ध्यान दे। उसे खरीदारी की अपनी आदतों, रोज़मर्रा के पलायनों और बेईमानियों, अपनी पीड़ाओं, अपने बच्चों के प्रति अपनी वास्तविक भावनाओं, अपनेभूतऔर भविष्य का विश्लेषण करना चाहिए। संक्षेप में, उसे अपनी इच्छा शक्ति के बल पर लक्ष्यों की पहचान करना आना चाहिए।

(21) भूमंडलीकृत समाज मे स्त्रियाँ संचार साधनों का उपयोग अपनी ममुक्ति के पक्ष में कर सकती हैं। अनुकूलन से उपजी आवश्यकताओं को समझना और उसका विक्ल्प खोजने का काम स्त्रियों को ही करना होगा। परंपरागत रूप से स्त्रियों की ज़ुबान ही उनके लिए हथियार रही है, पहले की तरह ही आज भी स्त्रियों को शरीर आकर्षण की रणनीति अपनाने से परहेज करना चाहिए, क्योंकि ऐसी रणनीतियों को अपनाना गुलामी है। वस्तुत: गुलामी का अपना आनंद है, जो अनुकूलन से पैदा होता है, उस आनंद के पाश से निकलकर स्त्री को स्वतंत्रता के खतरे उठाने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए।

3.3.8. वैकल्पिक विकास की रूपरेखा

लैंगिक विभेद के बारे में सामान्य जान की आवश्यकता प्रत्येक स्त्री को है। यह ज्ञान ही उसे अपने अधिकारों की पहचान और समाज में अपनी यर्थाथ स्थिति से वाकिफ़ कराने में मददगार साबित हो सकता है। स्त्रियाँ लैंगिक विभेद, घरेलू अत्याचार, मानसिक शोषण और अत्याचार, श्रम की दमनकारी एवं भेदभावपूर्ण नीतियों को समझें साथ ही प्रजनन एवं स्वाथ्य से संबंधित समस्याओं पर भी जानकारियों पर भी जानकारियों का आदान-प्रदान करें तभी भविष्य के विकासवादी कार्यक्रमों की रूपरेखा तय की जा सकती है।

स्त्रियों के प्रति मानसिे हिंसा या आग्रामकता एक ऐसा मुद्दा है। जिसका पालन जितने शातिर ढंग से किया जाता है। उतना ही स्त्रियों को अविकसित रखने या विकास के कार्यक्रमों से दमर रख्ने में सफलता पाई जा सकती है। इस प्रक्रिया में सम्य एवं अतिसम्य कहे जाने वाले समाज शामिल हैं। महिला संगठन 'हेल्प' से बंबद्ध सुधा अरोड़ाका कहना है कि "महिलाएं सलाहकार केंद्रों में सहायता के लिए तभी आती हैं, जब मानसिक प्रताड्ना एक लंबे अरसे के बाद अंतत: गाली-गलौच या शारिरिक हिंसा में धीरे-धीरे तब्दील होने लगती है। घरेलू हिंसा से त्रस्त महिला को रास्ता सुझाने से कहीं ज़्यादा मुश्किल है, मानसिक यातना झेल रही महिलाओं को समझाना, क्योंकि इस स्थिति में पुरुष बहुत समझदार शालीन दिखता है। इस के अंदर बैठे हुए उस व्यथ्कत से साक्षात्कार हो ही नहीं पाता, जिसे वह महिला घर में झेल रही है, जो लगातार उसे बौना बना रहा है और उसके व्यक्तित्व को कुचलकर उसे व्यक्तित्व हीन बना देना चाह रहा है।.... आर्थिक आत्मनिर्भरता प्रताड़ना की स्थिति में कोई बदलाव ला पाने में कारगर नहीं होती, पर इससे जीवन में निर्णय लेने और उन्हें कार्यान्वित करने की क्षमता ज़रूर बढ़ जाती है। बहुत से समीकरण इस आर्थिक आज़ादी के चनते बदल जाते हैं। आर्थिक रूप से सक्षम होने का एक औरत को जो लाभ मिलता है, वह यही है कि गैर-बराबरी और मानसिक यातना से पैदा होती भीषण स्थितियों से जूझना उसके लिए थोड़ा आसान हो जाता है...आर्थिक आज़ादी के बूते पर आत्मनिर्भर स्त्रीके लिए हिंसा या पति के इतर संबंधों से उपजी जटिल स्थितियों के भीषण स्वरूप की तीव्रता कुछ कम हो जाती है और वह अपने जीवन के नक्शे की फिर से उपने सामने फैलाकर सुनियोजित कर सकती है और मानसिक गुलामी से बाहर आना, उसके लिए अपेक्षाकृत

आसान होता है। उसके सामने चुनावकी सुविधाएँ और जीने के विकल्प अधिक होते हैं'' (आम औरत: जिंदा सवाल-सुधा अरोड़ा, पृ. 163-164, सामयिक प्रकाशन)

स्त्रियों को उत्तराधिकार और संपत्ति संबंधी कानूनों की समुचित जानकारी आवश्यक है। भारत में हिंदू उत्तराधिकार, (संशोधन) विधेयक-2004 में लैंगिक विभेद को मिटाने का प्रयास किया गया है, जिसमें निम्ननिखित मुद्दे प्रमुख हैं-

(क) संयुक्त परिवार की संपत्ति में पुत्र एवं पुत्री का बराबर का हिस्सा मिलेगा।

(ख) स्त्रियाँ अपनी सुविधानुसार पैतृक संपत्ति में बंटवारे की माँग कर सकती हैं।

(ग) वे संयुक्त परिवार की कर्ता की हैसियत से रह सकती हैं।

स्त्रियों को घरेलू हिंसा से सुरक्षा देने के लिए 'प्रोटक्शन ऑफ वूमेन फ्रॉम डोमेस्टिक वायलेंस एक्ट 2005' का प्रावधान भी किया गया हहै, जो अक्टूबर 2006 से प्रचलन में है। इसके सेक्शन 17 में विवाहित स्त्री पति के, साझे के घर में रहने की अधिकारिणी है, भले ही घर उसका कोई कानूनी मालिकाना हक नहो। इस कानून के कारण किसी भी स्त्री को जबरन घर से बाहर नहीं निकाला जा सकता।

इसी कानून के सेक्शन 18 के अंतर्गत स्त्री को तमाम सुरक्षा आदेश मिले हैं, वहीं उसी के तहत प्रतिवादी को अनेक मनाहियाँ भी हैं, जिनमें घरेलू हिंसा करने या हिंसा के लिए उकसाना या पत्नी के कार्यालय स्थल पर आने-जाने या पत्नी के बैंक अकाउंट या लॉकर का इस्तेमाल कानूनन ज़ुर्म है।

सेक्शन- 19 के अंतर्गत पत्नी को आवाससे संबंधित आदेश मिले हैं, जिसमें प्रतिवादी (पति) को ज़रूरत पड़ने पर पत्नी के लिए वैकल्पिक आवास उपलब्ध कराने या उसका किराया देने का आदेश है। इसके साथ ही स्त्री को अपना 'स्त्रीधन' माँगने का अधिकारा है। सेक्शन-20 के अंतर्गत अपनी तथा बच्चों की देखभाल के लिए स्त्री पति से भत्ता मांग सकती है। सेक्शन– 21 में स्त्री तलाक के बाद अपनी संतान की कस्टडी का अधिकार मांग सकती है। सेक्शन–22 के अंतर्गत स्त्री मानसिक प्रताड़ना और भावात्मक तनाव के लिए क्षतिपूर्ति की माँग कर सकती है। इसके अतिरिक्त नेशनल कमीशन फॉर वुमेन्स एक्ट 1990 में भी स्त्री को अधिकार संपन्न किया गया है।

इसके अतिरिक्त कृषि एवं सार्वजनिक श्रम क्षेत्रों से संबंद्ध स्त्रियोंको मिलने वाले विशेषाधिकारों और सुविधाओं से वाकिफ होनाचाहिए। उदाहरण के लिए सिंचाई के दिए जाने वाले सरकारी ऋण में स्त्रियों को 90 प्रतिशत सब्सिडी मिलती है। इसके अतिरिक्त अधिकांश बैंक ऋण की विशेष सुविधाएं देते हैं। जैसे स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, इंडियन बैंक ने महिला उद्यमियों के लिए विशिष्ट योजनाएँ जैसे- स्त्री शक्ति योजना चलाई हुई है। द स्माल इंडस्ट्रीज़ डेवलेपमेंट बैंक ऑफ इंडिया ने स्त्री उद्यामियों को प्रोत्साहित करने के लिए 'महिला उद्यम निधि स्कीम' चलाई है। आंध्र बैंककी 'चक्रयोजना' स्त्रियों को दुपहिया वाहन खरीदने में अर्थिक मदद करती है।

3.3.11. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. दुबे श्यामाचरण विकास का समाजशासत्र
2. हटिंगटन, सैमुअल पी., 'द चेंजटू चेंज; मॉर्डनाइजेशन, डवलपमेंट एण्ड पॉलिटिक्स'
3. एंगेल्य, परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पति, (अनु.नरेश नदीम), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2006

इकाई-4 भारतीय संविधान में स्त्री-विषयक प्रावधान

इकाई की रूपरेखा

3.4.0. उद्देश्य

3.4.1. प्रस्तावना

3.4.2. आज़ादी महिलाओं की स्थिति

3.4.3. भारतीय संविधान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

3.4.4. भारतीय संविधान में स्त्रियाँ और उनके अधिकार

3.4.4.1. समानता का अधिकार

3.4.4.2. विधि के समक्ष समता तथा विधियों का समान संरक्षण

3.4.4.3. धर्म मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेद्ध

3.4.4.4. लोक नियोजन में अवसर की समानता

3.4.4.5. अस्पृश्यता का अंत एवं उपाधियों का अंत

3.4.4.6. स्वतंत्रता का अधिकार

3.4.4.7. शोषण के विरूद्ध और धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार

3.4.4.8. संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार

3.4.4.9. संवैधानिक उपचारों का अधिकार

3.4.5. संविधान द्वारा स्त्रियों को कुछ अन्य अधिकार

3.4.5.1. निर्वाचन संबंधी अधिकार

3.4.6. महिलाओं से संबंधित अन्य अधिनियम

3.4.7. सारांश

3.4.8. बोध प्रश्न

3.4.9. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.4.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- भारतीय संविधान निर्माण की पृष्ठभूमि जान सकेंगे।
- भारतीय संविधान के बारे में जान सकेंगे।
- भारतीय महिलाओं के लिए संविधान में प्रदत्त अधिकार और
- उन अधिकार के उल्लंघन के लिए संवैधानिक उपचारों को जान सकेंगे।

3.4.1. प्रस्तावना

दुनिया की कुल आबादी का आधा हिस्सा महिलाओं का है। ऐसी स्थिति में उसकी शक्ति, संपत्ति, अधिकार और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसका स्थान पुरुषों के बराबर ही अपेक्षित है। लोकतंत्र को वैश्विक जन समर्थन की बदौलत राजनीतिक और विधायी क्षेत्रों में अनेक परिवर्तन आए और महिलाओं को भी समान कानूनी अधिकार मिला। शिक्षा व नौकरियों आदि विभिन्न क्षेत्रों में उन्हें प्रतिनिधित्व मिला। पितृसत्तात्मक समाज में रजानीतिक का क्षेत्र महिलाओं के लिए हमेशा असहज माना जाता रहा है। अतीत काल के रूढ़िवादी विचारों ने इस सोच को और सबल बनाया। इसलिए महिलाओं को आज के दौर में हासिल राजनीतिक अधिकारों के लिए उन्हें एक लंबा संघर्ष करना पड़ा। यहां तक कि इंग्लैंड जैसी जगह में भी महिलाओं को मतदान और चुनाव लड़ने का अधिकार एक लंबे संघर्ष के बाद उन्हें हासिल हुआ।

भारत में उपनिवेश काल में भारतीय महिलाओं को मतदान का अधिकार नहीं था। राष्ट्रीय तथा प्रांतीय सभाओं के निर्माण के बाद इसके लिए चुनाव लड़ने वाले और मतदान करने वाले लोगों के लिए कुछ योग्यताएं निर्धारित की गई जैसे निश्चित राशि की संपत्ति और आमदनी। इससे महिलाएं अपने आप उन अधिकारों से वंचित हो गई। स्वतंत्रता पश्चात धीरे-धीरे उनकी स्थिति में परिवर्तन होना शुरू हुआ और अन्य भारतीय संविधान जब अपनाया गया तो लिंग, जाति, धर्म या अन्य किसी भी आधार पर भेद-भाव किए बिना सभी वयस्क नागरीकों को मतदान का अधिकार प्रदान किया गया।

भारतीय संविधान के अस्तित्व में आने के पहले से ही महिलाओं के मतदान के अधिकार के लिए कई प्रयास होते रहे हैं। इसके लिए भारतीय महिला एसोसिएशन (डब्ल्यू आईए), राष्ट्रीय परिसंघ आदि जैसे संगठन महिलाओं के चुनाव लड़ने और वयस्क मताधिकार की मांग काफी पहले से ही करते रहे। श्रीमती सरोजनी नायडु ने पहली बार महिलाओं के लिए पुरुषों के बराबर राजनैतिक अधिकारों के बारे में आवाज उठाई और उनके इन मांगों का कांग्रेस, मुस्लिम लोग और होम-रूल-लीग जैसे राजनीतिक संगठनों ने भी समर्थन किया। किंतु ब्रिटिश शासक बार-बार इनकार करते रहे। किंतु भारत की सरकार ने अपनी वचनबद्धता और ज़िम्मेदारी का पालन किया।

3.4.2. आज़ादी के पूर्व महिलाओं की स्थिति

भारत में स्त्री आंदोलन के इतिहास को स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास से अलग नहीं किया जा सकता। इसने महिलाओं को घर-गृहस्थी जैसी पारंपरिक भूमिकाओं से बाहर निकल कर अपनी एक भिन्न प्रकार की भूमिका सुनिश्चित करने के लिए प्रेरित किया। स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं ने सार्वजनिक सामाजिक और राजनीतिक जीवन जीने के लिए भागीदारी निभाई। महात्मा गांधी के आह्वान पर स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं की व्यापक भागीदारी हुई परिणामतः स्वतंत्रता आंदोलन ने एक लोकप्रिय जन आंदोलन की शक्ल ले ली।

राष्ट्रीय आंदोलन में महलाओं की बड़ी भागीदारी होने के बावजूद भी उन्होंने अपने अधिकारों के बढ़ाने के प्रयास अपनी स्थिति तथा उसके विश्लेषण करने पर ध्यान नहीं दिया और अपना सारा ध्यान स्वतंत्रता प्राप्ति पर केंद्रित रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ी राजसत्ता तथा महिला नेतृत्व के बीच हमेशा असमंजस की स्थिति बनी रहती कि वे महिला अधिकारों के लिए संघर्ष करें या स्वतंत्रता के लिए संघर्ष।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और अन्य राजनीतिक दलों के लंबे समय से की जा रही मांग को ध्यान में रखकर ब्रिटिश सरकार ने विधानमंडलों के गठन के चुनाव सुधान की शुरूआत की, जिसमें महिलाओं के लिए कोई जगह नहीं थी तथा उन्हें मतदान करने व चुनाव लड़ने के लिए अधिकार नहीं था। हाँ, इतना जरूर था कि विधानमंडल में कुछ महिलाओं को नामित करने की व्यवस्था दी गई थी। असमय कें भारतीय महिला एसोसिएशन (डब्लयूआईए), राष्ट्रीय भारतीय महिला परिषद (एनसीआइडब्ल्यू) तथा अखिल भारतीय महिला परिसंघ आदि उस समय के प्रमुख संगठनों ने उसका विरोध किया और सन 1971 में मोटग्यू को ज्ञापन देकर वयस्थ मताधिकार की मांग की। महिलाओं द्वारा समान राजनीतिक अधिकार के लिए किया गया उनका यह पहला प्रयास था।

सर्वप्रथम श्रीमती सरोजरी नायडु ने महिलाओं के लिए पुरुषों के बराबर राजनीतिक अधिकारों की मांग की किंतु उनके लिए नामांकन या प्रांतीय और राष्ट्रीय विधान मंडलों में कुछ सीटों के आरक्षण देने जैसी वरीयता वाली व्यवस्था का उन्होंने यह कहते हुए विरोध किया कि इस तरह की कोई भी सुविधा महिलाओं को पुरूष की तुलना में कमतर सिद्ध करेगी। कांग्रेस, मुस्लिम लीग और होम-रूल-लीग जैसे उस समय के सभी राजनीतिक दल सहित अन्य महिला संगठनों ने महिलाओं के मतदान और चुनाव लड़ने के लिए अधिकार जैसी मांग का समर्थन किया। किंतु अंग्रेज़ी सरकार इस मांग को यह कहकर अस्वीकार करती रही कि ऐसे समाज में जहाँ पर्दा प्रथा और महिलाओं के लिए शिक्षा का निषेध है; वहां की महिलाओं को चुनाव लड़ने और मतदान का अधिकार देना काफी जल्दबाजी होगी। इसके बावजूद भी सन 1921 में मुंबई और मद्रास दो प्राप्तों में पुरुषों की तरह ही संपत्ति और आमदनी की शर्तों पर महिलाओं को मतदान का अधिकार उपलब्ध कराया गया।

सन 1932 में चुनाव कराने के बारे में विचार जानने के लिए भारत में दौरे पर आई वयस्क मताधिकार समिति को भारत के महिला संगठनों ने लिंग, संपत्ति या साक्षर योग्यता के भेदभाव के बिना सबको मतदान करने तथा नामित या महिलाओं के लिए सुरक्षित सीट करने की किसी भी तरह व्यवस्था का ज्ञापन देकर मांग की। अंग्रेज़ी सरकार ने अपनी पूर्व की ही दलील देते हुए उनकी इस मांग को खारिज कर दिया कि पूरे देश के लिए इस तरह को मताधिकार देना अव्यवहारिक होगा किंतु शहरी क्षेत्र की महिलाओं को मतदान करने का अधिकार प्राप्त हुआ।

सन 1935 में महिलाओं के लिए 41 सीटें सुरक्षित की गई। सन 1937 के चुनावों में विधान मंडलों की 56 महिला सदस्यों में से केवल 10 अनारक्षित सीटों तथा शेष 5 नामित की गई थी। संविधान पर चर्चा के लिए संविधान सभा के गठन होने पर उसमें 11महिला सदस्यों को नामित किया गया। स्वतंत्रता के बाद लिंग, धर्म और जाति निरपेक्ष मताधिकार भारतीय संविधान ने स्वीकार किया।

3.4.3. भारतीय संविधान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

31 दिसंबर, 1600 को स्थापित चंद व्यापारियों की कंपनी ईस्ट इंडिया कंपनी ने एक शारी चार्टर के जरिए 15 वर्ष के लिए भारत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के कुछ क्षेत्रों के साथ व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। उस चार्टर में कंपनी का संविधान, उसकी शक्तियां तथा उसके विशेषाधिकार भी निर्धारित कर दिए गए थे।

सन 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद युगल साम्राज्य धीरे-धीरे कमज़ोर पड़ने लगा और सन 1757 में प्लासी के युद्ध में सिराजुदौला को हराकर अंग्रेज़ों ने भारत पर कब्जा कर लिया। सन 1773 में रेग्युलेटिंग एक्ट बनाकर ब्रिटिश संसद ने कंपनी के शासन के लिए एक लिखित संविधान तैयार किया। आगे चलकर चार्टर एक्टर 1833 के माध्यम से भारत में अंग्रेज़ी शासन के अधीन सभी क्षेत्रों में सारे सिविल, सैन्य मामले, राजस्व की निगरानी, निर्देशन और नियंत्रण प्रत्यक्ष रूप से 'गवर्नर-जनरल ऑफ इंडिया-इन-कौंसिल' (परिषद भारतीय गर्वनर जनरल) को सौंप दिया गया। गवर्नर जनरल की सरकार 'भारत सरकार' और उनकी परिषद 'भारत परिषद' के नाम से जानी गई। इस चार्टर ने 'गवर्नर जनरल ऑफ इंडिया इन कौंसिल को कुछ शर्तों के अधीन भारत में संपूर्ण क्षेत्रों के लिए कानून बनाने की शक्तियां प्राप्त हो गई। सन 1853 में चार्टर एक्ट, 1853 लाया गया, जिसने पूर्व के जारी चार्टर में प्रदत्त शक्तियों में कई एक परिवर्तन कर दिया। गवर्नर जनरल की विधायी शक्तियां तो बनी रही किंतु उसकी परिषद में छह विशेष सदस्य जोड़कर उसका विस्तार कर दिया गया और सदस्य को 'विधायी पार्षद' कहा गया, किंतु परिषद में बैठने तथा मतदान करने का अधिकार नहीं था। परिषद में गवर्नर जनरल, कमांडर-इन-चीफ, मद्रास, बंबई, कलकत्ता और आगरा के स्थानीय शासकों के चार प्रतिनिधियों समेत सदस्यों की संख्या बारह हो गई। इस चार्टर में विधायी कार्यों और कार्यपालक अधिकारों के बीच विभाजन कर लिया गया। इसके बाद 'भारत में उत्तम प्रशासन के लिए एक्ट' 1858 का

एक्ट बनाकर कंपनी से लेकर सारे कार्यभार व शक्तियां ब्रिटेन के क्राउन में निहित कर दी गई और शासन सीधे 'प्रिंसिपल सेक्रेटरी ऑफ स्टेट' के माध्यम से इंग्लैंड के क्राउन द्वारा किया जाने लगा।

सन 1861 में भारतीय परिषद एक्ट, 1861 अस्तित्व में आया। इसके माध्यम से भारत में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के बाद पहली बार भारतीय लोगों को विधायी कार्यों के साथ जोड़ा गया तथा गवर्नर जनरल की परिषद की विधायी शक्तियों का वि सरकारों में निहित कर दिया गया। किंतु इस विकेंद्रीयकरण कर के बंबई तथा मद्रास की सरकारों में निहित कर दिया गया। किंतु इस एक्ट से भारतीय जनता की कोई आकांक्षा पूरी नहीं हो पा रही थी लिहाजा इस एक्ट के प्रति लोगों में आक्रोश बढ़ा।

सन 1885 में गठित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष डब्ल्यू-सी बनर्जी के जमाने से ही विधान परिषदों में सुधार तथा उसके विस्तार की मांग की जाती रही और यही मांग कांग्रेस के अगले कई सम्मेलनों में दोहरायी जाती रही। सन 1889 में कांग्रेस ने अपने सम्मेलन में एक प्रस्ताव पारित कर गवर्नर जनरल की परिषद तथा प्रांतीय विधान परिषदों में सुधार तथा उनके पुनर्गठन के लिए एक योजना की रूपरेखा तैयार करके ब्रिटिश संसद में पेश किए जाने वाले बिल में शामिल करने का सुझाव दिया। इसके परिणामस्वरूप भारतीय परिषद एक्ट, 1892 लाया गया जिसके अंतर्गत गर्वनर जनरल की परिषद में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या दस और अधिकतम सोलह कर दी गई जो पहले न्यूनतम छह और अधिकतम बारह थी। अब परिषदों को विधायी कार्यों के अतिरिक्त वार्षिक वित्तीय विवरण या बजट पर विचार विमर्श करने का सशक्त अधिकार दे दिया गया तथा सदस्यों को कुछ शर्तों के अधीन लोकहित के मामले में सवाल पूछने की इजाजत दे दी गई। इस एक्ट के जरिए भारतीयों को अधिकार प्राप्त हुए तथा परिषद में 'निर्वाचित' सदस्यों के प्रवेश से एक नए दौर की शुरूआत हुई। सन 1906 में कांग्रेस ने अपने अधिवेशन में 'अंतिम लक्ष्य स्वराज' घोषित किया जो नरमपंथियों के लिए अंग्रेज़ी साम्राज्य के अधीन संसदीय स्वशासन और गरमपंथियों के अर्थ में स्वाधीनता माना गया। इस में जनता का और अधिक तथा वास्तविक प्रतिनिधित्व और देश के वित्तीय कार्यकारी प्रशासन पर और अधिक नियंत्रण के लिए विधान परिषदों में तुरंत मांग की गई।

राष्ट्रीय आंदोलन में गरमपंथियों की ताकत दिनोदिन बढ़ती जा रही थी, जो स्वाधीनता की मांग कर रहे थे और नरमपंथी ने भारतीयों के और अधिक तथा प्रभावी प्रतिनिधित्व के लिए अभियान चला रखा था। इसका सकरात्मक प्रभाव यह रहा कि सेक्रेअरी ऑफ स्टेट फार इंडिया, लार्ड माले एवं तत्कालीन वायसराय लार्ड मिंटो दोनों ने मिलकर एक संवैधानिक सुधार प्रस्ताव तैयार किया जिसे मिंटो मार्ले सुधार प्रस्ताव कहा जाता है। इस प्रस्ताव के द्वारा विधान परिषदों का विस्तार किए जाने, उनकी शक्तियों और कार्यक्षेत्र को बढ़ाए जाने, प्रशासी परिषदों में भारतीय सदस्यों की नियुक्ति किए जाने तथा जहाँ पर परिषदें नहीं थीं, वहाँ परिषदें स्थापित करने और स्थानीय स्वशासन प्रणाली का और अधिक विकास करने को कहा गया।

उक्त प्रस्ताव को मद्देनजर भारतीय परिषद एक्ट, 1909 बनाया गया और इसके माध्यम से कई सुधार किए गए। इन सुधारों के बावजूद भी ये सुधार एक ज़िम्मेदार सरकार की आवश्यकता को पूरा नहीं कर पा रहे

थे। 20 अगस्त, 1917 को माण्टेग्यू ने 'ज़िम्मेदार सरकार' की स्थापना का वादा किया। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फार मोंटेग्यू और भारत के वायसराय लार्ड की संयुक्त रूप में मोंटफोर्ड रिपोर्ट, 1918 जुलाई, 1918 में प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट के आधार पर भारत शासन एक्ट 1919 बनाया गया। इस एक्ट का घोर विरोध किया गया। भारतीयों द्वारा स्वयं अपने लिए संविधान निर्माण करने के लिए एक संविधान सभा का विचार उस एक्ट के विरोध में अंतर्निहित था।

श्रीमती एनी बीसेंट की पहल पर सन 1922 में केंद्रीय विधानमंडल के दोनों सदनों के सदस्यों की शिमला में आयोजित एक सम्मेलन में संविधान निर्माण के लिए एक सम्मेलन उबुलाने का निर्णय लिया गया और फरवरी 1923 में दिल्ली में आयोजित केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान मंडलों के सदस्यों के सम्मेलन में भारत को ब्रिटिश साम्राज्य की स्वशासी डोमिनियनों के समतुल्य रखते हुए संविधान के आवश्यक तत्वों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई। 24 अप्रैल को सर तेज बहादुर समू की अध्यक्षता में हुए सम्मेलन में 'कामलनवेल्थ ऑफ इंडिया बिल' का प्रारूप बिल तैयार किया गया और यही प्रारूप बिल कुछ संशोधनों के साथ सन 1925 में दिल्ली में महात्मा गांधी की अध्यक्षता में संपन्न हुए सर्वदलीय सम्मेलन में रखा गया और वह बिल प्रारूप समिति को सौंप दिया गया। स्मिति ने बिल को प्रकाशित करके भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के 43 नेताओं के हस्ताक्षर युक्त ज्ञापन के साथ लेबर पार्टी ने उसका भारी समर्थन किया किंतु लेबर पार्टी सरकार के पराजय की वजह से उस विधेयक पर कोई स्करात्मक कार्यवाही नहीं हो पाई। बाद में केंद्रीय विधान मंडल ने भारत का भावी संविधान भारतीयों द्वारा स्वयं बनाने के संबंध मोतीलाल नेहरू के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

17 मई, 1927 को मोतीलाल नेहरू ने कांग्रेस के बंबई अधिवेशन में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति से केंद्रीय तथा प्रांतीय विधामंडलों के निर्वाचित सदस्यों तथा राजनीतिक दलों के नेताओं के परामर्श से भारत के लिए एक संविधान निर्माण करने का प्रस्ताव रखा जो कुछ संशोधनों के साथ पारित हो गया। इसी प्रस्ताव को 28 दिसंबर, 1927 को परिवर्तित रूप में जवाहर लाल नेहरू ने मद्रास अधिवेश में रखा और उसे पास कर दिया गया और 19 मई, 1928 को बंबई में आयोजित एक सर्वदलीय सम्मेलन में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में भारत के संविधान निर्धारित करने के लिए एक समिति गठित की गई। 10 अगस्त, 1928 को समिति ने 'नेहरू रिपोर्ट' नाम से प्रसिद्ध रिपोर्ट आई। यह भारतीयों द्वारा स्वयं के लिए संविधान बनाने के लिए पहला प्रयास था। इस रिपोर्ट में भारत के संविधान का प्रारूप डोमिनियम के सिद्धांत पर आधारित था।

1928 की नेहरू रिपोर्ट में शामिल संसद के प्रति उत्तरदायी सरकार, अदालतों पर लागू कराए जा सकने वाले मूल अधिकार, अल्प संख्यकों के अधिकार सहित मोटे तौर अभिव्यक्त संसदीय व्यवस्था की संकल्पना को ज्यों का त्यों 26 नवंबर 1949 को संविधान सभा ने स्वीकार कर स्वाधीन भारत के संविधान में शामिल कर लिया।

सायमन आयोग और गोलमेज सम्मेलन के असफल हो जाने के बाद भारत शासन एक्ट, 1935 लाया गया, जिसे कांग्रेस ने पूरी तरह से मानने से इनकार कर दिया और संविधान सभा क मुद्दे पर प्रांतीय विधान मंडलों का चुनाव कांग्रसे ने जुड़ा और चुनाव में कांग्रेस विजयी रही।

सन 1940 के 'अगस्त प्रस्ताव' के जरिए ब्रिटिश सरकार ने संविधान सभा की मांग को अधिकारिक रूप से स्वीकार कर लिया जिसमें नए संविधान के निर्माण के लिए भारतीयों से करानेा कवयन दिया गया था तथा संविधान निर्माण निकाय द्वारा बनाए गए संविधान को स्वीकार करने के लिए कहा गया। जुलाई 1945 में इंग्लैंड में लेबर पार्टी की सरकार की वापसी होने पर यथाशीर्घ संविधान निर्माण निकाय के गठन के लिए बात कही गई। तत्पश्चात कैबिनेट मिशन ने संविधान के लिए बुनियादी ढांचे का प्रारूप पेश किया तथा संविधान निर्माण निकाय द्वारा अपनाई जाने वाली प्रक्रिया का कुछ विस्ताव के साथ निर्धारण किया। ब्रिटिश भारत के प्रातों को आवंटित 296 सीटों के लिए जुलाई-अगस्त, 1946 में चुनाव कराए गए, जिसमें कांग्रेस 208, मुस्लिम लीग, 73 और अन्य राजनीतिक दल कुल मिलाकर तथा स्वतंत्रता आठ जगहों पर विजयी रहें। 19 दिसंबर, 1946 दिन सोमवार, प्रातः ग्यारह बजे संविधान सभा का विधिवत उद्घाटन हुआ तथा 13 दिसंबर, 1946 को नेहरूजी ने उद्देश्य प्रस्ताव पेश किया। इसमें प्रस्तुत मार्गदर्शी सिद्धांत और दर्शन के आधार पर संविधान सभा द्वारा संविधान निर्माण का कार्य करना था और 22 जनवरी, 1947 को संविधान सभा ने उक्त प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

14-15 अगस्त, 1947 को देश के विभाजन और आज़ादी प्राप्त कर लेने के बाद भारत की संविधान सभा कैबिनेट मिशन योजना के नियंत्रण से पूरी तरह से मुक्त हो गई। भारत के लोगों द्वारा निर्मित भारत के संविधान 26 नवंबर, 1949 को संविधान सभा द्वारा अंगीकार किया गया तथा 26 जनवरी, 1950 को पूरी तरह से लागू कर दिया गया। संविधान में 22 भाग, 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियां शामिल थी। मौजूद समय का हमारा संविधान समय-समय पर किए गए कुछ संशोधनों के साथ मौजूद है। कुछ अनुच्छेद संशोधनों के द्वारा निकाल दिए गए हैं और कुछ नए अनुच्छेद जोड़े गए हैं। किंतु सुविधा की दृष्टि से संविधान के भागों और अनुच्छेदों की मूल संख्याओं में परिवर्तन नहीं किया गया। वर्तमान में गणना के लिहाज से कुल अनुच्छेद 1 से 395 तक हैं किंतु वास्तव में उनकी संख्या 445 है। अनुसूचियों की संख्या 8 से 12 हो गई हैं। पिछले 53 वर्षों में 87 संविधान संशोधन विधेयक पारित हो चुके हैं।

3.4.4. भारतीय संविधान में स्त्रियाँ और उनके अधिकार

भारत के संविधान का उद्देशिका में कहा गया है, ''हम भारत के लोग भारत को एक प्रभुत्व संपन्न लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने के लिए उसके समस्त नागरिकों को न्याय, स्वतंत्रता और समानता दिलाने और उन सब में बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प करते हैं। न्याय की परिभाषा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के रूप में की गई है। स्वतंत्रता में विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता सम्मिलत हैं और समानता का अर्थ हैं प्रतिष्ठान तथा अवसर की समानता।'' सन 1976 के 42वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा 'समाजवादी' तथा 'पंथनिरपेक्ष' शब्द जोड़े गए।

इस उद्देशिका में भारत के लोगों द्वारा भारत को प्रभुत्व संपन्न 'पंथ निरपेक्ष', 'समाजवादी' लोकतांत्रिक गणराज्य बनाने की संकल्पना की गई तथा प्रत्येक नागरिक को न्याय, स्वतंत्रता, समानता सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय के साथ-ही-साथ सिचार अभिष्ट अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपसना की स्वतंत्रता तथा समानता की प्रत्याभूति देती है। संविधान की इस उद्देशिका में 'नागरिक' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसके अंतर्गत स्त्री, पुरूष और वे सारे लोग, जिन्हें भारत सरकार 'नागरिक' मानती है आते हैं। दूसरे अर्थों में संविधान के समक्ष स्त्री-पुरूष के बीच कोई विभाजन नहीं है, इसलिए संविधान द्वारा प्रदत्त अपने नागरिकों के लिए समस्त अधिकारों की चर्चा महिलाओं के संदर्भ में करना समीचीन होगा।

संविधान के भाग-3 के अंतर्गत आने वाले मूल अधिकार भाग-4 के निदेशक तत्व और बाद में जोड़े गए भाग 4(क) के मूल कर्तव्य वास्तविक रूप सो समूची व्यवस्था के हिस्से हैं और इनका मूल स्त्रोत उद्देशिका है। ये संयुक्त रूप से उद्देशिका में उल्लिखित मूलभूत मूल्यों की अभिव्यक्ति हैं तथा संविधान के आदर्शों को प्रतिष्टित करते हैं। संविधान में दिए गए मूल अधिकारों के जरिए व्यक्ति की गारिमा को सैद्धांतिक रूप दिया गया है तथा भाग-3 और भाग-4 में उल्लिखित उपबंधों के माध्यम से उसे कार्यान्वित कराने के लिए कहा गया है, और व्यक्ति की गारिमा के अनुरूप स्वतंत्रता और समानता पर काफी बल दिया गया है। आर्थिक तथा सामाजिक न्याय के आदर्शों द्वारा उन्हें और अधिक पूर्णता तथा स्थायित्व प्रदान किया गया है तथा और विशद रूप से मूल अधिकारों तथा निदेशक तत्वों में प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय संविधान अपने नागरिकों को मोटे तौर पर छह प्रकार के मूल अधिकार की प्रत्याभूमि (गारंटी) करता है:-

1. समानता का अधिकार, अनुच्छेद 14 विधि के समक्ष समानता तथा विधियों का समाना संरक्षण प्रदान करता है तथा अनुच्छेद 15 धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार किसी पर किसी भी भेदभाव से निषेध का प्रावधान करता है। अनुच्छेद 16, 17 व 18 लोक नियोजन के मामले में अवसर की समानता, अस्पृश्यता और उपाध्यिों के अंत प्रावधानित है।
2. स्वतंत्रता का अधिकार, अनुच्छेद 32 जीवन तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के संरक्षण का अधिकार, अनुच्छेद 21 क शिक्षा का अधिकार और भाषण तथा अभिव्यक्ति, सम्मेलन, संगम या संघ बनाने, भारत के किसी

भाग में जाने और निवास करने तथा बस जाने का स्वतंत्रता का अधिकार और कोई पेशा या व्यवसाय करने का अधिकार (अनुच्छेद 19) दिया गया है;

3. शोषण के विरूद्ध अधिकार, अनुच्छेद 23 तथा 24 सभी प्रकार के बातश्रम, बाल श्रम और मानव दुर्व्यवहार का निषेध करते हैं।
4. अनुच्छेद 25 से 28 अंतःकरण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता।
5. अनुच्छेद 29 और 30 अल्पसंख्यकों को अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि को बनाए रखने तथा अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार प्रदान करते हैं।
6. अनुच्छेद 32 उपर्युक्त मूल अधिकारों का प्रवर्तित करने के लिए संवैधानिक उपचारों का अधिकार विहित करता है।

ये मूल अधिकार लोगों को अनेक परिसीमाओं तथा प्रतिबंधों के अधीन प्राप्त है, किंतु पश्चिम बंगाल राज्य बनाम सुबोध गोपाल बोस ए.आई.आर. 1954 एससी के मामले में न्यायमूर्ति श्री पतंजली ने कहा कि, ''संविधान के भाग-3 का एकमात्र उद्देश्य यह है कि उसमें वर्णित स्वतंत्रताओं तथा उनका अधिकारों को संरक्षण प्रदान किया जाए ताकि राज्य मनमाने ढंग से उनका से उनका-उनका अतिक्रमण न कर सकें।'' सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन ए.आई.आर 1978 एससी 1675 तथा अन्य कई मामलों में उच्चतम न्यायालय का विचार उभर कर आया कि मौलिक अधिकार केवल नकारात्मक या 'राज्य विरूद्ध' नहीं है। वह 'राज्य' के ऊपर कुछ दायित्व भी सौंपते हैं।

3.4.4.1. समानता का अधिकार

भारत का प्रत्येक व्यक्ति संवैधानिक रूप से समान समझा जाएगा तथा वह 'विधियों के समान संरक्षण वंचित नहीं किया जाएगा। उसके साथ किसी भी आधार पर किसी तरह का भेदभाव नहीं किया जाएगा। संविधान के अंतर्गत निम्नलिखित प्रकार समानता के अधिकार उपलब्ध हैं:-

3.4.4.2. विधि के समक्ष समता तथा विधियों का समान संरक्षण

संविधान के अनुच्छेद 14 के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति भारत के राज्य क्षेत्र में 'विधियों के समान संरक्षण' से वंचित नहीं किया जाता है। यह प्रावधान सिर्फ नागरिकों पर ही नहीं, बल्कि सभी व्यक्तियों पर लागू होते हैं। इस प्रावधान का सैद्धांतिक आधार है कि ''विधि के समक्ष सभी समान है और बिना किसी विभेद के विधि के समान संरक्षण के हकदार हैं।''

3.4.4.3. धर्म मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध

अनुच्छेद 14 विधि के समक्ष समानता और विधियों के संरक्षण को उद्घोषणा करता है, और अनुच्छेद 15 से 18 भारत के नागरिकों के संबंध में सामान्य सिद्धांत को प्रवर्तित करने के लिए कुछ दिशा निर्देशन करते हैं।

अनुच्छेद 15 राज्य को आदेशित करता है कि किसी भी नागरिक के साथ केवल धर्म, जाति, मूलवंश, लिंग, जन्म स्थान या इनमें से किसी के किसी के आधार पर कोई भेदभाव न बरता जाए। कोई भी नागरिक केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान या इनमें से किसी के आधार पर (क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश या (ख) पूर्णतया या भागतया राज्य विधि से पोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नानघाटों, सड़कों और सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी निर्योग्यता, दायित्व, निबंधन या शर्त के अधीन नहीं होगा; यानि वर्जित नहीं किया जा सकेगा। यह प्रावधान राज्य और साधारण जनता पर समान रूप से लागू होता है। परंतु अनुच्छेद 15 (3) और (4) में इन सामान्त सिद्धांतों के अफवाह है कि राज्य को क्रमशः स्त्रियों तथा बच्चों के लिए और सामाजिक तथा शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के कुछ वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए विशेष प्रावधान करने का अधिकार होगा।

3.4.4.4. लोक नियोजन में अवसर की समानता

अनुच्छेद 16(1) और (2) भारत के सभी नागरिकों को राज्य के अधीन किसी पद पर नियुक्ति या नियोजन के संबंध में समान अवसर उपलब्ध कराए जाने के बारे में प्रावधान करता है, और किसी भी नागरिक के साथ केवल धम्र, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्म-स्थान या निवास के आधार राज्य के अधीन किसी नियोजन या पद के मामले में कोई भेद-भाव नहीं किया जा सकेगा या अपात्र नहीं होगा।

3.4.4.5. अस्पृश्यता का उन्मूलन एवं उपाधियों का अंत

अनुच्छेद 17 और 18 में 'अस्पृश्यता' का उन्मूलन किया गया है तथा इसके आचरण को दंडनीय अपराध बनाया गया। अनुच्छेद 18 भारतीय नागरिक या विदेशी राष्ट्रीय दोनों ही स्थितियों में किसी भी व्यक्ति को उपाधियां प्रदान करने का निषेद करता है, किंतु सेना तथा विद्या संबंधी विशिष्ट सम्मान के मामले में या विशिष्ट सराहनीय सेवा के एिल गणतंत्र दिवस को राष्ट्रपति द्वारा भारत रत्न, पद्मविभूषण, पद्मभूषण और पद्मश्री आदि दिए जाने वो सम्मान इस अनुच्छेद के विपरीत नहीं माने जाएंगे।

3.4.4.6. स्वतंत्रता का अधिकार

संविधान का अनुच्छेद 19 भारत के नागरिकों को भाषण और अभिव्यक्ति बिना हथियारों के शांतिपूर्वक सम्मेलन, संगत बनाने, भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत आने-जाने भारत के किसी भी भाग में निवास करने और बस जाने और कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता का अधिकार प्रदान करता है। किंतु ये अधिकार निर्बाध नहीं है। भारत की संप्रभुता तथा अखंडता, राज्य की सुरक्षा विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों, लोक व्यवस्था, शिष्टा चार या सदाचार के हिमों में या न्यायालय की अवमानना, मानहानि या अपराध के लिए प्रोत्साहन के आधार पर इन अधिकारों पर युक्तियुक्त प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

अनुच्छेद 20 अपराध के लिए दोषी व्यक्तियों के अधिकारों को संरक्षण प्रदान करता है तथा इन्हें आपात्त स्थितियों के अंतर्गत भी अनुच्छेद 359 के अंतर्गत निलंबित नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद 20(1) के अनुसार ''किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए तब तक सिद्धदोष नहीं ठहराया जाएगा जब तक कि किसी उसने ऐसा कार्य करने के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण न किया हो। वह उससे अधिक शास्त्रि का भागी नहीं होगा जो उस अपराध के किए जाने के समय प्रवृत्त विधि के अधीन लगाई जा सकती थी।'' इसी दृष्टि से विधानमंडल को भूतलाक्षी दंडिक विधि बनाने से प्रतिषेध है, और इस बात का प्रावधान किया गया है कि किसी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक 'अभियोजित' और 'दंडित' नहीं किया जाएगा। किसी न्यायालयी विचारण के दौरान प्रत्येक व्यक्ति न्यायालय की दृष्टि में निर्दोष माना जाएगा और उसकी दोष सिद्धी का भार अभियोग पक्ष पर होगा।

अनुच्छेद 21 यह व्यवस्थापित करता है कि कोई व्यक्ति विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अलावा अन्य किसी भी तरीके से जीवन या वैयक्तिक स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जाएगा। यह अधिकार सभी प्रकार के नागरिकों एवं गैर नागरिक लोगों को प्रदान किए गए हैं। 7 जून, 1993 को डी.के. यादव बनाज जे.एम.ए. इंडट्री लि. के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि जीवन के अधिकार में आजीविका के अधिकार को भी शामिल है, और अनुच्छेद 21(क) 6 से 14 वर्ष की आयु वाले बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए कहता है।

अनुच्छेद 22 का प्रावधान किसी भी निरूद्ध व्यक्ति के हक में निरूद्ध व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी से अवगत कराना, वकील से परामर्श करने तथा बचाव कराने की इजाजत देना और उसे निकटतम मॅजिस्ट्रेट के समक्ष पेश करना अनिवार्य बनाता है तथा यह प्रावधान आदेशात्मक अपेक्षाएं हैं।

3.4.4.7. शोषण के विरूद्ध और धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार

राज्य या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी व्यक्ति की इच्छा के विरूद्ध उसे कोई कार्य करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता और न ही किसी को किसी तरह मानव देह का दुरूप्योग करने की इजाजत होगी। कारखानों या खानों में या अन्य किसी खतरनाक जगह पर कार्य करने से 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को प्रविरत किया जाएगा।

संविधान की उद्देशिका में पंथनिरपेक्ष गणराज्य की अवधारणा स्थापित की गई है। पंथनिरपेक्ष से तात्पर्य है कि राज्य का कोई धर्म नहीं है और वह सभी धर्मों को समान सम्मान तथा संरक्षण देगा। धर्म के आधार पर किसी के साथ कोई भेद-भाव नहीं होगा तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए धर्म की पूरी स्वतंत्रता की प्रत्याभूमि होगी। अनुच्छेद 25 से 28 के अनुसार धार्मिक मामलों में स्वतंत्रता के अधिकार की गारंटी का उपबंध करते हैं।

3.4.4.8. संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार

इसके अंतर्गत, नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने के अधिकार की गारंटी है। किसी भी नागरिक को राज्य द्वारा पोषित या उससे सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षण संस्था में केवल धर्म, मूलवंश, जाति या भाषा के कारण प्रवेा देने से इनकार नहीं किया जा सकता है।

3.4.4.9. संवैधानिक उपचारों का अधिकार

भारतीय संविधान अपने नागरिकों के मूल अधिकार का प्रवधान करता है वहीं इनके व्यक्तिक्रम की स्थिति में उच्चतम न्यायालय द्वारा मूल अधिकारों को लागू कराने की व्यवस्था भी प्रदान करता है। उच्चतम न्यायालय बंदी प्रत्यक्षीगण परमादेश, प्रतिषेप, अधिकारपृच्छा और उत्प्रेषण रिट जारी करके मूल अधिकारों के संरक्षण के लिए कह सकता है। इस तरह के अधिकार संसद द्वारा अन्य न्यायालयों को दिए जा सकते हैं। अनुच्छेद 32 इसके लिए पर्याप्त उपबंध करता है। ये उपर्युक्त सारे अनुच्छेद व इनके उपबंध महिला नागरिकों पर भी प्रभावी होते हैं तथा उनके अधिकारों को संरक्षण प्रदान करते हैं।

3.4.5. संविधान द्वारा स्त्रियों को कुछ अन्य अधिकार

अनुच्छेद 39 के अनुसारराज्य अपनी नीतियों का अनुपालन इस प्रकार करेगा कि सुनिश्चित रूप से सभी पुरुषों तथा स्त्रियों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो; समुदाय की भौतिक संपदा का स्वामित्व तथा नियंत्रण इस प्रकार बंटा हो, जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो; आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि धन और उपत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के अहितकारी संकेंद्रण न हों;

पुरुषों और स्त्रियों; दोनों का समान काम के लिए समान वेतन हो; पुरुषों और स्त्रियों के स्वास्थ्य तथा शक्ति का और बच्चों की सुकुमार अवस्था का दुरूपयोग न हो; आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे राजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु तथा शक्ति के अनुकूल न हों और बच्चों तथा युवाओं को शोषण से बचाया जाए।

अनुच्छेद 42 और 43 में उपबंध किया गया है कि राज्य कर्मकारों को निर्वाह मजदूरी, काम की मनावांचित दर्शाएं, प्रसूति सहायता, शिष्ट जीवन स्तर तथा अवकाश का पूर्ण उपभोग और सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवसर सुनिश्चित करने का प्रयास करेगा। अनुच्छेद 44 में कहा गया है कि राज्य समूचे देश के लिए समान सिविल संहिता के लिए प्रयास करेगा। ये प्रावधान निति निदेशक तत्व के अंतर्गत आते हैं; जिन्हें किसी के हक में किसी न्यायालय द्वारा लागू नहीं किया जा सकता है, किंतु राज्य द्वारा विधि बनाने में इनके ख्याल रखने की अपेक्षा रहती है।

3.4.5.1. निर्वाचन संबंधी अधिकार

अनुच्छेद 25 के अनुसार संसद के प्रत्येक सदन या किसी राज्य विधानमंडल के सदन या प्रत्येक सदन के निर्वाचन के लिए प्रत्येक प्रांतीय निर्वाचन क्षेत्र की एक साधारण मतदाता सूची बनाने का प्रावधान करता है तथा अनुच्छेद 26 लोकसभा तथा राज्यों के विधानसभाओं के निर्वाचन के लिए वयस्क मताधिकार का उपबंध करता है तथा हर नागरिक को जिसकी 21 वर्ष 18 वर्ष से कम आयु न हो तथा जो किसी विधि के अधीन अनिवास, चित्तविकृति, अपराध या भ्रष्ट या अवैध आचरण के आधार पर अन्यथा आयोग्य न हो उसे मतदान करने का अधिकार होगा। इसके अलावा 73वां और 74वां संविधान संशोधन अधिनियम 1993 के द्वारा महिलाओं त्रिस्तरीय पंचायतों में एक तिहाई आरक्षण का प्रावधान किया गया है, और महिला मानवाधिकारों को मूल अधिकारों में शामिल किया गया।

3.4.6. महिलाओं से संबंधित अन्य अधिनियम

सतीप्रथा निवारण अधिनियम 1987, दहेज निवारण अधिनियम, 1961 (संशोधित 1986), अनैतिक व्यापार निवारण अधिनियम 1956 (संशोधित 1986), बाल विवाह अवरोध अधिनियम 1929 (संशोधित 1976) औषधियों द्वारा गर्भ गिराने से संबंधित अधिनियम 1971, स्त्री अशिष्ट रूपण (प्रतिबंध) अधिनियम 1986, विशेष विवाह अधिनियम 1954, प्रसवपूर्ण निदान तकनीकी अधिनियम 1994 और समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976 आदि जैसे स्त्री विषयक विभिन्न अधिनियमों को संविधान में स्थान दिया गया है, जो स्त्रियों की स्थिति को मजबूत और उनके अधिकारों को व्यापक बनाते हैं।

3.4.7. सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपने जाना कि महिलाओं को पुरुषों के समान संवैधानिक स्थिति हासिल करने और मताधिकार के एक लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी। अंग्रेज़ी शासन काल से शुरू हुई उनकी इस लड़ाई का परिणाम स्वतंत्रता के पश्चात प्राप्त हुआ; जब भारतीय संविधान ने धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर बिना भेदभाव के जनसाधारण वयस्क मताधिकार की अनुमति प्रदान की।

संविधान में उल्लिखित समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरूद्ध अधिकार, अंतःकरण की और धर्म के अबाध्य रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता; अल्प संख्यकों का अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि को बनाए रखने तथा शिक्षाण संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार तथा इन सभी मूल अधिकारों को प्रवर्तित करने के लिए संवैधानिक उपचारों का मूल अधिकारों के जरिए व्यक्ति को गरिमा और आत्मसम्मान के साथ जीने की गारंटी दी गई। ये छह प्रकार के बुनियादी अधिकार हर व्यक्ति पर लागू होते हैं। मूल अधिकार तथा निति न देश कतव्य में कई अनुच्छेद विशेष रूप से महिलाओं के लिए आबंधित है तथा शामिल किया गया है। भारत का संविधान यों तो हर व्यक्ति करें ध्यान में रखकर तैयार किया गया है किंतु महिलाओं के लिए कुछ विशेष प्रावधान भी किए गए। जो महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति के विकास में महत्वपूर्ण हुए हैं। वर्तमान समय में स्त्रियों ने हित में जो अधिनियम आए हैं उन्हें जोड़ दें।

3.4.8. बोध प्रश्न

1. पुरुषों के बराबर राजनीतिक अधिकारों, और मताधिकार के लिए महिलाओं द्वारा किए गए प्रयासों पर प्रकाश डालें।
2. मूल अधिकारों पर एक टिप्पणी लिखिए।
3. समता और स्वतंत्रता के अधिकार से क्या तात्पर्य है? ये महिलाओं के सन्दर्भ में उन पर किस सीमा तक लागू होते हैं?
4. भारतीय संविधान का संक्षिप्त परिचय देते हुए इसमें महिलाओं के लिए विहित अधिकारों का वर्णन करें।

खंड-4 जाति वर्ग एवं जेंडर

इकाई-1 जाति, वर्ग और जेंडर का अंतर्संबंध तथा स्त्री मुक्ति के सवाल

इकाई की रूपरेखा

4.1.0. उद्देश्य
4.1.1. प्रस्तावना
4.1.2. वर्ग
4.1.3. जाति
4.1.4. जेंडर
4.1.5. जाति, वर्ग और जेंडर का अंतर्संबंध
4.1.6. संस्कृति की सत्ता और स्त्री मुक्ति
4.1.7. सारांश
4.1.8. बोध प्रश्न
4.1.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

4.1.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप –

- जाति, वर्ग और जेंडर को और इनके बीच संबंध को स्पष्ट कर पाएँगे।
- वर्तमान समय में जाति, वर्ग और जेंडर के स्वरूप को जान पाएँगे।
- जाति, वर्ग और जेंडर का सवाल स्त्री मुक्ति का पर्याय से मानव मुक्ति का सवाल कैसे बन जाता है? यह समझ पाएंगे।

4.1.1. प्रस्तावना

हम जिस समाज में रहते हैं उसमें अघोषित रूप से कई तरह की सत्ता संरचनाएं काम करती रहती हैं। ये सत्ताएं कई तरह की हो सकती हैं, उदाहरण के रूप में धन, धर्म, जाति, नस्ल, उम्र, लिंग, पद, मूल्य आदि सत्ताओं का नाम लिया जा सकता है। इन सत्ताओं के कारण एक ही समाज में रहनेवाले बिलकुल एक जैसे लोगों के साथ अलग-अलग व्यवहार किया जाता है, जिसके कारण सबको समान सामाजिक अवसर नहीं मिल पाता है। यानि इन सत्ताओं के कारण कोई खास तो कोई सामान्य हो जाता है। इस प्रकार ये सत्ताएं समाज को भिन्न स्तरों में विभाजित कर देती हैं, जिससे एक ही समाज के लोगों में प्राकृतिक एवं सामाजिक संसाधनों

एवं अवसरों का असमान वितरण होता चला जाता है। इसी असमान वितरण के कारण समाज के कुछ लोग वर्चस्व की स्थिति में आ जाते हैं और बहुत सारे लोग साधनहीनता और दमन झेलने को मजबूर हो जाते हैं। हजारों वर्षों से हमारे समाज की आधी आबादी यानि स्त्री इस तरह का अन्याय और ज़्यादती झेलने को अभिशप्त रही है। जॉन स्टुअर्ट मिल इसे रेखांकित करते हुए कहते हैं कि 'लिंगों के बीच अधिकारों की असमानता का स्रोत कुछ और नहीं, सिर्फ 'सबसे ताकतवर का कानून' है। इस इकाई में स्त्री के संदर्भ में वर्ग, जाति और जेंडर को समझने की कोशिश की गई है। 21वीं सदी के इस सूचना प्रौद्योगिकी एवं तकनीक के दौर में सामाजिक संरचना अत्यंत जटिल हुई है। ऐसी स्थिति में बहुत सारी पुरानी संरचनाएं जहां निरर्थक सिद्ध हुई हैं वहीं कई पुरानी सत्ता संरचनाएं नए मुखौटे लगाकर अपना अस्तित्व बनाए रखने में सफल हुई हैं। पितृसत्ता भी ऐसी ही संरचनाओं में से एक है। इस इकाई में उन स्थितियों को समझने की कोशिश की गई है, जिनके कारण आज भी जेंडर भेद पूरी दुनिया में, और खास तौर से भारतीय समाज में अपने कुरूप अस्तित्व को बचाए रखने में सफल रहा है।

4.1.2. वर्ग

वर्ग का मूल संबंध अर्थ एवं उत्पादन साधनों पर अधिकार से जुड़ता है। समाज के एक जैसे आर्थिक आय वाले लोगों को एक वर्ग के अंतर्गत रखा जाता है। हम जानते हैं कि जीवन की मूलभूत जरूरतों को पूरा करने के लिए संपत्ति (वह चाहे मुद्रा के रूप में हो या वस्तु के रूप में) एवं उत्पादन के साधनों (भूमि, वन, पशु आदि) की आवश्यकता होती है। संपत्ति एवं उत्पादन के साधनों पर इसी अधिकार के आधार पर समाज कई भागों में विभाजित हो जाता है। आम तौर पर इसे उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग में बांटा जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी भी देश में किसी व्यक्ति की वर्ग स्थिति एक प्रकार के समूह या समुदाय की सदस्यता होती है। इस सदस्यता का निर्धारण करने वाले बहुत सारे तत्व होते हैं, जिनके बारे में विद्वानों में सहमति नहीं है, परंतु जिन बातों में लगभग सबकी सहमति दिखती है उसे निम्नलिखित रूप में रेखांकित कर सकते हैं-

- उत्पादन, स्वामित्व और उपभोग का संबंध
- समारोह, व्यवसाय और सामाजिक संबंध
- परिवार, रिश्तेदारी, विवाह आदि का संबंध
- राजनीति, शिक्षा आदि में भागीदारी

भिन्न वर्गों की अक्सर एक भिन्न या विशेष जीवन शैली होती है जो उनके वर्ग पर ज़ोर देती है. समाज का शक्तिशाली वर्ग प्रायः ऐसे चिह्नों और भाषा कोड का प्रयोग करता है जो भीतरी और बाहरी लोगों के बीच उसे खास बनाती है।

इसी प्रकार आर्थिक संसाधनों पर अधिकार के आधार पर कुछ विद्वान वर्गों को प्रभु वर्ग, पूंजीपति वर्ग, श्रमिक वर्ग, सर्वहारा वर्ग जैसे नाम भी देते हैं। चूंकि आय का सीधा संबंध रोज़गार से होता है इसलिए किसी व्यक्ति का काम या रोजगार उसके वर्ग का सूचक हो जाता है। उदाहरण के लिए शिक्षक, कलेक्टर, चपरासी, कुम्हार आदि खास तरह के कामों के नाम हैं, परंतु इनसे वर्ग की तरफ संकेत मिलता है, क्योंकि इसी के आधार पर जीवन स्तर, रहन-सहन और भविष्य के अवसर आदि भी निर्धारित होने लगते हैं। धीरे-धीरे हर वर्ग की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति विकसित होती चली जाती है। इस संस्कृति के कारण समाज में अघोषित रूप से एक स्तर भेद विकसित हो जाता है। कहा जा सकता है कि खुद को महत्वपूर्ण समझने की आदिम इच्छा के कारण एक वर्ग अपनी विशिष्ट संस्कृति का सायास निर्माण करता है और अपने आचार (आचरण) एवं विचार को समाज के दूसरे लोगों से भिन्न बनाकर रखता है। आय की शक्ति के कारण ही कुछ लोग अपने एवं दूसरों के कामों का निर्धारण करने लगते हैं। संपत्ति एवं उत्पादन साधनों पर अधिकार के बल पर वे विभिन्न स्थितियों पर नियंत्रण की एवं मनोनुकूल निर्णय (रोज़गार, राजनीति, शिक्षा आदि में) की क्षमता पा जाते हैं। धीरे-धीरे एक वर्ग के सदस्यों के आपसी हित जुड़ते चले जाते हैं और वर्ग विशेष के सदस्यों को उनकी प्रतिभा और श्रम की बजाय उनके वर्ग के कारण खास सुविधाएं, काम के अवसर एवं तरह-तरह के विकल्प मिलने लगते हैं। इसका दूसरा पक्ष यह होता है कि अपने वर्ग के लोगों के समान हितों को ध्यान में रखकर सत्तासीन या प्रभु वर्ग दूसरे वर्ग के लोगों को इन सुविधाओं से वंचित करने लगता है और उस वर्ग के सदस्य के श्रम एवं दक्षता की अनदेखी करता है। इसी के आधार पर शादी-विवाह एवं पारिवारिक संबंधों का भी निर्धारण होता है। इस प्रकार वर्ग के निर्धारण में मूलतः संपत्ति की भूमिका होती है, परंतु संपत्तिजन्य शक्तियां अन्य सत्ताओं और संबंधों को संचालित करती हैं। वर्ग के निर्धारण में जाति की तरह धर्म, आस्था आदि का बड़ा प्रभाव नहीं होता, परंतु एक भूमिका होती है। सत्ता में मौजूद लोगों के उच्च जीवन स्तर, समाज में सम्मान आदि के कारण दूसरे वर्गों के लोग उनके धर्म और जीवन दृष्टि से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार निम्न एवं मध्य वर्गों के लोग उच्च वर्ग का अनुकरण करते हैं और उसके जैसा बनना चाहते हैं।

4.1.3. जाति

जाति एक रूढ़ सामाजिक व्यवस्था है, जिसका संबंध विशेष रूप से हिंदू धर्म के अंतर्गत किसी खास समुदाय या वंश में जन्म लेने या उस समुदाय का सदस्य होने से होता है। जाति का संबंध प्राचीन वर्ण व्यवस्था से है। वर्ण का अर्थ रंग होता है। अनुमान किया जाता है कि यह त्वचा के रंग का सूचक रहा होगा। ऋग्वेद में परम पुरुष के शरीर के विभिन्न हिस्सों मुंह, भुजा, जंघा और चरण से क्रमशः चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के प्रकट होने की बात आती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राचीन समय के हिंदू धर्म के प्रभावी समुदाय ने पहले कर्म के आधार पर समाज के सदस्यों को चार प्रमुख भागों में विभाजित किया और फिर धीरे-धीरे इनके अनेक उपभाग बनते चले गए। कुछ समय बाद इसे कर्म की बजाय जन्म के आधार पर दृढ़ कर

दिया गया और धीरे-धीरे सैकड़ो जातियां बन गईं। जाति कई सौ सालों से चलने वाली परंपरा से जुड़ी होती है और एक ही जाति/समुदाय के सदस्यों में परस्पर वैवाहिक संबंध से ये आगे बढ़ती रहती है। धर्म से संबद्ध होने के कारण शक्ति संपन्न प्राचीन समाज जाति का संबंध ईश्वरीय शक्तियों एवं प्राकृतिक व्यवस्था आदि से जोड़ता रहा है, परंतु जाति एक सामाजिक वास्तविकता है और इसका जैविक या प्राकृतिक आधार नहीं होता। वर्ग से यह इस मामले में भिन्न होता है कि वर्ग सबके लिए खुला होता है और निम्न वर्ग का व्यक्ति उच्च वर्ग का या

वर्ग का व्यक्ति निम्न वर्ग का सदस्य हो सकता है, परंतु चूंकि जाति का आधार पैतृक होता है और इसका निर्धारण जन्म से होता है, इसलिए इसका अंग रहते हुए इसमें परिवर्तन संभव नहीं होता। इस प्रकार किसी व्यक्ति की जाति पूरे जीवन के लिए निश्चित होती है। जाति का आधार धार्मिक होता है और सारी जातियां एक खास व्यवस्था एवं अनुक्रम में बंधी होती हैं। इस व्यवस्था में धर्म और प्रभावी समाज की इच्छा को ईश्वर की इच्छा के रूप में स्थापित किया जाता है। कई देशों में सामाजिक भेद पाया जाता है, परंतु भारत के हिंदू धर्म की जाति व्यवस्था की तरह अत्यंत सुनियोजित रूप में यह भेद अन्यत्र नहीं मिलता। चूंकि हिंदू धर्म में पुरुष प्रधानता सिद्ध है, इसलिए जाति का निर्धारण माता के आधार पर नहीं, बल्कि पिता के आधार पर होता है। किसी दूसरी जाति की स्त्री विवाह के बाद अपने पति के जाति की सदस्य हो जाती है। भारतीय परिवेश में जातिभेद वर्गभेद और जेंडर दोनों पर भारी पड़ता है।

4.1.4. जेंडर

इस शब्द का प्रयोग दो रूपों में होता है। पहले यह एक व्याकरणिक इकाई के रूप में प्रयुक्त होता था, जिसे हिंदी में लिंग कहते हैं। अंग्रेज़ी में हम मैस्कुलीन और फेमिनिन जेंडर के रूप में इसे देखते हैं। परंतु यहां जेंडर का संबंध किसी पुरुष अथवा स्त्री की सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान से है। जैविक रूप में किसी का स्त्री या पुरुष होना एक प्राकृतिक घटना है, परंतु इसी के आधार पर जब समाज एक खास तरह का पूर्वग्रह या अवधारणा विकसित कर उसके लिए तमाम तरह के नियम कानून लगा देता है और जैविक लिंग के आधार पर कई प्रकार के भेद करने लगता है तो उसे जेंडर से जोड़ा जाता है। कहा जा सकता है कि जैविक पहचान से जुड़े होने के कारण जेंडर सामाजिक भेद की प्राचीनतम और (लगभग शाश्वत जैसी बना दी गई) व्यवस्था है। यह व्यवस्था किसी के स्त्री या पुरूष होने के आधार पर सामाजिक दृष्टि से भिन्न व्यवहार करती है। जेंडर का संबंध एक खास तरह की सोच या विचारधारा से है, जिसमें धार्मिक विश्वास, रीति रिवाज, मूल्य, परंपराएं आदि शामिल होती हैं जो नवजात बच्चे को जन्म से ही इस संरचना के अनुकूल बनाने का काम करती हैं। इस विचारधारा को स्वाभाविक रूप से सामाजिक व्यवस्था एवं संस्कृति का अंग बना दिया जाता है जो समाज में पीढ़-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती रहती है। यह व्यवस्था जीवन की मूलभूत जरूरतों, जैसे-वस्त्र, भोजन,

भाषा आदि को जेंडर के आधार पर तय करते हुए इसे तार्किक जामा पहनाती है और इसे न्यायोचित सिद्ध करती है।

4.1.5. जाति, वर्ग और जेंडर का अंतर्संबंध

जेंडर एक साथ वर्ग और जाति दोनों से जुड़ता है। जाति और जेंडर भेद में सबसे बड़ा अंतर जैविक भेद का है। इन दोनों के बीच जटिलता का कारण जैविक रूप से अलगाव है। स्त्री और पुरुष को बाह्य विशेषता के आधार पर देखकर अलग किया जा सकता है, परंतु भिन्न जातियों के लोगों को देखकर अलग नहीं किया जा सकता। दूसरी बात स्त्री-पुरुष एक घर, एक परिवार में साथ-साथ रहते हैं, दलितों की तरह उनकी बस्ती अलग नहीं होती। इसीलिए स्त्री का मुद्दा जटिल हो जाता है। **जॉन स्टुअर्ट मिल** जाति एवं वर्ग की तुलना में स्त्री के शोषण की भिन्नता बताते हुए लिखते हैं, *'हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि जिन लोगों के पास सत्ता है (यानि पुरुष) उनके पास किसी विद्रोह को विफल करने के लिए साधनों का एक बहुत बड़ा भंडार है। यहां हर गुलाम हर समय मालिक की आंख के नीचे, या यूं कहें कि उसके हाथों में रहता है। अपनी तरह के अन्य गुलामों की बजाय वह अपने मालिक के ज्यादा करीब रहता है। इसलिए उसके खिलाफ किसी किस्म के संगठन का कोई रास्ता नहीं बचता। स्त्रियों के मामले में पराधीन वर्ग का हर सदस्य हर समय प्रलोभन और भय के मिश्रित माहौल में रहता है।'* भारत के संदर्भ में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति का गहरा संबंध जाति व्यवस्था से है। दरअसल जाति व्यवस्था ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के नियमों से संचालित होती है, जिसकी पूरी प्रक्रिया स्त्री और विवाह व्यवस्था पर आश्रित है। जाति व्यवस्था के पुनरूत्पादन में विवाह व्यवस्था की अतुलनीय भूमिका रही है। **उमा चक्रवर्ती** इस बात को रेखांकित करते हुए लिखती हैं कि, *''ब्राह्मणवादी पितृसत्ता नियमों और संस्थानों का ऐसा पुंज है, जिसमें जाति और जेंडर एक दूसरे में गुंथे हुए हैं और एक दूसरे का स्वरूप तय करते हैं, जिसमें स्त्री, जातियों के बीच का पदानुक्रम बनाए रखने के लिए बतौर साधन इस्तेमाल होती है।''* इसी कारण जाति भेद का भरपूर असर स्त्रियों की स्थिति पर पड़ता है। उच्च जातियों की स्त्रियों की समस्याएं अलग होती हैं। इनमें पर्दा प्रथा अधिक होती है और इनके शरीर पर पुरुष समाज का नियंत्रण अधिक होता है। शादी से पहले इन्हें कौमार्य सुरक्षित रखने, पति के प्रति एकनिष्ठ रहने और पति की मृत्यु के बाद आजीवन विधवा जीवन जीने जैसे नियमों का पालन करना पड़ता है। तथाकथित निचली जाति की स्त्रियों में तुलनात्मक रूप से स्वतंत्रता होती है और उन्हें पर्दा या मर्यादा का निर्वहन कम करना पड़ता है। विधवा या तलाकशुदा होने के बाद भी इन्हें किसी पुरुष के साथ मान्य संबंध बनाने (जो पुनर्विवाह जैसा होता है, हालांकि कुछ अपवादों को छोड़कर इसमें विवाह की रस्म नहीं निभाई जाती हैं) की आज़ादी भी होती है, परंतु यह आज़ादी बहुत सीमित होती है, वास्तविकता यह है कि निम्नजाति की स्त्रियों को जाति व्यवस्था, पितृसत्ता और निचले वर्ग का सदस्य होने का दंश इन तीनों को झेलना पड़ता है। उन्हें पुरुषों के साथ-साथ उच्च वर्ग की स्त्रियों का भी शासन सहना पड़ता है। स्त्रियों के बीच भी कई तरह की भिन्नताएं हैं।

जाति और जेंडर का गहरा संबंध कई स्तरों पर दिखाई पड़ता है। स्त्रियों की यौन पवित्रता को पुरुष और उसकी जाति के सम्मान के साथ जोड़ कर देखा जाता है। इसके पीछे धन से जाति तक की कई तरह की सत्ताएं काम करती हैं। इसी के आधार किस स्त्री से कौन-सा रिश्ता रखना है यह तय होता है। 'गरीब की जोरू, गांव की भौजी' जैसी कहावते इसी सच्चाई को दर्शाती हैं। विवाह संबंधों से परिवार के सम्मान में बढ़ोत्तरी और कमी आती है। यही नहीं अंतरजातीय विवाह के बाद परिवार विशेष को जाति या खान-पान से बहिष्कृत तक कर दिया जाता है। उच्च जाति की स्त्रियां अपनी बेड़ियों को अपना आभूषण समझ कर छोटी जाति की स्त्रियों की उपेक्षा करती हैं। वे पवित्रता और मर्यादा के कठोर बंधन का पालन करती हैं और उसे अत्यंत महत्वपूर्ण समझती हैं। इन स्त्रियों की पवित्रता का गहरा संबंध वंश और रक्त की शुद्धता से जोड़ा जाता है जो यौन पवित्रता के रूप में सामने आता है। उच्च जातियां स्त्रियों की यौन पवित्रता और अशिक्षा का उपयोग कर पितृसत्ता को बचाए रखती हैं और पतिव्रता तथा सती-साध्वी स्त्रियों के महिमामंडन द्वारा स्त्रियों से उनकी अपनी ही अधीनता के लिए सहमति प्राप्त करती हैं। दूसरे शब्दों में मनोवैज्ञानिक आधिपत्य (एक तरह के ब्रेनवाश) के द्वारा पितृसत्ता स्त्रियों में पुरुष मानसिकता को पिरो कर अपने वजूद को बचाए रखती है। उन्हें ममता के आवरण में लपेटकर अंधविश्वास में बांधा जाता है, माता-पिता पितृसत्ता को प्रेमपूर्वक घुट्टी की तरह पिलाते हैं। बचपन से ही ऐसी ट्रेनिंग दी जाती है जिसका जाने-अनजाने वे जीवन भर पालन करती हैं। पितृसत्ता स्त्री अधीनता को स्त्री के शरीर के साथ अनिवार्य तौर पर जुड़ा हुआ मानती है, जिसे समाज विज्ञान में 'जैविक निर्धारणवाद' कहा जाता है। इसे धार्मिक जामा पहनाते हुए और स्त्रियों को मूलतः मातृत्व से जोड़ते हुए मातृत्व का महिमामंडन किया जाता है। मातृत्व भी ऐसा जिसमें पुत्र की प्राप्ति हो। बांझ या पुत्रहीन स्त्रियां अभिशाप की तरह देखी जाती हैं। अक्सर इस बात की अनदेखी की जाती है कि मातृत्व केवल वरदान नहीं, स्त्रियों के लिए एक बंधन भी है। खास तौर से भारत जैसे देश में जहां बाल मृत्यु दर काफ़ी अधिक है, एक तरह के असुरक्षा बोध से परिवार ग्रस्त रहता है कि अगर यह बच्चा (विशेष कर बालक) मर गया तो घर का चिराग बुझ जाएगा। इसके परिणाम स्वरूप प्रत्येक स्त्री को कई बच्चों को जन्म देना होता है और वे अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्मित करने की बजाय बच्चा पैदा करने की एक फैक्ट्री जैसी बन जाती हैं। गर्भधारण के दौरान बल की कमी, तेज़ दौड़ पाने में अक्षमता और अल्पविकसित बच्चे की देखभाल के बंधन के कारण अक्सर स्त्रियों को कमज़ोर माना जाता है यानि स्त्रियों को उनकी प्रजनन क्षमता की विशेष जैविक शक्ति के कारण सत्ता संरचना में उचित स्थान नहीं दिया जाता। निश्चित रूप से जैविक कमज़ोरी का यह ऐतिहासिक तर्क गलत है, क्योंकि अगर शारीरिक बल की कमी के कारण स्त्रियां हीन थीं तो फिर शारीरिक रूप से मजबूत शूद्र क्यों सत्ता से दूर रखे गए। स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था के नीति निर्धारक वर्ग या वर्ण अपनी सुविधानुसार किसी को जैविक कारणों से तो किसी को पैतृक कारणों से हेय बताकर खुद केंद्र में बने रहने का उपाय ढूंढ लेते थे।

अपने अनुभव से सीखें

अपने घर की या रिश्ते की स्त्रियों से जुड़ी घटनाओं के आधार पर पता करें कि क्या उन्हें भी वही अधिकार प्राप्त हैं जो उस घर के लड़कों को प्राप्त हैं, अगर नहीं तो ऐसी कुछ घटनाओं की सूची बनाकर उनके कारणों को खोजें।

यह तय है कि पितृसता का अपना स्वतंत्र वज़ूद रहा है, परंतु उसे निर्धारित करने में संपत्ति, उत्पादन प्रणाली एवं वर्ग की सत्ता की भी भूमिका रही है। मार्क्सवादी स्त्रीवाद पितृसत्ता को पूंजी की उपज मानते हुए परिवार को स्त्री शोषण का प्राथमिक स्थल बताता है। एंगेल्स ने स्त्रियों के उत्पादन की प्रक्रिया से दूर होने और घरेलू श्रम के दायरे में सीमित हो जाने को उनके कमज़ोर पड़ने का महत्वपूर्ण कारण माना है। उन्होंने माना कि पहला श्रम विभाजन परिवार में स्त्री पुरुष के श्रम का बंटना था। कृषि केंद्रित समाज के औद्योगिक समाज में बदलने के बाद यह शोषण और बढ़ा। इस व्यवस्था में स्त्रियों के घरेलू श्रम से सीधे पूंजीपति को लाभ होता है न कि उनके पुरुषों को। उपनिवेशीकरण के कारण पूंजीवाद अपने स्वाभाविक रूप में नहीं आया। पूंजीवादी समाज में व्यक्ति स्वतंत्रता की प्रधानता होती है, परंतु भारतीय परिवेश में व्यक्ति स्वतंत्रता का मूल्य विकसित नहीं हुआ। एक तरह से पुरानी संरचना को, जड़ मूल्यों को और सामंतवाद को पूंजीवाद ने बचाने का काम किया। पूंजी ने स्त्रियों को मुक्त करने की बजाय उन्हें घरेलू बनाए रखने की साजिश रची। बच्चों की, घर की ज़िम्मेदारी, पुरुषों को श्रम हेतु तरोताजा बनाने, उन्हें ऊर्जावान बनाने की ज़िम्मेदारी स्त्री निभाती है जिसका लाभ पूंजीपति उठाता है। परिणामतः स्त्री का वर्ग नहीं बदल पाता है और वह मध्य या उच्च वर्गीय परिवार का अंग होते हुए भी निम्नवर्गीय जीवन व्यतीत करती रह जाती है। यहां तक कि घरेलू स्त्रियों को वेतन देने की मांग भी उन्हें घरेलू बनाए रखने में मदद करेगा, यह उनके व्यक्तित्व को सीमित बनाए रखेगा और उन्हें खुले अवसरों से दूर रखेगा। यह कुछ ऐसा ही है जैसा वेश्याओं के स्वतंत्र व्यक्तित्व को विकसित होने देने की बजाय उन्हें कुछ सुविधाएं दे कर उनकी यथास्थिति को बनाए रखा जाए।

पितृसत्ता पुरानी संरचना को बिना बदले खुद को नए रूप में ढालती रहती है। ठीक वैसे ही जैसे ब्राह्मणवाद पुराने तर्कों की बजाय नए वैज्ञानिक तर्क देकर हर साल खुद को नया कर रहा है। दरअसल मूल समस्या मानसिकता और संरचना को बदलने की है। बड़े शहरों में छुआछूत के कारण नौकर-नौकरानी अपना नाम और जाति बदल-बदल कर घरों में काम करते हैं और अपने खान-पान के बारे में भी उन्हें झूठ बोलना पड़ता है। उच्च वर्गीय परिवारों में नौकरों के शौचालय अलग होते हैं। इस प्रकार जाति और वर्ग घुलमिल गए हैं। जाति, वर्ग और जेंडर के सवाल एक साथ मिलकर चलते हैं और एक दूसरे से प्रभावित होते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

क्या आप जानते हैं?

हरियाणा के मेवात ज़िले में बकायदा बोली लगाकर बेची जा रही लड़की की कीमत 7000 रूपये और भैंस की कीमत 70000 रूपये है।

यूएन वीमेन समर्थित एनएफ़आई फ़ैलोशिप के तहत किए गए अध्ययन का हिस्सा, रविवार.कॉम पत्रिका में 17 अगस्त 2013 को प्रकाशित

4.1.6. संस्कृति की सत्ता और स्त्री मुक्ति

किसी भी समाज की संस्कृति में उस समाज के वर्चस्वशाली समुदाय की सत्ता की गूंज स्पष्ट सुनाई देती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि ताकतवर की संस्कृति ही पूरे समाज की संस्कृति का रूप ले लेती है। उस समूह की भाषा, रीति-रिवाज, त्यौहार आदि का दूसरे समूह के लोग अनुकरण करते हैं। सदियाँ बीत जाने के बावजूद स्त्री की स्थिति में अल्प बदलाव आने के पीछे इस सांस्कृतिक सत्ता की बड़ी भूमिका रही है। इस संस्कृति का पोषण घर-परिवार से लेकर विद्यालयों तक में किया जाता है और इसे ही शिक्षित एवं सुसंस्कृत होने का पर्याय माना जाता है। भारतेंदु काल की पत्रिका 'बालाबोधनी' में स्त्रियों को अच्छी गृहिणी बनने की और पितृसत्ता को मज़बूत करने की शिक्षा दी जाती थी। किसी जाति या जेंडर के निर्धारण में यह सांस्कृतिक सत्ता बहुत महीन ढंग से लगातार काम कर रही होती है। एक युवा किसी पार्क की बेंच पर लेटकर रात गुजार सकता है, परंतु एक लड़की ऐसा नहीं कर सकती और अगर ऐसा हुआ तो उसकी सभ्यता और संस्कृति खतरे में पड़ जाएगी। संस्कृति की यह सत्ता पहनावा, खान-पान, बोलने-हंसने की आवाज से लेकर शैक्षिक विषय के चयन (जैसे-लड़कियों को होम साइंस आदि पढ़ना चाहिए और उन्हें सेना, इंजीनियरिंग आदि की पढ़ाई से दूर रहना चाहिए) तक को प्रभावित करती है। इसी संस्कृति के कारण जहां पुरुष यौनिकता पर कोई बंधन नहीं होता वहीं, स्त्री यौनिकता को तमाम संस्कारों, प्रतीकों और चिह्नों के माध्यम से नियंत्रित किया जाता है। इसके लिए भिन्न अवस्थाओं में भिन्न वस्त्र, शरीर के गहने एवं सिंदूर आदि का प्रयोग किया जाता है। रजस्वला होने पर कई समाजों में पारिवारिक कार्यक्रम होते हैं और उच्च जातियों में रजस्वला होने से पहले विवाह की बात की जाती है। मासिक धर्म के समय भिन्न प्रकार के बंधन में बांधना, उसे शर्म और गंदगी से जोड़ना, प्राकृतिक क्रिया को एक सांस्कृतिक और सामाजिक क्रिया के रूप में स्थापित करना है। इसी प्रकार मुस्लिम परिवारों में वलीमा की संकल्पना है जो एक तरह से स्त्री की यौन पवित्रता को ही बनाए रखने की कवायद है। इस प्रकार एक स्त्री का दैनिक व्यवहार एवं उसका पूरा व्यक्तित्व इस सत्ता से नियंत्रित होता है।

इसी सत्ता के कारण स्त्री का पूरा वजूद किसी परिवार के इज्जत को बनाने और बिगाड़ने तक सीमित होकर रह जाता है। इसका सबसे बुरा परिणाम भ्रूण हत्या और घटते लिंग अनुपात के रूप में सामने आता है। 2011 की जनगणना में भारत का लिंगानुपात 940 (गांव में 949 शहर में 929) है। सर्वाधिक जनसंख्या वाले कुछ देशों से भारत के लिंगानुपात की तुलना भारत की सांस्कृतिक सत्ता का नमूना प्रस्तुत करती है-

सर्वाधिक जनसंख्या वाले दस देशों में लिंग अनुपात

क्रम संख्या	**देश**	**2001**	**2011**
	विश्व	986	984
1	चीन	944	926
2	भारत	933	940
3	संयुक्त राज्य अमेरिका	1029	1025
4	इंडोनेशिया	1004	988
5	ब्राजील	1025	1042
6	पाकिस्तान	938	943
7	रूस	1140	1167
8	बांग्लादेश	958	978
9	जापान	1041	1055
10	नाइजीरिया	1016	987

इस सूची में भारत से नीचे केवल एक देश चीन है, परंतु भारत की स्थिति चीन से भी दयनीय कही जाएगी, क्योंकि भारत अभी युवाओं का देश है और यहां की औसत आयु चीन से काफी कम है। आने वाले समय की स्थिति का पता बाल लिंगानुपात से चलता है। पिछले 50 वर्षों में भारत का बाल लिंगानुपात लगातार गिरता गया है और 2011 का बाल लिंगानुपात मात्र 914 (गांव में 923 शहर में 905) है जो चिंता का विषय है।

भारत की संपूर्ण जनसंख्या के लिंगानुपात एवं 0 से 6 वर्ष के बच्चों की संख्या के लिंगानुपात की तुलना

साल	0-6 वर्ष के बच्चों का अनुपात	कुल जनसंख्या का अनुपात
1961	976	941
1971	964	930
1981	962	934
1991	945	927
2001	927	933
2011	914	940

41.7. सारांश

स्पष्ट है कि जाति, वर्ग और जेंडर आपस में गहराई से जुड़े हुए हैं और स्त्री मुक्ति के जो भी रास्ते हैं वे इनके बीच से ही निकलते हैं। स्त्रियों का स्वास्थ्य, सम्मान, आजीविका यानि उनका पूरा व्यक्तित्व इन तीनों से प्रभावित होता है। पितृसत्ता केवल संरचना के रूप में नहीं विचार के रूप में वर्चस्व रखती है और विचारधाराएं आकाश से नहीं टपकतीं, वे उत्पादन के साधनों और जीवन के संघर्षों से विकसित होती हैं। विवाह एवं परिवार की विचारधारा को, जाति को एक समय की परिस्थिति ने उत्पादन साधनों की संरचना ने उत्पन्न किया था, यह किसी खास व्यक्ति के मस्तिष्क की कोरी उपज नहीं थे। आज के बदले हुए समय में भी अगर जाति भेद, जेंडर भेद और वर्ग भेद का अस्तित्व है तो इसी कारण है कि ये बदलते समय के साथ खुद को नए-नए रूप में ढ़ालते रहते हैं। स्त्री मुक्ति के लिए उस मूल संरचना को बदलना होगा जो इन विचारों को जन्म देते हैं।

4.1.8. बोध प्रश्न

1) भारतीय समाज में स्त्रियों की यौन-शुचिता की अवधारणा का स्वरूप क्या है?
2) अपने जिले के स्त्री-पुरुष लिंगानुपात और 0 से 6 वर्ष के बच्चों के लिंगानुपात की सूची प्राप्त करें और उन स्थितियों का विश्लेषण करें जो उस लिंगानुपात के लिए जिम्मेदार हैं।
3) अपने आस-पास से एक उँची जाति की स्त्री और एक तथाकथित नीची जाति की स्त्री का चयन करें और उनके वस्त्र, भाषा तथा मुहावरों का अध्ययन करें।

4) कुछ ऐसे विज्ञापनों का चयन करें जिनमें आपको जेंडर भेद स्पष्ट नजर आता है।

5) जाति, वर्ग और जेंडर का अंतर संबंध क्या है?

4.1.9. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

- मिल, स्टूअर्ट. स्त्री और पराधीनता, अनु. युगांक धीर, संवाद प्रकाशन, मेरठ-2002
- सिमोन द बोडवार; स्त्री उपेक्षिता, अनु. प्रभा खेतान, हिन्द पॉकेट बुक्स-1992
- खेतान, प्रभा. (2010). *बाजार के बीचः बाजार के खिलाफ*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
- पाठक, कुमार. रवीन्द्र. (2010). *जनसंख्या समस्या के स्त्री पाठ के रास्ते*. दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन.
- राजकिशोर. (2002). *स्त्री के लिए जगह*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
- यादव, राजेन्द्र. (2002).*आदमी की निगाह में औरत*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
- जैन, अरविन्द. (1994). *औरत होने की सजा.* नई दिल्ली. राजकमल प्रकाशन.

इकाई-2 आदिवासी एवं खानाबदोश स्त्री के प्रश्न

इकाई की रूपरेखा

4.2.0. उद्देश्य

4.2.1. प्रस्तावना

4.2.2. आदिवासी एवं खानाबदोश/घूमंतू स्त्री की स्थिति के संकेतक

- **4.2.2.1. जननांकिकी**
- **4.2.2.2. स्वास्थ्य**
- **4.2.2.3. शिक्षा**
- **4.2.2.4. संपत्ति का उत्तराधिकार**
- **4.2.2.5. जेंडर के आधार पर श्रम का बँटवारा**
- **4.2.2.6. राजनैतिक भागीदारी**
- **4.2.2.7. स्त्री की जगह (women's space)**

4.2.3. आदिवासी एवं खानाबदोश समुदाय की सामाजिक संरचना, सामाजिक प्रक्रिया एवं स्त्री

- **4.2.3.1. विवाह एवं विवाह-विच्छेद**
- **4.2.3.2. परिवार**
- **4.2.3.3. धर्म**

4.2.4. स्त्री के विरुद्ध हिंसा

- **4.2.4.1. घरेलू हिंसा**
- **4.2.4.2. यौन-उत्पीड़न**
- **4.2.4.3. वेश्यावृत्ति**

4.2.5. आदिवासी एवं खानाबदोश स्त्री की चुनौतियाँ

- **4.2.5.1. सामाजिक-सास्कृंतिक चनौतियाँ**
- **4.2.5.2. आर्थिक चुनौतियाँ**
- **4.2.5.3. राजनैतिक चुनौतियाँ**

4.2.6. सारांश

4.2.7. बोध प्रश्नों के उत्तर

4.2.8. शब्दावली

4.2.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

4.2.0.उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- आदिवासी एवं खानाबदोश स्त्री की सामाजिक स्थिति की रूपरेखा समझ पाएंगे।
- किसी समाज में स्त्री की स्थिति को निर्धारित करने वाले संकेतकों का वर्णन कर सकेंगे।
- आदिवासी स्त्रियों के रहन-सहन पर आर्थिक और राजनीतिक कारकों के जरिए पड़ने वाले असर का वर्णन कर सकेंगे।
- आदिवासी एवं खानाबदोश स्त्री की चुनौतियों पर टिप्पणी कर सकेंगे।

4.2.1. प्रस्तावना

प्रत्येक समाज में स्त्री या पुरुष की स्थिति उनके संबंधित सांस्कृतिक प्रतिमानों, सामाजिक मूल्यों और कार्यों के अनुसार निर्धारित होती है। ये प्रतिमान, मूल्य और कार्य प्रत्येक समाज में एक समान हों ऐसा जरुरी नहीं होता। इसलिए प्रत्येक समाज में स्त्री-पुरुष की स्थिति भी भिन्न-भिन्न होती है। जेंडर भूमिकाएं सामाजिक-सांस्कृतिक आधार पर निर्धारित होती हैं। प्रत्येक समाज अपनी अगली पीढ़ी को नातेदारी, लिंग, विवाह और उम्र के अनुसार दो जेंडरों की मौजूदगी और उनसे संबंधित कार्यों व भूमिकाओं के बारे में बताता है।
किसी समाज-विशेष में स्त्री की स्थिति को न्यायोचित ठहराने के लिए सामाजिक-सांस्कृतिक कारक ज़िम्मेदार होते हैं। हमेशा से ही किसी भी समाज में स्त्री की स्थिति का निर्धारण उस समाज की संस्कृति के आधार पर होता रहा है। किसी समाज में महिला की स्थिति उस समाज में पुरुष के संदर्भ में उसकी स्थिति (Status) को दर्शाती है। स्त्री की स्थिति को समझने के लिए हमें जेंडर के सामाजिक संबंध या स्त्री और पुरुष के बीच शक्ति संबंध को जानने की आवश्यकता होती है।

यूनाइटेड नेशन (UN) ने स्त्रियों की स्थिति को परिभाषित करते हुए कहा है कि, स्त्री की स्थिति से तात्पर्य स्त्री द्वारा समाज में निभाई जाने वाली भूमिकाओं (एक कर्मी, विद्यार्थी, पत्नी, माँ.....) एवं इससे जुड़ी शक्ति और गरिमा के साथ इन भूमिकाओं में निहित अधिकारों तथा कर्तव्यों के निर्वहन की प्रत्याशा से है। इसके अलावा स्त्री की स्थिति का तात्पर्य इस बात से भी है कि "पुरुष की तुलना में स्त्रियों का ज्ञान, आर्थिक संसाधनों और राजनैतिक शक्ति तक पहुँच किस हद तक है तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया और जीवन चक्र में किसी महत्वपूर्ण समय पर किस हद तक ये संसाधन उसे निजी स्वतंत्रता प्रदान करते है?"

स्त्रीवादी कार्यकर्ता और विद्वान मारिया मीज ने *'द सोशल ओरिजिन्स आफ द सेक्सुअल डिविजन आफ लेबर'* में लिखा है कि

"....पुरुषत्व (Male-ness) और स्त्रीत्व (Female-ness) जैविक रूप से प्रदत्त गुण नहीं हैं, बल्कि एक लंबे ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम हैं। प्रत्येक ऐतिहासिक युग में पुरुषत्व और स्त्रीत्व को अलग-अलग तरह से परिभाषित किया गया है। यह परिभाषा उन युगों में उत्पादन के मुख्य तरीकों पर आधारित रही है।....इसलिए स्त्री और पुरुष ने अपने स्वयं के शरीर के साथ गुणात्मक रूप से भिन्न रिश्ता विकसित किया। अतः मातृसत्तात्मक समाजों में स्त्रीत्व को सभी उत्पादक क्रियाओं के सामाजिक पैराडाईम (paradigm) की तरह वर्णित किया गया, क्योंकि वह (स्त्री) जीवन के उत्पादन जैसे मुख्य कृत्य से जुड़ी थी।"[1]

भारत में आमतौर पर पारिवारिक संरचना पितृस्थानिक, पितृवंशीय एवं पितृसत्तात्मक है। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था ऐसे शक्ति-संबंध की संस्कृति को दर्शाती है, जिसमें पुरुष की श्रेष्ठता और स्त्री की अधीनता (दासता) को बढ़ावा दिया जाता है।

मजूमदार और मदान के अनुसार, "प्रत्येक तरह के समाज में, खासतौर से पितृवंशीय समाजों में, स्त्री की परिस्थिति विभिन्न प्रकार की वर्जनाओं (taboo) से निर्धारित होती है, जो आमतौर पर स्त्री से जुड़ी होती हैं। ये वर्जनाएं संरक्षण देने वाली, नियंत्रित करने वाली या फिर उत्पादन से संबंधित हो सकती हैं..... यह वैज्ञानिक रूप से गलत होगा कि किसी समाज की स्त्री का अध्ययन इस पूर्वाग्रह के साथ किया जाए कि या तो उनका समाज में उच्च स्थान होगा या निम्न। इस प्रकार का दोहरापन आमतौर पर भ्रमित करने वाला होता है। कई बार इसके बीच की भी स्थितियाँ हो सकती हैं, ध्रुवीकरण भी हो सकता है, जो कि बहुत आश्चर्यजनक नहीं होगा। भारतीय परिवेश में स्त्री की परिस्थिति (status) आसानी से व्याख्यायित नहीं की जा सकती।"[2]

1

....male-ness and female-ness are not biological givens, but rather the result of a long historical process. In each historic epoch male-ness and female-ness are differently defied, the definition depending on the principal mode of production in those epochs….. Therefore, men and women develop a qualitatively different relationship to their own boides. Thus in matristic societies, female-ness was interpreted as the social paradigm of all productivity, as the main active principle in the production of life….(Mies, Maria,1988 A. "Social Origins of Sexual Divisions of Labour" in *Women: The last Colony*,.,p.73)

2

(The status of women in all types of societies, particularly in patrilineal, is determined by various types of taboos that are attached to the women generally. These taboos can be protective, preventive or productive….. it would be scientific error to approach the women of a society with a rigid bias to the view that they have either a low or a higher status, such dichotomies are generally misleading. There can be so

उन समाजों में जहाँ उत्पादन के प्रधान क्रिया-कलाप संग्रहण और बागवानी पर निर्भर करते हैं और पुरुष श्रम के लिए या पशुचारण के लिए गाँव से दूर गए होते हैं, स्त्रियाँ केंद्रीय भूमिका निभाती हैं। ऐसे समाजों में जब प्राथमिक और द्वितीयक जीविका उत्पादन के क्रिया-कलापों की गणना की गई तो पाया गया कि स्त्रियाँ पुरुषों से ज़्यादा काम करती हैं।

आदिवासी या जनजाति को परिभाषित करने को लेकर विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। फिर भी ज़्यादातर विद्वान मानते हैं कि इन समुदायों में कुछ आधारभूत समानताएँ होती हैं; जैसे- इनके सामाजिक जीवन में संगठन की प्रमुख इकाई नातेदारी होती है। इनके समाज में ऊँच-नीच की असमानता बहुत कम होती हैं। यह प्रायः समजातीय (होमोजिनस) होते हैं और तुलनात्मक रूप से राजनीतिक तौर पर साधारण और समतावादी होते हैं। आदिवासी समुदायों में धर्म साधारण होता है और इसमें जटिलता कम होती है।

भारत के संविधान में भी अनुसूचित जनजाति को परिभाषित नहीं किया गया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 366 (25) के अनुसार अनुच्छेद 342 के अंतर्गत जिन समुदायों को अनुसूचित किया गया है वे अनुसूचित जनजाति कहे जाते हैं।

भारतीय संविधान द्वारा किसी समुदाय विशेष को अनुसूचित जनजाति का दर्जा देने के लिए अपनाए गए मानक इस प्रकार हैं:

1. आदिम विशेषताओं के संकेत
2. विशिष्ट संस्कृति
3. भौगोलिक अलगाव
4. बाहरी समुदाय से मिलने जुलने में झिझक
5. पिछड़ापन

यद्यपि इन मानकों के बारे में संविधान में कुछ नहीं कहा गया हैं, पर ये पूरी तरह से स्थापित औऱ स्वीकृत किए गए हैं।*(स्त्रोत: वार्षिक रिपोर्ट-2010-11, मिनिस्ट्री ऑफ ट्राइबल अफेयर्स, भारत सरकार)*

उत्पादन के मुख्य तरीकों (mode of production) के आधार पर भारतीय आदिवासी समूहों को 6 वर्गों में बाँटा जा सकता है (हसनैन,2002)-

1) शिकार और भोजन संग्रहण करने वाले
2) झूम खेती करने वाले

many intermediate status, there can be polarity, though it may not be so shocking. The status of women in Indian context cannot be defined simply.) (1956;147-148)

3) पशुपालक
4) कृषक
5) शिल्पी एवं नट
6) मज़दूर

सामान्यतः ये आदिवासी समुदाय एक निश्चित क्षेत्र में निवास करते हैं। परंतु, कुछ शिकार और भोजन संग्राहक, पशुपालक तथा शिल्पी एवं नट समुदाय खानाबदोश भी होते हैं, जैसे- चैन्चु, कादर, गद्दी भोटिया, भील आदि।

खानाबदोश (नोमेडिक) आदिवासी समुदाय भोजन की खोज (जैसे- चैन्चु, कादर) में या फिर अपने पशुओं के लिए चारागाह की खोज (जैसे- गद्दी,गुजर) में या फिर अपनी कला और शिल्प (जैसे- भील, बेडिया) को बेचने के लिए एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते हैं।

आदिवासी एवं खानाबदोश स्त्रियाँ अपने समाज के सामाजिक-आर्थिक संरचना में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। डेबार कमीशन की रिपोर्ट (1961) में उल्लेख किया गया है कि गैर-जनजातीय समुदाय की स्त्रियों से इतर, जनजातीय समुदाय की स्त्रियाँ कोल्हू के बैल की तरह या लद्दू जानवर की तरह काम में नहीं जुती रहतीं, बल्कि वह अपने सामाजिक जीवन से जुड़े दूसरे सभी मामलों में भी अपेक्षाकृत स्वतंत्र और दृढ़ निर्णय लेने का अधिकार रखती हैं। जनजातीय समुदाय की स्त्रियाँ सामान्यतः जातीय (caste) समाज की स्त्रियों की तुलना में ज़्यादातर मामलों में ज़्यादा स्वतंत्र होती हैं। पारंपरिक और प्रथागत (customary) जनजातीय मानक तुलनात्मक रूप से स्त्रियों के प्रति ज़्यादा उदार होते हैं।

4.2.2. आदिवासी एवं खानाबदोश स्त्री की स्थिति के संकेतक

जनजातीय समाज समतावादी समाज माना जाता है, खासकर जातिवादी समाज की श्रेणीबद्ध व्यवस्था के संदर्भ में तो निश्चय ही। लेकिन स्त्री की स्थिति के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्त्री की स्थिति भिन्न-भिन्न समाज में, भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में अलग-अलग होती है। किसी समाज में स्त्रियों की स्थिति अक्सर उनके आय के स्तर, रोज़गार के अवसर, शिक्षा, स्वास्थ्य के साथ-साथ परिवार, समुदाय और समाज में वे जो भूमिका अदा करती हैं, उससे निर्धारित होती है (घोष, 1987)।

किसी भी अन्य समाज की ही तरह जनजातीय समुदाय में भी स्त्रियाँ कुल जनसंख्या की लगभग आधी आबादी होती हैं। जैसा कि हमने पहले भी यह जाना है कि किसी समाज में स्त्री की परिस्थिति (status) उसी समाज में पुरुषों की परिस्थिति की तुलना में आँकी जाती है। यहाँ भी आदिवासी एवं खानाबदोश समुदाय की स्त्री की उसके समुदाय में परिस्थिति जानने के लिए हम मुख्य अनुभवसिद्ध संकेतकों को आधार बनाएंगेः

1. जननांकीय स्थिति 2. स्वास्थ्य 3. शिक्षा 4. संपत्ति पर उत्तराधिकार 5. जेंडर के आधार पर श्रम का बँटवारा 5. राजनैतिक स्थिति 6. स्त्री की जगह (space)।

4.2.2.1. जननांकीय

किसी जनसंख्या की जननांकीय स्थिति का मूल्याकंन करने के लिए लिंग-अनुपात, अस्वस्थता-दर और मृत्युदर के पैटर्न और जीवन प्रत्याशा जैसे संकेतकों का प्रयोग किया जाता है। आदिवासी एवं खानाबदोश समुदाय में स्त्री की जननांकीय स्थिति को समझने के लिए हम लिगांनुपात और मृत्युदर पर विशेष ध्यान देंगे।

2001 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजाति की जनसंख्या देश की कुल जनसंख्या का 8.2% (84.3 मिलीयन)है।

भारत में जनसंख्या का संगठन पुरुषों के पक्ष में पाया जाता है। सामान्य जनसंख्या की तुलना में अनुसूचित जनजातियों में स्त्री-पुरुष की संख्या में अंतर कम पाया जाता है। पिछली चार जनगणना के आँकड़ों के अनुसार स्त्री-पुरुष अनुपात इस प्रकार है:

वर्ष	राष्ट्रीय	अनुसूचित जनजाति
1971	930	982
1981	935	983
1991	927	972
2001	933	978

जनजातीय समुदायों में भी पुत्र के पक्ष में प्राथमिकता देखी गई है लेकिन वे इसके लिए लड़कियों को पैदा होते ही मार नहीं देते हैं। लड़कियों के साथ पक्षपातपूर्ण रवैया नहीं दिखाया जाता और उनके लिए कड़े सामाजिक प्रतिमान भी नहीं हैं। वे सामाजिक समारोहों और अन्य मनोरंजक क्रिया-कलापों, जैसे- नृत्य, गायन आदि में भाग लेने के लिए स्वतंत्र होती हैं।

आदिवासी एवं खानाबदोश समुदायों में दहेजप्रथा नहीं पाई जाती, बल्कि विवाह के समय लड़के का पिता लड़की के पिता को वधु-मूल्य (bride price) चुकाता है। विधवा और तलाकशुदा स्त्रियों को पुनर्विवाह करने की स्वतंत्रता होती है। मातृवंशीय समाजों को या विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर आमतौर पर लड़कियाँ संपत्ति की उत्तराधिकारी नहीं होती हैं।

4.2.2.2. स्वास्थ्य

जो कारक आमतौर पर जनजातीय समुदायों के स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं, वे जनजातीय स्त्रियों के मामले में ज़्यादा ही उल्लेखनीय हो जाते हैं। तमाम अध्ययनों में ऐसा पाया गया है कि न केवल जनजातीय वरन गैर-जनजातीय समुदायों में भी अशिक्षा का स्वास्थ्य से सीधा संबंध है।

जो सांस्कृतिक प्रतिमान विशेष रूप से स्त्रियों के स्वास्थ्य पर प्रभाव डालते हैं वे हैं- शादी, शादी के तरीके (एक-विवाह या बहु-विवाह), शादी की उम्र, प्रजनन और बच्चे के लिंग से संबंधित सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य, समाज में उस स्त्री की परिस्थिति, निर्णय लेने की क्षमता और सामाजिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं के आधार पर स्त्री से आदर्श भूमिका निभाने और कार्य करने की अपेक्षा करना। (क्षत्रिय, 1992).

विभिन्न अध्ययनों द्वारा यह पाया गया है कि राष्ट्रीय औसत की तुलना में जनजातीय समुदायों में उच्च शिशु मृत्युदर, पोषण का निम्नस्तर, निम्न जीवन-प्रत्याशा, कुछ जनजातीय समुदायों में ग्लूकोज-6-फास्फेट एन्जाइम की कमी और सिकिल-सेल जैसी बीमारी के मामले ज़्यादा पाए जाते हैं। साथ-साथ दूसरे आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्गों की तरह ही जनजातीय समुदाय की स्त्रियों में भी उच्च प्रजनन दर और इससे जुड़ी स्वास्थ्य समस्याएँ आम बात हैं। (बासु एवं साथी, 1990).

उड़ीसा के एक जनजातीय समुदाय पौड़ी भुनिया पर किए गए एक अध्ययन में (अली, 1980) बताया गया है कि 268 लोगों के सैंपल में 17 पुरुषों की तुलना में 52 स्त्रियाँ कुपोषण से संबंधित बीमारियों से पीड़ित थीं, क्योंकि वनों की अंधाधुंध कटाई, बढ़ती दूरी और मिट्टी की उर्वरता में कमी के कारण जनजातीय परिवारों के लिए भोजन की उपलब्धता में कमी आई, जिसका सीधा असर समुदाय के स्वास्थ्य पर पड़ा, लेकिन स्त्रियाँ इससे ज़्यादा प्रभावित हुईं (बसु,1993 से उद्धृत)। आमतौर पर परिवार के स्तर पर पोषण की स्थिति की सीमा का निर्धारण सांस्कृतिक प्रतिमानों और मूल्यों तथा सामाजिक-आर्थिक कारकों द्वारा होता है। जनजातीय स्त्रियों में उच्च प्रजनन उनकी पोषण की स्थिति पर सबसे बुरा असर डालने वाला सामाजिक-सांस्कृतिक कारक है, क्योंकि गर्भावस्था और उसके बाद स्तन्य काल (दूध पिलाने की अवधि) के उपापचयी दबाव (मेटाबॉलिक स्ट्रेस) को इस दौरान समुचित भोजन की पूर्ति द्वारा संतुष्ट कर पाना संभव नहीं होता है।

लड़का और लड़की दोनों ही कुपोषण, संक्रमण और अन्य खतरों से समान रूप से प्रभावित होते हैं। जनजातीय समुदायों में गरीबी और उसके कारण उत्पन्न कुपोषण से लड़के-लड़कियाँ दोनों की ही शिशु मृत्युदर बहुत अधिक होती है।

4.2.2.3. शिक्षा

सामाजिक बदलाव लाने वाले कारकों में शिक्षा एक महत्वपूर्ण कारक है। शिक्षा न केवल ज्ञान और समझ बढ़ाती है, बल्कि यह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनने में भी सहायक होती है।

जनजातीय समुदायों में साक्षरता दर बहुत ही कम (25.9%) पाई गई है और खासकर के जनजातीय स्त्रियों में (14.5%)।(NSSO, 1991)। 1961 में अनुसूचित जनजाति की अपरिष्कृत साक्षरता 8.5% थी, जो 2001 में बढ़कर 38.4% हो गई। 2001 की जनगणना के अनुसार आदिवासी स्त्रियों में साक्षरता दर बढ़कर 34.76 प्रतिशत हो गई। अनुसूचित जनजातियों में ज़्यादातर साक्षर केवल प्राथमिक स्तर तक ही साक्षर हैं।

Table-1 अनुसूचित जनजाति में साक्षरता दर 1961-2001

वर्ष	पुरुष	स्त्री	कुल
1961	13.83	3.16	8.53
1971	17.63	4.85	11.33
1981	24.52	8.04	16.35
1991	40.65	18.19	29.60
2001	59.17	34.76	47.10

Source: Selected Educational Statistics 2004–05, Ministry of Human Resource Development.

अन्य सामाजिक समूहों की ही तरह जनजातीय समाज की स्त्रियाँ भी पुरुषों की तुलना में कम साक्षर हैं। उनका निम्न शैक्षणिक स्तर उनकी निम्न साक्षरता दर, स्कूलों में कम दाखिलों तथा स्कूलों में उनकी कम उपस्थिति से साफ स्पष्ट होता है। बहुत से पशुपालक आदिवासी, जैसे- गद्दी, भोटिया, गुज्जर आदि खानाबदोश जीवन व्यतीत करते हैं। वे चारागाह की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते हैं। कई अन्य जनजातियां जैसे भील, लोधा, बंजारा आदि भी हैं, जो काम की खोज में एक जगह से दूसरी जगह जाती रहती हैं। ऐसी स्थितियों में शिक्षा का उपेक्षित हो जाना स्वभाविक है।

जनजातीय समुदाय में लड़के और लड़कियाँ दोनों ही बालश्रम करते हैं। लड़कियाँ अपने छोटे भाई-बहनों की देख-रेख के साथ-साथ घर और खेतों के छोटे-मोटे कामों में भी हाथ बंटाती हैं। इस कारण उन्हें पढ़ाई का बिल्कुल भी समय नहीं मिलता, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा में जेंडर गैप बहुत है।

4.2.2.4. संपत्ति पर उत्तराधिकार

परिवार की संपत्ति के उत्तराधिकार का निर्धारण पारंपरिक (कस्टमरी) क़ानूनों के तहत होता है। सभी पितृवंशीय समाजों में नियमतः संपत्ति का उत्तराधिकार स्त्रियों को नहीं होता है। फिर भी इस नियम का कड़ाई से पालन नहीं किया जाता। ऐसे कई उदाहरण हैं, जिसमें पुत्रियों को परिवार की संपत्ति में हिस्सा मिलता है। यद्यपि त्रिपुरा के त्रिपुरी आदिवासियों में संपत्ति का उत्तराधिकार पितृवंशीय होता है, फिर भी आमतौर पर पिता अपनी पुत्रियों को कुछ भूमि प्रदान करता है। यह एक प्रकार के उपहार की तरह होता है और भावी उत्तराधिकारी इसका विरोध भी नहीं करते (बरुआ,2002)।

पहले लद्दाख के बोद समुदाय में सबसे बड़ा पुत्र समस्त संपत्ति का उत्तराधिकारी होता था। केवल माता के गहनों पर सबसे बड़ी पुत्री का अधिकार होता था। बड़ी भू-संपत्ति के खात्मे का क़ानून लागू होने के बाद से इसमें काफी बदलाव आया है। अब परिवार की संपत्ति में सभी भाई-बहनों की समान हिस्सेदारी होती है। किसी पुरुष सहोदर की अनुपस्थिति में लद्दाखी स्त्री ही अकेली उत्तराधिकारी होती है और समझौते द्वारा इस प्रकार की शादी कर सकती है, जिसमें पति, जिसके पास कोई संपत्ति नहीं है, पत्नी के घर आ कर रहे (भसीन, 1999)।

सिक्किम का भोटिया समुदाय, जो आमतौर पर बहुपति विवाह (एक स्त्री सभी भाइयों की पत्नी होती है) का पालन करता है, में जानवरों पर, खेतों पर, चारागाहों पर, घर के सामानों पर और यहाँ तक कि खुद घर पर भी पिता अर्थात परिवार के पुरुष मुखिया का अधिकार होता है। घर के सामानों और वस्तुओं पर सभी सगे भाइयों का संयुक्त अधिकार होता है। भू-संपत्ति पर हमेशा परिवार के पुरुष मुखिया का अधिकार होता है। स्त्रियों का परिवार की संपत्ति पर कोई क़ानूनी अधिकार नहीं होता। परिवार के मुखिया के निधन के बाद स्त्रियाँ परिवार की संपत्ति को उपभोग करने का अधिकार रखती हैं और अपने जीवन पर्यंत यहाँ रह सकती हैं। फिर भी, यदि परिवार संपन्न है तो वह अपनी स्त्रियों और लड़कियों को बर्तन, गहने, भूमि और पशुधन आदि ऐसी चीजें उपहार के रूप में देता है, जिन्हें उनकी शादी के बाद वापस लिया जा सके। इसे पेवा कहते हैं। यदि परिवार में पुत्र नहीं है तो समुदाय के मुखिया की अनुमति से किसी निकट संबधी या फिर गाँव के किसी भी व्यक्ति से पुत्र गोद लिया जा सकता है। इसी तरह भील और गद्दी समुदायों में भी लड़कियों को संपत्ति पर कोई क़ानूनी अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि पुत्र की अनुपस्थिति में भी वे संपत्ति पर कोई दावा नहीं कर सकतीं।(भसीन,2007)

मातृवंशीय समुदायों में संपत्ति पर अधिकार स्त्रियों का होता है, पर इसकी देख-रेख पुरुष करते हैं (स्त्री का भाई)। इस प्रकार के समाजों में पिता की संपत्ति पर अधिकार पुत्र का नहीं होता, बल्कि पुत्र को अपने

मामा की संपत्ति पर अधिकार मिलता है। उदाहरण के लिए, मेघालय में निवास करने वाला खासी समुदाय मातृवंशीय है। इसमें परिवार की संपत्ति पर अधिकार स्त्रियों का होता है। यदि परिवार में कोई पुत्री नहीं है तो किसी निकट संबधी को गोद लिया जाता है और संपत्ति का उत्तराधिकार उसे ही मिलता है। परिवार की चल सपंत्ति (movable property) पर सारा अधिकार सबसे छोटी पुत्री का होता है। भू-संपत्ति पर सभी बहनों का अधिकार होता है, पर सबसे छोटी बहन को सबसे बड़ा हिस्सा मिलता है।

4.2.2.5. जेंडर के आधार पर श्रम का बँटवारा

जेंडर के आधार पर श्रम के बँटवारे का अर्थ है स्त्री एवं पुरुष के लिए सामाजिक-सांस्कृतिक आदर्शों के अनुसार उन्हें क्या करना चाहिए या वे क्या कर सकते हैं, के आधार पर, निर्धारित विभिन्न भूमिकाओं, कार्यों और ज़िम्मेदारियों का बँटवारा। स्त्री और पुरुष को उनकी जेंडर-भूमिकाओं के आधार पर विभिन्न कार्य और ज़िम्मेदारियाँ सौपीं जाती हैं, न कि उनकी निजी प्राथमिकता या क्षमता के आधार पर। जैसे कि भारतीय परिप्रेक्ष्य में आमतौर पर पुरुष का कार्य धन उपार्जन है और स्त्री का कार्य घर और बच्चों की देख-रेख करना।

जेंडर के आधार पर श्रम का बँटवारा किसी समाज में असमानता और शोषण का कारण भी हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक समाज में स्त्री और पुरुष के कार्य को समान रूप से आँका नहीं जाता और न ही सराहा जाता है। यहाँ तक कि आधुनिक समाजों में भी स्त्री द्वारा किए गए गृहकार्य का समुचित मूल्यांकन नहीं होता।

स्त्रीवादी इतिहासकार जॉन केली (Joan Kelly,1984) के अनुसार जितना ही घरेलू और सार्वजनिक काम में अंतर किया जाता है, उतना ही काम बढ़ता है और संपत्ति दो अलग-अलग प्रकार की हो जाती है। तब उत्पादन भी दो प्रकार का हो जाता है। जीविका चलाने के लिए उत्पादन और विनिमय के लिए उत्पादन। यहीं से जेंडर असमानता की शुरुआत हो जाती है।

जनजातियों में अब भी उत्पादन बड़े पैमाने पर जीविका चलाने से संबंधित होता है। उनकी अर्थव्यवस्था अभी भी मुख्य रूप से जीवन-निर्वाह की अर्थव्यवस्था है (subsistence economy)। स्त्री और पुरुष घरेलू क्रिया-कलापों का साझा करते हैं और यहाँ सार्वजनिक औऱ निजी का भेद तुलनात्मक रूप से कम होता है। आदिवासी समुदाय की स्त्रियाँ ईंधन के लिए लकड़ी, शहद, फल-फूल, लाख, जड़ी-बूटी आदि जंगली उत्पाद इकठ्ठा करने में अपना बहुत समय खर्च करती हैं। अगर वे इन्हें आवश्यकता से अधिक इकट्ठा कर पाती हैं तो इन्हे बेच भी देतीं हैं। इस प्रकार यहाँ घरेलू कार्य और व्यापारिक कार्य-कलापों में स्पष्ट अंतर नहीं होता है।

दूसरे वर्गों और गैर-जनजातीय समुदायों की तुलना में जनजातीय समुदायों में स्त्री और पुरुष के बीच असमानता कम होती है। आदिवासी समुदाय बहुत तरह के पेशे में लगे रहते हैं; जैसे- शिकार, जंगली उत्पादों का संग्रहण, झूम खेती, दस्तकारी और कारीगरी आदि। बहुत कम आदिवासी समुदाय ऐसे हैं जो गैर-कृषि

कार्यों जैसे भिक्षुक, भाट, पशुपालक जो घुमंतू से अर्ध-घुमंतू जीवन व्यतीत करते हैं। इन समुदायों की स्त्रियाँ रोजाना के घरेलू कार्यों के अलावा कई-कई घंटे खेतों में या जंगलों में कार्य करती हैं। काम की यह लंबी अवधि गर्भावस्था के दौरान और उसके बाद भी ऐसी ही बनी रहती है।

जेंडर भूमिका और जेंडर संबधों की तरह ही जेंडर के आधार पर श्रम का बँटवारा भी प्रत्येक समाज में एक समान नहीं होता है। उदाहरणार्थ, दक्षिण भारत के नीलगिरी-निवासी पशुपालक टोडा जनजाति के आर्थिक और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार भैंस पालना है। कुछ भैसें इतनी पवित्र समझीं जाती हैं कि जहाँ उनका दूध निकाला जाता है और दही मथी जाती है वह स्थान इनका मंदिर होता है। स्त्रियों को मासिक-धर्म, प्रसूत आदि के कारण अपवित्र तथा अयोग्य समझा जाता है। इसलिए भैंसो से संबंधित समस्त कार्य उनके लिए वर्जित होते हैं, यहाँ तक कि उन्हें इन भैंसशालाओं के पास तक जाने की अनुमति नहीं होती है। उन्हें इनके दूध से बनने वाले व्यजंन भी बनाने की अनुमति नहीं होती।

हिमाचल प्रदेश के गद्दी और सिक्किम के भोटिया आदिवासी समुदायों में पुरुष पशु चराते हैं और स्त्रियाँ भोजन के लिए खेती करती हैं। ऐसे ही राजस्थान के भील और लद्दाख के बोद आदिवासी समुदायों में भी पुरुष विभिन्न कार्यों से घर से दूर रहते हैं और स्त्रियाँ खेती करती हैं। इन समुदायों में खेती का ज़्यादातर कार्य स्त्रियों द्वारा किया जाता है। वे बुवाई से लेकर निराई, गुड़ाई एवं कटाई तक का कार्य करती हैं, पर वे खेत जोतने का कार्य नहीं करती, यह पुरुषों का ही कार्य होता है (भसीन,2007)। पशुपालक घुमंतू और अर्ध-घुमंतू समाजों पर किए गए कई अध्ययन बताते हैं कि स्त्रियों की स्थिति इन समाजों में बहुत अच्छी नहीं होती, क्योंकि पशुओं की वास्तविक देख-भाल और उनसे संबंधित आर्थिक गतिविधियाँ पूरी तरह से पुरुषों के हाथ में होती हैं।

त्रिपुरा के आदिवासी समुदायों में, जो पारंपरिक झूम खेती करते हैं, स्त्रियाँ साधारणतया सभी आर्थिक क्रिया-कलापों में भाग लेती हैं। यद्यपि लिंग और उम्र के आधार पर उनमें भी श्रम का बँटवारा होता है(चक्रवर्ती,1993;13)। गांगुली (1993) के अनुसार झूमिया समाजों में स्त्री हर क्षेत्र में पुरुषों के बराबर चाहे न भी हों, लेकिन वे आर्थिक रूप से उन पर कम आश्रित होती हैं। इसकी वजह से वो शोषण और प्रताड़ना से भी कम दो-चार होती हैं। यह भी तर्क दिया जाता है कि आदिवासी लड़कियों की कार्य में यह भागीदारी उनकी शादी के समय उनका वधु-मूल्य तय करने में भी खास भूमिका निभाता है (दासगुप्ता,1993)।

4.2.2.6. राजनैतिक भागीदारी

अब तक अध्ययन किए गए सभी आदिवासी एवं खानाबदोश समुदायों में स्त्रियाँ समाज के स्तर पर राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय नहीं पाई गई हैं। घरेलू स्तर पर स्त्री की आर्थिक समृद्धि समुदाय के स्तर पर राजनैतिक शक्ति के रूप में परिवर्तित नहीं हुई है। यद्यपि पारिवारिक स्तर पर उनकी सत्ता की अनदेखी नहीं की जाती है, पर महत्वपूर्ण सामुदायिक कार्यभार उन्हें नहीं सौपा जाता है। लोकतंत्र की पहली सीढ़ी पंचायत

है। पंचायत की बात प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सदियों से होती रही है। वर्ष 1955 में पंचायती राज व्यवस्था तो की गई पर आदिवासी स्त्रियों के लिहाज से यह कई कारणों से असफल सिद्ध हुई है। एक बड़े अंतराल के बाद वर्ष 1993 में 73वें एवं 74वें संशोधन में अभी तक हाशिए पर रही स्त्रियों को पंचायतों में 33 प्रतिशत आरक्षण दिया गया। भसीन (2007) ने गद्दी, भोटिया, भील और बोद समुदायों पर अपने अध्ययन में पाया है कि नियमानुसार प्रत्येक गाँव की पंचायत में एक महिला सदस्य होती है, लेकिन वह कभी भी बैठकों में उपस्थित होने का कष्ट नहीं करती और न ही पंचायत के काम-काज में कोई रुचि रखती है।

मातृवंशीय आदिवासी समुदायों में भी मुखिया पुरुष ही होते हैं। उदाहरण के लिए उत्तर-पूर्व निवासी खासी समुदाय में मुखिया का उत्तराधिकारी सबसे बड़ी बहन का सबसे बड़ा पुत्र होता है और उसकी मृत्यु के बाद उसका सबसे बड़ा भाई या फिर उसका भांजा (बहन का बड़ा पुत्र) होता है। यदि पुरुष उत्तराधिकारी नहीं हैं, तब सबसे बड़ी बहन (या उसकी सबसे बड़ी पुत्री) को उत्तराधिकार का अधिकार होता है। खासी मुखिया का भूमि या जंगल पर कोई विशेष अधिकार नहीं होता है। कोई भी निर्णय एक बैठक में लिया जाता है, जिसमें समुदाय के सभी वयस्क पुरुष भाग लेते हैं। ऐसी बैठकों में सभी वयस्क पुरुष की उपस्थिति अनिवार्य होती है।

4.2.2.7. स्त्री की जगह

केवल गुण और विशेषता का ही जेंडरीकरण नहीं होता, बल्कि जगहों का भी जेंडरीकरण होता है। जगह के जेंडरीकरण से तात्पर्य उन जगहों से हैं, जो आमतौर पर पुरुष या स्त्री के लिए विशेषकृत अथवा वर्जित होती हैं। स्त्री की जगह से अर्थ है, वो जगहें जहाँ केवल स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक किसी भी समय प्रवेश कर सकें, बैठ कर बातें कर सकें और कार्य कर सकें। सामान्यतः ये जगहें जेंडर के आधार पर श्रम के बँटवारे के परिणाम स्वरूप बनती हैं।

जैसे कि आधुनिक समाजों में आमतौर पर पब, गली के नुक्कड़, पान की दुकान, चाय की दुकान, छोटे शहरों और कस्बों में सिनेमा हॉल आदि पुरुषों की जगहें होती हैं। स्त्रियाँ सामान्यतः किसी पुरुष के साथ ही इन जगहों पर जाती हैं। यदि वे कभी अकेले जाती हैं तो कोशिश करतीं हैं कि जितनी जल्दी हो सके वहाँ से हट जाए। किसी भी स्थिति में उनका इन जगहों पर पुरुषों की तरह खड़े रहना या घूमते रहना अच्छा नहीं माना जाता।

इसी तरह गैर-आदिवासी समाजों में खास कर ग्रामीण इलाकों में घर भी पुरुष और स्त्री क्षेत्रों में बँटे होते हैं। जैसे बैठक और घर के बाहरी हिस्से पुरुष क्षेत्र बनाते हैं, केवल छोटी लड़कियों और बूढ़ी स्त्रियों को वहाँ जाने की अनुमति होती है। युवा स्त्रियाँ वहाँ केवल सफाई या अन्य जरूरी कार्यवश ही जाती हैं, जबकि घर के भीतरी हिस्से और रसोईघर आदि स्त्रियों के क्षेत्र होते हैं। सार्वजनिक नलकूपों और कुओं को छोड़ कर कोई ऐसी जगह नहीं है जहाँ महिलाएँ सार्वजनिक रूप से एकत्र होकर समय व्यतीत कर सकें।

आदिवासी समुदायों में भी स्त्रियों के लिए प्रायः नलकूप, कुआ या फिर पानी के झरने आदि ऐसी जगह हैं जहाँ वे सामूहिक रूप से समय व्यतीत करती हैं, जबकि पुरुषों के लिए हर गाँव में किसी पेड़ के नीचे या कोई निश्चित स्थान होता है जहाँ वे सार्वजनिक मामलों पर बैठक आदि करते हैं। इसी तरह घर का आँगन मुख्य रूप से स्त्रियों की जगह होती है। केवल दांवनी (threshing) के समय ही स्त्री-पुरुष एक साथ मिलकर यहाँ कार्य करते हैं। गद्दी और भोटिया जैसे पशुपालक समाजों में चारागाह पुरुषों की जगह होती है, जबकि खेत आमतौर पर स्त्रियों के क्षेत्र में आते हैं।

इस प्रकार से हम देख सकते हैं कि गैर-जनजातीय समाजों की तरह ही जनजातीय समाजों में भी स्त्रियों के लिए कोई विशेष सार्वजनिक जगह नहीं होती है। परंतु, उन्हें किसी जगह जाने की मनाही भी नहीं होती है।

बोध प्रश्न-1

1) किसी समाज में स्त्रियों की स्थिति का मूल्याकंन करने के लिए किन कारकों को संकेतकों की तरह प्रयोग किया जा सकता है ?

2) आदिवासी एवं सभ्य समाज में लिंगानुपात पर टिप्पणी कीजिए।

3) निम्न में से कौन एक मातृवंशीय आदिवासी समुदाय है-

1) खासी

2) भोटिया

3) गद्दी

4) भील

4) निम्न से कौन एक पशुपालक आदिवासी समुदाय है-

अ)संथाल

ब) गोंड

स)टोडा

द)खासी

4.2.3. आदिवासी एवं खानाबदोश समुदाय की सामाजिक संरचना, सामाजिक प्रक्रिया एवं स्त्री

बहुत समय तक यह माना जाता रहा कि भारत में आदिवासी समाजों में जाति और वर्ग के समान स्तरीकरण नहीं पाया जाता और जेंडर संबंध लगभग समतावादी है। लेकिन ऊपर की विवेचना में हम देख चुके हैं कि ऐसा नहीं है। यद्यपि आदिवासी अर्थव्यवस्था में स्त्रियों का महत्वपूर्ण योगदान होता है, फिर भी

पितृसत्तात्मक व्यवस्था में संपत्ति के उत्तराधिकार और राजनैतिक निर्णयों में भागीदारी से उन्हें बिल्कुल अलग रखा जाता है। फिर भी, आदिवासी समाजों के अध्ययनों में यह पाया गया है कि विवाह और सेक्सुअल मामलों में उन्हें काफी स्वतंत्रता होती है।

स्त्रीवादी मानवशास्त्र में जेंडर के सामाजिक स्तरीकरण से संबंध को मुख्य रूप से सामाजिक संरचनाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं में स्त्री-पुरुष की भूमिका और आदर्शों को आधार बनाया गया है। मानवशास्त्रियों, जैसे रोसाल्डो, लैम्फीयर और ऑटनर ने जेंडर और नातेदारी को सामाजिक असमानता का आधार बताया है, जिसके द्वारा वृहद सामाजिक और पारिवारिक परिप्रेक्ष्य में स्त्रियों के निर्णय लेने और सामाजिक प्रक्रियाओं में भागीदारी की स्वतंत्रता का आकलन किया जा सकता है।

इस खंड में हम सामाजिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं के माध्यम से आदिवासी एवं खानाबदोश समुदायों में स्त्री की स्थिति को समझने का प्रयत्न करेंगे।

4.2.3.1. विवाह एवं विवाह विच्छेद

किसी भी समाज में विवाह और वैवाहिक जीवन से जुड़े नियम आमतौर पर स्त्रियों के इर्द-गिर्द घूमते हैं। अतः किसी समाज के विवाह से जुड़े नियम और व्यवहार के अध्ययन से हम उस समाज में स्त्रियों की स्थिति को बेहतर तरीके से समझ सकते हैं। हम जान सकते हैं कि उस समाज की स्त्री को अपनी देह और जीवन के महत्वपूर्ण पहलू पर निर्णय लेने की कितनी स्वतंत्रता है। आदिवासी समुदाय में विवाह से जुड़े नियम और व्यवहार तथा स्त्री की स्थिति को समझने के लिए हम विवाह से जुड़े विभिन्न पहलुओं की विवेचना करेंगे-

विवाह की आयु (Age at marriage)

किसी भी समाज में लड़की का विवाह किस उम्र में किया जाए, यह उसके सामाजिक मूल्यों से निर्धारित होता है। सामान्य रूप से आदिवासियों में बाल विवाह का प्रचलन नहीं होता है। आदिवासी समाजों में लड़कियों की शादी सामान्यतः किशोरावस्था के बाद ही की जाती थी। किसी जनजाति में विवाह के समय स्त्रियों की उम्र पर बहुत कम अध्ययन उपलब्ध है। उत्तर-पूर्व क्षेत्र के आदिवासी समुदायों में लड़कियों की उम्र शादी के समय अपेक्षाकृत रूप से अधिक है, जबकि देश के केंद्रीय भाग में निवास करने वाले आदिवासी समुदायों में यह कम है, ऐसा हिंदू सांस्कृतिक प्रभाव के कारण है। जैसे आओ नागा (16-20 वर्ष), चैन्चु में किशोरावस्था (puberty) के बाद, खासी (13-18 वर्ष), कोली (12-16 वर्ष) बोद (19 वर्ष), गोंड एवं मुंडा (18 वर्ष), ओरॉव (16 वर्ष.) है (Sinha, 1986)। सिक्किम के भोटिया और लद्दाख के बोद आदिवासी समुदाय बालविवाह से अनभिज्ञ हैं।(भसीन,1998,1999)

विवाह-पूर्व तथा विवाहेतर यौन-संबंध (Pre-Marital and Extra-Marital Sex Relations):-

गैर-जनजातीय समाजों की तरह आदिवासी समाजों में यौन-संबधों के आधार पर स्त्री के चरित्र की उत्तमता या अधमता निर्धारित नहीं की जाती। बहुत से आदिवासी समाजों में विवाह-पूर्व यौन-संबधों को गलत नहीं माना जाता है। ऐसा माना जाता है कि यह प्रेम करने की कला और यौन जीवन को समझने के लिए एक प्रकार का व्यावहारिक प्रशिक्षण है, जो आमतौर पर विवाह में परिणित हो जाता है। कुछ आदिवासी समुदायों में ऐसे त्यौहार और उत्सव होते हैं जब यौन-संबधी प्रतिबंध अपने आप ढीले पड़ जाते हैं (विद्यार्थी एवं राय,1977)। 'हो' समुदाय में माघी पर्व पर और ओरॉव जनजाति में खद्दी पर्व पर स्त्रियों और पुरूषों को यौन संबंध स्थापित करने की स्वतंत्रता रहती है।

मध्य भारत के आदिवासी समूहों में पूर्व-वैवाहिक यौन-संबंध स्थापित करने की स्वतंत्रता रहती है, बशर्ते लड़की गर्भवती न हो जाए, क्योंकि लड़की का गर्भवती होना उसके माता-पिता के लिए बहुत ही लज्जाजनक है, चाहे वह लड़की सेवा-विवाह-प्रथा के अनुसार उस परिवार में सेवा करने वाले भावी दामाद के द्वारा ही गर्भवती हुई हो। इस गर्भवती लड़की को गर्भाधान कराने वाले पुरुष का नाम बताना पड़ता है। नाम बता देने पर गाँव और परिवार के लोग उस पुरुष को उस लड़की से विवाह करने के लिए बाध्य करते हैं। परंतु, इस प्रकार के विवाह में वधू-मूल्य या तो दिया नहीं जाता और यदि दिया भी जाता है तो केवल रस्म अदायगी की तरह।

आदिवासी समुदायों में विवाह- पूर्व यौन-संबंधों की तरह विवाहेतर संबधों के प्रति उतनी उदासीनता नहीं होती है। ज़्यादातर आदिवासी समुदायों में शादीशुदा लोगों के विवाहेतर संबंध को अपराध की तरह देखा जाता है । पर कुछ आदिवासी समुदायों में शादी के बाद भी स्त्री को अपने पिता के घर रहने के दौरान यौन-संबंध बनाने की छूट होती है, परंतु वह जब अपने ससुराल जाती है तो उसे यौन-संबधी कठोरतम नियमों का पालन करना पड़ता है। उदाहरण के लिए देहरादून की खस आदिवासी समुदाय में एक लड़की को अपने ससुराल में यौन-संबधी नियमों का कठोरता से पालन करना पड़ता है, पर जब वही लड़की अपने मायके आती है तो उसे यौन-संबधी अनेक छूट मिल जाती हैं। ऐसे ही कोनयाक नगा समुदाय में विवाह के बाद भी स्त्रियाँ अपने मायके में ही रहती हैं और अनेक पुरुषों से यौन-संबंध बनाए रख सकती हैं। आमतौर पर पहले बच्चे के जन्म के बाद ही वे अपने ससुराल जाती हैं। यदि पति को यह मालूम भी हो जाए की यह संतान उसकी नहीं है तो भी पति-पत्नी के पारस्परिक संबंध पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि आदिवासी समुदायों में यौन-संबंधों को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया जाता, बल्कि विवाह का मुख्य आधार स्त्री की प्रजनन क्षमता, श्रम-विभाजन और आर्थिक सहयोग होता है।

आदिवासी समुदायों में स्त्री की प्रजनन क्षमता और उनकी उत्पादन प्रक्रियाओं में भागीदारी को बहुत महत्व दिया जाता है। वधू-मूल्य (bride-price), जो विवाह के समय वर के पिता द्वारा वधु के पिता या परिवार वालों को दिया जाता है, एक तरह से लड़की के उत्पादन और प्रजनन अधिकारों का मूल्य होता है जिसका लाभ विवाह के बाद वर पक्ष को मिलता है।

सिक्किम के भोटिया और लद्दाख के बोद आदिवासी समुदायों में वधु-मूल्य बहुत महत्वपूर्ण होता है और यदि कोई पुरुष इसका भुगतान करने में असमर्थ होता है तो उसे लड़की के घर में एक निश्चित अवधि तक कार्य करना पड़ता है जिसका निर्धारण गाँव की परिषद करती है या फिर उसे या उसके परिवार वालों को लडकी के सगे या चचरे भाई के विवाह के लिए लड़की खोजनी पड़ती है (भसीन, 2007)।

विवाह-साथी चुनने के तरीके (Ways of Acquiring Mate)

आदिवासी समुदायों में विवाह-साथी चुनने के आठ तरीके ज़्यादा प्रचलित पाए गए हैं-

I. **परिविक्षा-विवाह (Probationary Marriage)-** इस प्रकार के विवाह में भावी पति-पत्नी को विवाह पूर्व ही एक-दूसरे को भली प्रकार समझने और यौन-संबंधी अनुभवों को प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया जाता है। यदि वे इस परिविक्षा काल के बाद एक साथ रहना चाहते हैं और विवाह करना चाहते हैं तो उनका विवाह कर दिया जाता है। परंतु यदि उनमें से कोई एक भी इसके लिए सहमत नहीं होता तो वे पृथक हो जाते हैं। अगर इस बीच लड़की गर्भवती हो जाती है तो विवाह करना आवश्यक हो जाता है। कूकी जनजाति में इस प्रकार का विवाह प्रचलित है।

II. **हरण-विवाह (marriage by Capture)-** इस प्रकार के विवाह में वर माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध कन्या को ज़बरदस्ती उठा ले जाता है और उससे विवाह कर लेता है। भारत में हरण विवाह की प्रथा नगा, हो, भील, गोंड और असम, बिहार तथा मध्यप्रदेश के अन्य आदिवासी समूहों में काफ़ी प्रचलित थी, पर सरकारी नियंत्रण के कारण अब यह दिन-प्रति- दिन घटती जा रही है।

III. **परीक्षा-विवाह (Marriage by Trial)-** इस प्रकार के विवाह में विवाह से पूर्व भावी पति को इच्छित स्त्री से विवाह करने के लिए अपनी शक्ति और साहस का प्रदर्शन करना पड़ता है। यह भील समुदाय में सबसे अधिक प्रचलित है।

IV. **क्रय-विवाह (Marriage by Purchase)-** इस प्रकार का विवाह लगभग सभी आदिवासी समुदायों में प्रचलित है। इस प्रकार के विवाह में वधु-मूल्य एक आवश्यक अंग होता है, जिसे चुकाए बिना विवाह नहीं हो सकता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि वधु-मूल्य जनजातियों में स्त्रियों की उत्पादन शक्ति और प्रजनन क्षमता की उपयोगिता का प्रतीक होता है। उनके माता-पिता दूसरे को अपनी कन्या देने से होने वाले नुकसान (एक काम करने वाला का कम हो जाना) का हर्जाना वधू-मूल्य के रूप में प्राप्त करते हैं।

V. **सेवा-विवाह (Marriage by Service)-** इस प्रकार के विवाह में भावी पति को अपने भावी ससुराल में रह कर सेवा करनी पड़ती है। कुछ आदिवासी समुदायों में विवाह के बाद वर अपनी वधू के साथ उसी के घर रहता है और अपनी सेवा प्रदान करता है। वह तब तक वधू को अपने साथ नहीं ले जा सकता जब तक कि वह वधू-मूल्य न चुका दे। उदाहरण के लिए संथाल आदिवासी समुदाय में इस प्रकार के विवाह को 'घर जमाई' कहा जाता है। हिमाचल प्रदेश के गूजरों और उत्तराखंड की खस जनजाति में भी इस प्रकार की प्रथा है।

VI. **विनिमय-विवाह (Marriage by Exchange)-** इस प्रकार के विवाह में एक परिवार के भाई-बहन क्रमशः दूसरे परिवार के बहन-भाई से शादी करते हैं। आमतौर पर इस प्रकार का विवाह भारत के सभी आदिवासी समूहों में पाया जाता है। परंतु असम की खासी जनजाति इस प्रकार के विवाह का निषेध करती है।

VII. **पारस्परिक सहमति-विवाह एवं सहपलायन (Marriage by Mutual Consent and Elopement)-** इस प्रकार के विवाह में लड़का-लड़की आपसी सहमति से विवाह करते हैं। कभी-कभी वे आपसी सहमति से घर छोड़ कर जंगल में भाग जाते हैं और वापस आने पर उनका विवाह कर दिया जाता है। भारतीय आदिवासी समूहों में इस प्रकार के विवाह का बहुत प्रचलन है। हो आदिवासी समूह इस प्रकार के विवाह को 'राजी-खुशी' विवाह कहते हैं। इस प्रकार के विवाह में किसी प्रकार का वधू-मूल्य नहीं दिया जाता।

VIII. **हठ-विवाह (Marriage by intrusion)-** इस प्रकार के विवाह में एक युवक-विशेष से विवाह करने को इच्छुक लड़की उस युवक के घर में उसके माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध प्रवेश करती है और तब तक वहाँ रहती है जब तक कि वे उसे पुत्र-वधू के रूप में स्वीकार नहीं कर लेते। ऐसे विवाह में वधू-मूल्य नहीं दिया जाता।

हरण-विवाह के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के विवाहों में वधू की इच्छा और सहमति का सम्मान किया जाता है। उसका विवाह सामान्यतः उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं होता। इन विवाह-साथी चुनने के तरीकों की विवेचना से यह स्पष्ट है कि आदिवासी समुदायों में स्त्रियों पर अनावश्यक प्रतिबंध नहीं होते हैं और समुदाय के युवकों की तरह युवतियों को भी अपना जीवन साथी चुनने का पूर्ण अधिकार होता है।

विवाह के भेद

भारत में बड़ी संख्या में अंतर्विवाही जातियाँ, आदिवासी समुदाय और धार्मिक समुदाय पाए जाते हैं जो अलग-अलग तरह के विवाह पद्धति को अपनाते हैं। भाई-बहन, माता-पुत्र, पिता-पुत्री में विवाह पर निषेध प्रायः सार्वभौम है।

आदिवासी समुदायों में प्रायः अपने गोत्र और टोटम-समूह के अंदर विवाह नहीं होता। गोत्र और टोटम-समूह के स्तर पर वे बहिर्विवाह (Exogamy) का पालन करते हैं। परंतु जनजातीय स्तर पर अंतर्विवाह (Endogamy) का प्रचलन है।

लुशाई, कूकी आदिवासी समुदायों में गोत्र के आधार पर बहिर्विवाह-संबंधीं निषेध नहीं होता है। इसके विपरीत खासी समुदाय में इस नियम का कड़ाई से पालन किया जाता है। भील समुदाय क्षेत्रीय ईकाइयों में बँटे होते हैं, जिन्हें पाल कहते हैं, इसी आधार पर पाल-बहिर्विवाह के नियम का पालन किया जाता है।

बहुत से आदिवासी समुदायों में ममेरे-फुफेरे भाई बहनों के विवाह (cross-cousin marriages) को प्राथमिकता दी जाती थी। इस प्रकार के विवाह को कुछ विद्वानों ने देखभाल और व्यवहार के लिहाज से स्त्री के लिए लाभदायक बताया है। इसमें ऊँचे वधू मूल्य से भी बचाव होता है और परिवार की संपत्ति भी एकजुट रहती है। गोडों में इस प्रकार के विवाह को 'दूध लौटावा' कहते हैं, जिसका अर्थ है कि एक गोंड ने अपनी पत्नी के लिए जो वधु-मूल्य दिया था वह उसके परिवार में फिर उस समय वापस लौट आता है जब उसकी लड़की की शादी उसकी स्त्री के भाई के बेटे (लड़की के मामा के बेटे) से होती है। अर्थात इस प्रकार के विवाह से एक परिवार जिस परिवार से अपने लड़के के लिए लड़की लेता है, उसे फिर अपनी लड़की दे देता है। खरिया, ओरावं, खासी, कादर आदि जनजातियों में भी इस प्रकार के विवाह का प्रचलन है।

अपनी सांस्कृतिक-पारिस्थितिक स्थिति के हिसाब से भारत के आदिवासी समुदायों में एकल-विवाह और बहु-विवाह का प्रचलन है।

एकल-विवाह (Monogamy): इस प्रकार के विवाह में एक स्त्री केवल एक ही पुरुष के साथ विवाह कर

सकती है और अपने इस पति के जीवित रहते वह दूसरा विवाह नहीं कर सकती। भारतीय जनजातियों में एकल-विवाह का प्रचलन आम बात है। असम की खासी, बिहार के संथाल, मध्यप्रदेश के कमार और केरल की कादर जनजातियों में एकल-विवाह का ही व्यवहार है। जो जनजाति में अत्यधिक वधु-मूल्य (bride-price) के कारण वहाँ एक पुरुष के लिए एक से अधिक स्त्री से विवाह करना असंभव हो जाता है इस कारण से भी वे एक तरह से एकल-विवाही होते हैं।

ज़्यादातर एकल-विवाही जनजातियों में पति की मृत्यु के बाद एक स्त्री को अपने पति के भाई से विवाह कर लेने का सामाजिक नियम है और इसे उपयुक्त भी माना जाता है पर व्यवहार में इसका अंतिम निर्णय स्त्री का ही होता है और वह ऐसे विवाह से इनकार भी कर सकती है। इसी प्रकार उन आदिवासी समुदायों में जिनमें वधु-मूल्य प्रथा है, पत्नी की मृत्यु के बाद या जब उस स्त्री के कोई संतान होने की संभावना नहीं होती तो उस स्त्री के माता-पिता का यह कर्तव्य होता है कि या वे तो वह वधू-मूल्य वापस कर दे या फिर उस स्त्री की छोटी बहन को दामाद के घर दूसरी पत्नी बना कर भेज दे।

बहु-विवाह (polygamy): इस प्रकार के विवाह में एक स्त्री/पुरुष एक से अधिक पुरुष/स्त्री से विवाह करते हैं। जब एक स्त्री का विवाह एक से अधिक पुरूषों के साथ होता है तो इसे बहु-पति (polyandry) विवाह कहते हैं। भारत में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन कुछ आदिवासी समुदायों में हैं। देहरादून के खस एवं नीलगीरी की पहाड़ियों पर रहने वाले टोडा समुदायों में इसका प्रचलन है। कुछ विद्वानों का मानना है कि बहु-पति विवाह का प्रचलन उन समाजों में शादी योग्य स्त्रियों की संख्या में कमी के कारण है। वहीं कुछ विद्वानों का मानना है कि इस प्रथा का एकमात्र कारण स्त्रियों की कमी नहीं है क्योंकि तिब्बत, लद्दाख, सिक्किम आदि प्रदेशों में स्त्री-पुरुष की संख्या में कोई विशेष अंतर नहीं है और वहाँ भी बहु-पति विवाह का प्रचलन है। अधिकतर विद्वान इस प्रथा का कारण इन प्रदेशों में आर्थिक जीवन का कठोर एवं संघर्षपूर्ण होना मानते हैं। संयुक्त परिवार एवं सम्मिलित श्रम के बिना इन प्रदेशों में जीविका-निर्वाह करना लगभग असंभव है।

बहु-पत्नी विवाह (polygyny): एक पुरुष का एक से अधिक स्त्रियों से विवाह बहु-पत्नी विवाह है। यह प्रथा नगा, गोंड, बैगा, टोडा, लुसाई, भील आदि आदिवासी समुदायों में प्रचलित है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस प्रथा के प्रचलन का मुख्य कारण आर्थिक है। पहाड़ी एवं पठारी भागों में जीवन-निर्वाह हेतु आदिवासी लोगों को कठोर परिश्रम करना पड़ता है, जिसके लिए अधिक लोगों की आवश्यकता होती है। वहीं दूसरी तरफ, कुछ विद्वान मानते हैं कि भील, नगा आदि समुदायों में एक से अधिक पत्नी रखना संपन्नता और समृद्धि का प्रतीक माना जाता है इसलिए वहाँ बहु-पत्नी विवाह का प्रचलन है।
कारण चाहे जो भी हो बहु-विवाह में स्त्रियों की स्थिति पर विपरीत असर पड़ता है। जहाँ बहु-पति विवाह प्रथा में स्त्रियों में गुप्त-रोगों के होने का खतरा अधिक हो जाता है वहीं बहु-पत्नी विवाह प्रथा में परिवार पर आर्थिक बोझ बहुत बढ़ जाता है और स्त्रियों की स्थिति भी अत्यधिक गिर जाती है।

विवाह-विच्छेद (Divorce)

सामान्य रूप से यह माना जाता है कि विवाह-विच्छेद संबंधी अधिकार इस पर निर्भर करता है कि किसी समाज-विशेष में स्त्री-पुरुष की सामाजिक स्थिति कैसी है। प्रायः पितृसत्तात्मक समाजों में पुरुषों को ही इस संबंध में विशेषाधिकार प्राप्त होता है। प्रायः सभी आदिवासी समुदायों में विवाह-विच्छेद का अधिकार स्त्री-पुरुष दोनों को होता है। इन समुदायों में बांझपन, नपुंसकता, दुश्चरित्रता, आलसीपन आदि कुछ ऐसे कारण हैं, जिनके आधार पर स्त्री-पुरुष दोनों को ही विवाह-विच्छेद का समान अधिकार होता है।
बोद और भोटिया समुदायों में वैवाहिक-कलह की स्थिति में स्त्रियाँ अपने पतियों से संबंध-विच्छेद करने के लिए स्वतंत्र होती हैं। ज़्यादातर विवाह-विच्छेद के मामलों में वधू-मूल्य को लौटाना पड़ता है। यदि एक स्त्री किसी अन्य व्यक्ति से विवाह करना चाहती है तो भावी पति द्वारा पूर्व पति को वधू-मूल्य चुकाना पड़ता है, परंतु यदि वह स्त्री अपने पिता के पास रह रही हो तो यह वधू-मूल्य पिता को मिलता है।

4.2.3.2. परिवार (Family)

प्रत्येक समाज में परिवार का स्वरूप एक समान नहीं होता है। यह समाज के सांस्कृतिक मूल्यों पर निर्भर करता है कि उस समाज में परिवार किस प्रकार के होंगे। मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने विभिन्न आधारों पर परिवार के प्रकारों की विवेचना की है, जैसे-सत्ता, वंश-नाम, निवास, उत्तराधिकार तथा वैवाहिक रचना एवं गठन के आधार पर। यहाँ हम आदिवासी समुदायों में स्त्री की दशा को समझने के लिए केवल सत्ता और वंश-नाम के आधार पर गठित परिवारों की विवेचना करेंगे, क्योंकि अन्य प्रकार के परिवार किसी न किसी तरह इनके अंतर्गत रखे जा सकते हैं।

सत्ता और वंश-नाम के आधार पर परिवार को क्रमशः पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक तथा पितृवंशीय एवं मातृवंशीय परिवारों में बाँटा जा सकता है।

पितृसत्तात्मक परिवार का मुखिया पिता या घर का सबसे बड़ा पुरुष सदस्य होता है। परिवार की सत्ता उसी के हाथ में होती है। इस व्यवस्था में परिवार का परिचय पिता के वंश के आधार पर होता है इसलिए ये पितृवंशीय भी होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चों का परिचय पिता के वंश के आधार पर होता है और वे अपने पिता के ही उपनाम को ग्रहण करते हैं। बच्चों में भी लड़कों का वंश-परिचय जीवनपर्यंत पिता के वंश के आधार पर ही होता है जबकि लड़कियाँ विवाह के उपरांत पिता के बजाए पति का उपनाम ग्रहण कर लेती हैं। इस व्यवस्था में विवाह के उपरांत लड़की अपने पिता का घर छोड़ कर अपने पति के घर आकर रहने लगती है, अतः यह परिवार पितृस्थानिक भी होता है। इस प्रकार की पारिवारिक व्यवस्था में संपत्ति के उत्तराधिकारी भी पुत्र ही होते हैं। अनेक समाजों में मुखिया या ग्राम-प्रधान का पद पिता की मृत्यु के बाद स्वतः ही उसके पुत्र को प्राप्त हो जाता है। धार्मिक कृत्यों और संस्कारों को करने का विशेषाधिकार भी पिता एवं पुत्रों को ही होता है। परिवार और समाज में लड़कियों की तुलना में लड़कों की स्थिति ऊँची होती है। भारत के ज़्यादातर आदिवासी समूहों में इसी प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। गद्दी, भील, भोटिया, टोडा, खस, गोंड, ओरॉव, संथाल आदि आदिवासी समुदायों में इसी व्यवस्था का प्रचलन है।

दूसरी तरफ, मातृवंशीय परिवार में बच्चो का वंश-परिचय उनके माता के वंश के आधार पर होता है। ऐसे परिवारों में संपत्ति पर अधिकार पिता का न हो कर माता का होता है तथा पारिवारिक संपत्ति की उत्तराधिकारिणी पुत्रियां होती हैं। ऐसी व्यवस्था में विवाहोपरांत पत्नी अपने पति के घर नहीं जाती। वह अपने ही घर रहती है और पति उसके घर जाकर पत्नी के परिवार का ही एक सदस्य बन जाता है या फिर समय-समय पर उससे मिलने आता रहता है। इसलिए ये परिवार मातृस्थानिक भी कहे जाते हैं। ऐसे परिवारों में कुल देवियों की पूजा होती है तथा धार्मिक कार्यों को पुरोहित के रूप में करने का अधिकार स्त्रियों को होता है। इन परिवारों में परिवार की मुखिया स्त्री होती है और पारिवारिक या सामाजिक अधिकार भी स्त्रियों को मिलते हैं, परंतु इसका यह बिल्कुल भी अर्थ नहीं है कि माता को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं। वास्तव में, ऐसी व्यवस्था में संपत्ति की देख-रेख का काम मामा (माता के भाई) के हाथों में होता

है और उसे उससे संबंधित खरीद-फरोख्त के निर्णय लेने का अधिकार होता है। सामाजिक और राजनैतिक अधिकार भी पुरुषों को ही होते हैं। उदाहरण के लिए, मेघालय की खासी जनजाती मातृवंशीय होती है। इस समुदाय में मुखिया की मृत्यु के बाद उसका भाई या उसकी सबसे बड़ी बहन का सबसे बड़ा पुत्र (भांजा) या फिर उसकी बहन की पुत्री के पुत्र को ही मुखिया का पद संभालने का अधिकार होता है। पुरुष उत्तराधिकारी की अनुपरिस्थिति में बड़ी बहन या फिर उसकी बड़ी पुत्री यह पद संभालती है। परंतु, कोई भी सामाजिक एवं राजनैतिक निर्णय आमसभा बुलाकर आम-सहमति से लिया जाता है। इस सभा या बैठक में समुदाय के सभी वयस्क पुरुषों का भाग लेना अनिवार्य होता है, जबकि स्त्रियों के लिए ऐसा कोई प्रावधान नहीं है। यह खासी समुदाय में प्रचलित एक लोकोक्ति से भी स्पष्ट होता है- "युद्ध और राजनीति पुरुषों के लिए हैं, जबकि संपत्ति और बच्चे स्त्रियों के लिए (War and politics are for men, while property and children are for women)" (सेन, 1978)। इससे स्पष्ट है कि मातृवंशीय समुदायों में भी वास्तविक सत्ता स्त्रियों के नहीं वरन पुरुषों के हाथ में होती है। अतः मातृवंशीय परिवार मातृस्थानिक तो हो सकते हैं, पर पूर्णतः मातृसत्तात्मक नहीं होते हैं।

फिर भी, उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि पितृवंशीय समाजों की तुलना में मातृवंशीय समाज में स्त्रियों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशा बेहतर होती है।

4.2.3.3. धर्म

सभी पितृसत्तात्मक समाजों में धार्मिक कृत्यों और संस्कारों को करने का विशेषाधिकार पुरुषों को होता है। भारत के आदिवासी समुदाय अपने पारंपरिक आत्मावाद, प्रकृति पूजा के साथ-साथ बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म, हिंदू धर्म या ईसाई धर्म का पालन करते हैं। इस्लाम, हिंदू, बौद्ध या फिर ईसाई धर्म मुख्यतः गैर-जनजातीय पितृसत्तात्मक समाज के धर्म हैं। इन सभी धर्मों में स्त्रियों का पुरुषों की तुलना में दोयम दर्जे का स्थान होता है। पारंपरिक रूप से महिलाएँ कभी भी पुजारी की तरह नियुक्त नहीं की जातीं। धार्मिक कर्मकांडों में स्त्री-पुरुष दोनों ही भाग लेते हैं, परंतु मुख्य ज़िम्मेदारियाँ पुरुष ही निभाते हैं। इसी प्रकार से आदिवासी समुदायों की पारंपरिक धार्मिक क्रियाओं और कर्मकांडों में भी स्त्री की सीमित भागीदारी होती है। उदाहरण के लिए नीलगिरी के पशुपालक टोडा समुदाय में मासिक धर्म, प्रसूत आदि के कारण स्त्रियों को अपवित्र समझा जाता है। भैसों से संबंधित सभी कार्यों में इनकी स्थिति निम्न होती है। यहाँ तक कि इन्हें भैंसशालाओं के नजदीक जाने, भैंस के दूध से बनने वाले व्यंजन बनाने तक की अनुमति नहीं होती है। इनके मुख्य पुरोहित पोलोल को अविवाहित रहना पड़ता है।

लद्दाख के बोद और सिक्किम के भोटिया समुदाय बौद्ध धर्म का पालन करते हैं। दोनों ही समुदाय की भिक्षुणियाँ के भिक्षुणीविहार बौद्ध मठों से भौगोलिक दूरी बनाये रखते हैं। समुदाय के लोगों के लिए भिक्षुणियाँ कर्मकांड और दाह-संस्कार नहीं करा सकतीं। वे अनुष्ठानों के समय केवल दर्शक की भाँति उपस्थित रहती हैं।

भोटिया तो स्त्री और पुरुष के दाह-संस्कार के लिए तैयार की जाने वाली चिता (funeral pyre) में भी अंतर करते हैं। स्त्री और पुरुष की चिता में लकड़ियों के क्रमशः आठ और सात चक्र सजाए जाते हैं। इस अंतर को स्पष्ट करते हुए भोटिया कहते हैं कि समाज में स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना में एक पायदान नीचे होती हैं, उनकी चिता में एक चक्र लकड़ियाँ अधिक रख कर इसकी क्षतिपूर्ति की जाती है (भसीन,1991)।

चूँकि आदिवासी समुदायों में धर्म समाज के नियत्रंण और नियामक दोनों ही कार्य करता है इसलिए इस क्षेत्र में पुरुषों का वर्चस्व समाज के अन्य पक्षों में भी उसकी सत्ता को मज़बूत बनाता है। यह जेंडर असमानता को वैधता प्रदान करता है तथा स्त्रियों को सार्वजनिक सत्ता से भी वंचित रखता है।

जबकि, मातृसत्तात्मक समाज में धार्मिक कार्यों को स्त्रियाँ ही करती हैं। मेघालय के खासी समुदाय में कुल-देवता की जगह कुल-देवियों की पूजा होती है। धार्मिक अनुष्ठानों और कृत्यों में प्रमुख स्थान पुरोहितिनों का होता है। पुरोहितों का काम पुरोहितिनों की सहायता करना होता है।

बोध प्रश्न-2

1. वधू-मूल्य से क्या तात्पर्य है?
2. आदिवासी समुदायों में विवाह-साथी चुनने के प्रचलित तरीके कौन-कौन से हैं?
3. पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक परिवार से क्या तात्पर्य है?
4. निम्न में से किन जनजातियों में बहु-विवाह का प्रचलन है-

अ) टोडा

आ) संथाल

इ) कमार

ई) कादर

4.2.4. स्त्री के विरुद्ध हिंसा

1993 में 'द एलिमिनेशन ऑफ ऑल फार्म्स ऑफ डिसक्रिमिनेशन अगेन्स्ट विमेन' (स्त्रियों के विरुद्ध होने वाले भेदभाव के सभी रूपों का विलोपन) विषय पर हुए सम्मेलन में यूएन ने स्त्रियों के विरुद्ध होने वाली हिंसा के खात्मे के लिए एक घोषणा-पत्र जारी किया, जिसमें शामिल 'वायलेन्स अगेन्स विमेन' (स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा) वाले खंड के अनुसार ऐसा कोई भी व्यवहार जिसके परिणामस्वरूप किसी स्त्री को, स्त्री होने के नाते, पीड़ा या शारीरिक, यौन या मानसिक आघात हो या हो सकता हो, जेंडर-आधारित हिंसा है। इस प्रकार के व्यवहार में सार्वजनिक या निजी जीवन में बलपूर्वक या मनमाने ढ़ंग से स्त्री को आज़ादी से वंचित रखना भी शामिल है। इस परिभाषा को घोषणा-पत्र के अनुच्छेद-2 में व्याख्यायित करते हुए ऐसे तीन क्षेत्रों की पहचान की है, जिनमें आमतौर पर स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा होती है:

अ) परिवार में होने वाली शारीरिक, मानसिक और यौन हिंसा। इसमें दहेज के लिए उत्पीड़न, घरों के अंदर बच्चियों के साथ होने वाली मारपीट और यौन हिंसा, वैवाहिक बलात्कार, स्त्री के गुप्तागों का अंग-भंग और स्त्री को पीड़ा पहुँचाने वाली दूसरी पारंपरिक प्रथाएं तथा शोषण से संबंधित हिंसा शामिल है।

आ) सार्वजनिक स्थान, शैक्षणिक संस्थानों, कार्यस्थलों या कहीं भी सामुदायिक स्तर पर होने वाली शारीरिक, यौन या मानसिक हिंसा। इसमें बलात्कार, यौन-पीड़ा, यौन-उत्पीड़न और धमकी देना, स्त्रियों का अवैध व्यापार तथा बलपूर्वक वेश्यावृत्ति कराना शामिल है।

इ) जहाँ कहीं भी शारीरिक, यौन या मानसिक हिंसा हो रही है उसमें राज्य (स्टेट) का भागीदार होना या उसकी अनदेखी कर देना।

इस घोषणा-पत्र के अनुसार प्रत्येक स्त्री सभी मानवाधिकारों का और राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नागरिक तथा किसी भी क्षेत्र में मूलभूल स्वतंत्रता का संरक्षण पाने और लाभ लेने के लिए बराबर की हकदार है।

देश की कुल जनसंख्या का 8.2 प्रतिशत आदिवासी जन हैं जो विभिन्न प्रकार की हिंसा से पीड़ित हैं। अपने ही जंगल और जमीन से अलग कर दिए गए हैं या बेदखल कर दिए गए हैं। विस्थापन, नव-उपनिवेशवाद और राज्य के दमन का शिकार हो रहें हैं। इन समुदायों में स्त्री को दोहरे स्तर पर भेदभाव का सामना करना पड़ता है। समुदाय के अंदर भी और बाहरी लोगों से भी।

हाल के अध्ययनों के आधार पर भारत में आदिवासी स्त्रियों के विरुद्ध जेंडर-आधारित हिंसा को मोटे तौर पर पाँच प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है- मारपीट, यौन-शोषण, यौन-उत्पीड़न, स्त्री को शारीरिक, मानसिक या यौन पीड़ा पहुँचाने वाली या उसके जीवन को संकट में डालने वाली पारंपरिक प्रथाएँ तथा बच्चियों के साथ बुरा व्यवहार।

हम आदिवासी स्त्री के विरुद्ध होने वाली हिंसा के रूपों का निम्न उप-विषयों के तहत अध्ययन कर सकते हैं-

i) घरेलू हिंसा
ii) यौन-उत्पीड़न
iii) वेश्यावृत्ति

4.2.4.1. घरेलू हिंसा

पितृसत्तात्मक आदिवासी समुदायों में हिंसा अक्सर परिवार के सदस्यों को परिवार की प्रथाओं और मूल्यों के अनुसार ढालने का एक उपकरण मानी जाती है। आदिवासी स्त्रियाँ आमतौर पर घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं (भसीन,2007)।

कुछ जनजातियों (जैसे-मुण्डा और संथाल) में कभी-कभी किसी बीमारी या आपदा के लिए किसी एक स्त्री या कई स्त्रियों को ज़िम्मेदार बताते हुए उन्हें 'डायन' की तरह पहचान कर, या तो उन्हें गाँव से बाहर

निकाल दिया जाता या फिर उनका वध ही कर दिया जाता है। इन समुदायों में यह माना जाता है कि किसी स्त्री में डायन की शक्तियां वयःसन्धि की अवस्था के साथ ही आ जाती है। आर्चर ने 'द संथाल ट्रीटमेन्ट ऑफ विचक्राफ्ट' (1979) में उल्लेख किया है कि एक बार महागमा गाँव में हैजा फैल गया और प्रतिदिन चार से पाँच लोग मरने लगे। गाँव के सभी लोग परेशान हो गए तथा कोई और उपाय न देख कर उन्होने गाँव की सभी औरतौं को मारा-पीटा और उन्हें मानव-मल पीने पर बाध्य कर दिया (नाथन और केलकर,2005 से उद्धृत)। फिर भी, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, आदिवासी समुदायों में आमतौर पर लड़कियों को जन्म लेते ही मार देने की परंपरा नहीं है। इसलिए इन समुदायों में लिंग अनुपात हमारे 'सभ्य' समाज की तुलना में बेहतर है।

4.2.4.2. यौन उत्पीड़न

आदिवासी समुदायों में आमतौर पर स्त्री की सहमति के बिना उसके साथ यौन-संबंध स्थापित नहीं किया जाता। विवाह प्रथाओं में हमने देखा कि कुछ आदिवासी समुदायों में विवाह-पूर्व और विवाहेतर संबंधों पर स्त्री के लिए नियम भी बहुत कठोर नहीं हैं। परंतु, 'सभ्य' समाज के संपर्क में आने और 'विकास' कार्यों के चलते आदिवासी स्त्रियाँ गैर-आदिवासी पुरुषों का शिकार बनने लगी हैं।

यदि एक आदिवासी स्त्री का कोई गैर-आदिवासी पुरुष बलात्कार करता है तो उस स्त्री को उसके समुदाय से बहिष्कृत कर दिया जाता है। समुदाय उस स्त्री को तब तक स्वीकार नहीं करता जबतक कि वह शुद्ध न हो जाए। शुद्धीकरण के लिए उसे गाँव भर को एक भोज देना पड़ता है जिसे 'जाति मिलन' कहते हैं। इस तरह का भोज देना एक विवाहित स्त्री के लिए तुलनात्मक रूप से आसान होता है चाहे भले ही बाद में वह अपने पति द्वारा त्याग दी जाए। परंतु अविवाहित स्त्री के लिए यह बहुत ही कठिन होता है। इससे उसका सम्मान वापस नहीं आता और उसका विवाह हो पाना बहुत मुश्किल हो जाता है । ऐसी स्थिति में या तो उसका बहुत दूर के गाँव में विवाह किया जाता है या फिर कभी-कभी उन्हें बलात्कारी के संग रहने को बाध्य होना पड़ता है (वसुधा धागमवारे, 2005)।

4.2.4.3. वेश्यावृत्ति

आदिवासी परिवार गरीबी से मज़बूर हो कर अब अपनी अविवाहित लड़कियों को काम की खोज में शहरों की तरफ भेजने लगे हैं। ये लड़कियाँ केवल अराजक तत्वों और दलालों के ही नहीं, बल्कि मालिकों के भी शोषण का शिकार होती हैं। ऐसे कई मामले सामने आए हैं जब दलाल उन्हें नौकरी दिलाने का लालच देकर शहर लाया और फिर वेश्यालयों में बेच दिया गया। या फिर इन आदिवासी लड़कियों को ज़बरदस्ती घरों में नौकर की तरह कैद कर रखा गया है और उनका बन्ध्याकरण कर दिया गया है।

आदिवासी क्षेत्रों में विकास की परियोजनाएँ भी इन आदिवासी स्त्रियों के लिए दोहरी मार ले कर आती हैं— पहला, विकास कार्य शुरु होने के साथ ही लंबे समय तक बाहरी लोगों की उपस्थिति सामाजिक उथल-

पुथल पैदा करती है। बहुत बार इन क्षेत्रों में सड़क के किनारे रहने वाली आदिवासी स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति के लिए बाध्य हो जाती हैं। दूसरे, हजारों आदिवासी स्त्रियाँ जो इन बड़ी विकास परियोजनाओं की वज़ह से विस्थापित हो जाती हैं, जीविका चलाने के लिए अवैध रूप से उस जंगल और जमीन का प्रयोग अपराधी की तरह करती रहती हैं। ऐसे में यदि उन्हें अपराधी की तरह पकड़ा जाता है तो थानों में भी उनके साथ दुर्व्यवहार के कई मामले सामने आए हैं। ये आदिवासी स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति करने पर भी मज़बूर हो जाती हैं। उदाहरण के लिए आंध्र प्रदेश के औद्योगिक और पर्यटन के केंद्र अराकु, सेम्लिगुडा तथा पडेरु आदि की ज़्यादातर आदिवासी स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति को अपनाने पर बाध्य हुई हैं।

4.2.5. आदिवासी एवं खानाबदोश स्त्री की चुनौतियां

भारत में निवास करने वाले लगभग 84 मिलियन आदिवासी गरीबी, अशिक्षा बेरोजगारी, विस्थापन, कर्ज तथा सरकारी कार्यक्रमों के बारे में जानकारी और पहुँच के अभाव में आज भी निम्न सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में हैं, जिनके कारण उन्हें अनगिनत समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उन्हें शोषण और हिंसा का शिकार होना पड़ता है। आदिवासी स्त्री के लिए यह परिस्थितियाँ और भी विकट हो जाती हैं। उन्हें दोहरे भेदभाव का सामना करना पड़ता है- पहला, स्त्री होने के नाते और दूसरे, आदिवासी स्त्री होने के नाते।

आदिवासी स्त्रियों की समस्याओं और चुनौतियों को सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक पहलूओं से समझा जा सकता है।

4.2.5.1. सामाजिक-सास्कृंतिक चुनौतियाँ

जैसा कि हमने देखा कि आदिवासी समुदायों में यद्यपि कि शिक्षा का स्तर पहले की तुलना में सुधरा है, फिर भी स्त्रियों की साक्षरता दर केवल 34.8% ही है।

बाल-विवाह का प्रचलन नहीं रहा है। परंतु बाहरी ('सभ्य') समाज के संपर्क में आने के बाद से उनमें भी बाल-विवाह के मामले देखे गए हैं। ऐसी स्थिति में लड़कियाँ कम उम्र में गर्भवती हो जाती हैं, जिसका असर उनके स्वास्थ्य पर पड़ता है।

बाहरी समाज (खास कर हिंदू एवं ईसाई) के संपर्क में आने के कारण इन समुदायों में पितृसत्तात्मक नियम और कड़े हो गए हैं, जिसकी वज़ह से स्त्रियों की यौन-शुचिता और चरित्र को लेकर समुदाय के सदस्यों का रवैया ज़्यादा कड़ा हो गया है, जैसा पहले नहीं था।

रोजी-रोटी की तलाश में ग्रामीण आदिवासी समुदायों का शहरों की तरफ अशंकालिक या स्थायी प्रवसन (माइग्रेशन) उनके पारंपरिक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पारिवारिक संबंधों पर तथा आस-पड़ोस के

रिश्तों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। उन्हें अपने सांस्कृतिक मूल्य त्याग कर नए शहरी सांस्कृतिक मूल्यों को ग्रहण करने पर बाध्य होना पड़ता है।

4.2.5.2. आर्थिक चुनौतियाँ

आदिवासी स्त्रियों का बड़ा आर्थिक आधार जंगल से जुड़ा है। यह उनके लिए रोजी रोटी का जरिया है। 1952 में सरकार ने पहली बार औद्योगिक विकास को ध्यान में रखते हुए वन नीति को जारी किया, जिसमें जंगल के एक हिस्से को व्यावसायिक तौर पर कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल की बात कही गई। यहीं से स्थानीय निवासियों खासकर आदिवासी स्त्रियों और 'सभ्य' समाज के आर्थिक हितों के बीच टकराहट शुरू हुई। 1988 में फिर भारत सरकार एक वन नीति लेकर आई, जिसमें आदिवासियों को समस्या की जगह समाधान के रूप में देखा गया। हालांकि तेज आर्थिक विकास के नज़रअंदाज ने जंगल पर आधारित आदिवासियों की जीवन से जुड़ी अर्थव्यवस्था नज़रअंदाज होने लगी। सरकार की विकास परियोजनाएँ, सरकारी और निजी औद्योगिक इकाईयों की स्थापना, खनन, हाइड्रो-इलेक्ट्रिक तथा सड़क और परिवहन की परियोजनाओं के चलते कुछ मामलों में उन्हें अपने जंगल और जमीन से अलग होना पड़ा। समय के साथ आदिवासी स्त्रियों एक बड़ा हिस्सा अपना गाँव-घर छोड़ कर रोजी-रोटी की तलाश में शहरों की तरफ जाने (प्रवसन या माईग्रेशन) के लिए बाध्य होने लगे।

आदिवासी समुदायों की एक बड़ी आर्थिक समस्या कर्ज की है। अपने छोटे-बड़े खर्चों को पूरा करने के लिए (शादी में वधू-मूल्य चुकाने, गाँव को खुशी या दंड स्वरूप भोज देने आदि) उन्हें साहूकारों से कर्ज़ लेना पड़ता है। अशिक्षित होने के नाते वे कभी भी यह नहीं जान पाते कि कितना कर्ज़ चुकाया है और अभी कितना बकाया है, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें कई बार अपने जमीन-जाएदाद पर साहूकार को अधिकार देना पड़ता है या कर्जदाता के यहाँ बंधुआ मज़दूर की तरह कार्य करना पड़ता है, या फिर अपने घर की स्त्रियों को बेचना या वेश्यावृत्ति के धंधे में लगाना पड़ता है (हसनैन, 2002)। इस तरह न चाहते हुए भी स्त्रियाँ आर्थिक तंगी के चलते वेश्यावृत्ति के कुचक्र में फंस जाती हैं।

विकास परियोजनाओं के चलते आदिवासी समुदायों का विस्थापन भारत में एक आम बात हो गई है, क्योंकि जगंल, खदान आदि आदिवासी बहुल इलाकों में ही हैं। जैसा कि हमने पहले पढ़ा है कि आदिवासी स्त्रियाँ इन जगंलों से कंद-मूल फल के अलावा ईंधन के लिए लकड़ियाँ भी लाती है अतः जंगल से बेदखल होने का अर्थ होता है अपनी रोजमर्रा की ज़रूरतों को पूरा करने वाले संसाधन से दूर हो जाना। ऐसे में अपनी जीविका चलाने के लिए उन्हें वेश्यावृत्ति का सहारा लेना पड़ता है।

4.2.5.3. राजनितिक चुनौतियाँ

चाहे मातृसत्तात्मक समाज हो, चाहे फिर पितृसत्तात्मक समाज, आदिवासी समाज में स्त्रियों को घर के स्तर पर भले ही सत्ता प्राप्त हो पर सामुदायिक स्तर पर उन्हें पारंपरिक रूप से कोई भी राजनैतिक अधिकार नहीं हैं। वे न तो समुदाय की बैठकों की मुखिया हो सकती हैं और ज़्यादातर समुदायों में तो वे इन बैठकों में भागीदारी भी नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में स्त्री से संबंधित विशेष मुद्दों पर भी निर्णय लेने का अधिकार समुदाय के पुरूषों का होता है।

हालांकि 73वें संविधान संशोधन में पंचायतों में स्त्रियों की भागीदारी अनिवार्य कर दी गई है परंतु ऐसा देखा गया है कि पंचायत की सदस्य होने के बाद भी आदिवासी महिलाएँ पंचायत की बैठकों में नहीं आती हैं (भसीन,2007)।

ज़्यादातर विद्वान मानते हैं कि गरीबी और असुरक्षा की भावना से स्वतंत्र होने पर ही एक स्त्री खुशहाल और स्वस्थ रह सकती है (दासगुप्ता,20001, सेन, 2002)। फिर भी, भारत के विभिन्न आदिवासी समुदायों के तमाम पहलुओं (सांस्कृतिक-सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक) का अध्ययन करने के बाद यह पाया गया है कि भले ही 'सभ्य' समाज की स्त्री की तुलना में आदिवासी स्त्री की स्थिति कुछ हद तक बेहतर हो पर इन समाजों में भी स्त्री की परिस्थिति (स्टेटस) पुरुषों की तुलना में निम्न ही है। हाल के अध्ययन तो बताते हैं कि नव-उपनिवेशवाद, जाति समूहों एवं मिशनरी से संपर्क, औद्योगीकरण, राजनीतिक हस्तक्षेप के कारण आदिवासी समुदायों में भी तेजी से बदलाव आ रहा है। इसके परिणामस्वरूप उनमें सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे हैं, जो उनके सामाजिक-संरचनाओं में बदलाव ला रहे हैं, जिससे स्त्रियों की स्थिति और भी खराब हो गई है।

बोध प्रश्न

1. 'जाति मिलन' क्या है?
2. आदिवासी स्त्रियों के वेश्यावृत्ति में जाने के दो मुख्य कारण बताइएं।
3. आदिवासी समुदायों में स्त्रियों के पारंपरिक राजनैतिक अधिकारों पर टिप्पणी करिए।

4.2.6. सारांश

इस इकाई में हमने आदिवासी एवं खानाबदोश समुदायों में स्त्री की स्थिति का वर्णन विभिन्न संकेतकों जैसे जननांकिकी, स्वास्थ्य, शिक्षा, स्त्री की जगह आदि के आधार पर किया है। मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक आदिवासी समुदायों में सामाजिक संरचना और सामाजिक प्रक्रिया के द्वारा स्त्री की सांस्कृतिक-सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति की विवेचना की गई है। इन स्त्रियों के विरुद्ध होने वाली हिंसा की भी विवेचना की गई है।

4.2.7. बोध प्रश्न

बोध प्रश्न-1

1.किसी समाज में स्त्रियों की स्थिति का मूल्याकंन करने के लिए

1.जननांकी 2. स्वास्थ्य 3. शिक्षा 4.संपत्ति का उत्तराधिकार 5. जेंडर के आधार पर श्रम का बँटवारा 6. राजनैतिक भागीदारी, तथा 7. स्त्री की जगह को संकेतकों की तरह प्रयोग किया जा सकता है ?

2. भारत की जनगणनाएँ दिखाती हैं कि आदिवासी समाज में सभ्य समाज की तुलना में लिंगानुपात बेहतर है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उन समाजों में स्त्रियों को जन्म लेते ही मार नहीं दिया जाता।

3. अ) खासी

4. स) टोडा

बोध प्रश्न-2

1. वधू-मूल्य विवाह के समय वर या उसके परिवालों की तरफ से वधू के परिवार वालों को चुकाया जाता है। यह वास्तव में उस लड़की के उत्पादन और प्रजनन अधिकारों का मूल्य होता है।
2. आदिवासी समुदायों में विवाह-साथी चुनने के प्रचलित आठ तरीके हैं-
   परिविक्षा-विवाह, 2. हरण-विवाह, 3. परोक्ष-विवाह, 4. क्रय-विवाह, 5. सेवा-विवाह, 6. विनिमय विवाह, 7.पारस्परिक सहमति-विवाह एवं सह पलायन, 8. हठ-विवाह
3. पितृसत्तात्मक परिवार में परिवार का मुखिया पिता या घर का सबसे बड़ा पुरुष सदस्य होता है तथा संपत्ति पर पुत्रों का अधिकार होता है। ऐसे परिवारों के वंश-नाम पिता के वंश से चलते हैं। जबकि मातृसत्तात्मक परिवार में परिवार की मुखिया माता या घर की सबसे बड़ी महिला सदस्य होती है। संपत्ति पर पुत्रियों का अधिकार होता है और वंश-नाम माता की ओर का चलता है।

4. अ) टोडा

बोध प्रश्न-3

1. आदिवासी समुदायों में जब किसी को किसी कारण से समुदाय से बहिष्कृत कर दिया जाता है तो वापस उस समुदाय की सदस्यता लेने के लिए उस एक भोज देना होता है जिसे 'जाति मिलन' कहते हैं।

2. आदिवासी स्त्रियों के वेश्यावृत्ति में जाने के दो मुख्य कारण- गरीबी तथा विस्थापन हैं।
3. आदिवासी समुदायों में स्त्रियों को पारंपरिक रूप से कोई राजनैतिक अधिकार नहीं प्राप्त है। यहाँ तक कि उन्हें राजनैतिक सभाओं या बैठकों में भाग लेने की अनुमति भी नहीं होती।

4.2.8. शब्दावली

लिंगानुपात	:	किसी जनसंख्या में 1000 पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या।
निषेध(Taboo)	:	किसी समाज में उसके सदस्यों को कुछ कार्यों या व्यवहारों को न करने का पारंपरिक एवं प्रथागत निर्देश।
संस्कृति	:	किसी समाज में विचारों, प्रथाओं, मानकों, मूल्यों और विश्वासों का समूह जो उस समाज के सदस्य सामूहिक रूप से अनुभव करते हैं और व्यवहार में लाते हैं।
समानतावादी (egalitarian) समाज	:	वह समाज जिसमें सभी लोग समान हों, और सबको बराबर के अधिकार और अवसर प्राप्त हों।
प्रवजन (migration)	:	काम या जीविका की तलाश में अपना मूल स्थान को छोड़ कर कहीं और जाना।

4.2.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

अली, ए. (1980), **हेल्थ एण्ड न्यूट्रिशनल स्टेटस ऑफ पौरी भुनियास ऑफ जाल्डीह विलेज इन सुन्दरगढ़ डिस्ट्रिक्ट.** ओरिसा, द *न्यूज लेटर13* (अप्रैल), ट्राईबल डेवेलोपमेन्ट डिविजन, गृह मंत्रालय, नई दिल्ली।

बरुआ, जे.(2002), **प्रॉपर्टी एण्ड वीमेन्स इनहेरिटेन्स राईट इन द ट्राईबल ऐरियाज ऑफ द नार्थ-ईस्ट,** वाल्टर फर्नानडिस और एस.बारबोरा (संप.), *चेन्जिग वीमेन्स स्टेटस इन इण्डिया:फोकस ऑन द नार्थ-ईस्ट*, गोहाटी, नार्थ-इस्टर्न सोशल रिसर्च सेंटर, एशियन पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे।

बसु, एस. के. (1993), **हेल्थ स्टेटस ऑफ ट्राइबल वीमेन इन इंडिया,** *सोशल चेन्ज(23 (4) दिस.)*

बसु, एस. के. एवं साथी, (1990) **द डिटरमिनेन्ट ऑफ हेल्थ सीकींग बिहैवियर एमंग ट्राइबल पापुलेशन ऑफ बस्तर डिस्ट्रीक्ट,** मध्य प्रदेश, *साउथ ऐशियन एन्थ्रोपोलाजिस्ट* (11 (1))।

भसीन, वी. (1991), **स्टेटस ऑफ विमेन इन द हिमालयास:ए केस ऑफ गद्दीज.,** *जर्नल ऑफ ह्युमन इकोलॉजी,* 2(2): 107-116.

----------(1999), *ट्राईबल्स ऑफ लद्दाख:इकोलॉजी,ह्युमन सेटेलमेन्ट एण्ड हेल्थ,* कमलराज इन्टरप्राइजेज, दिल्ली।

----------(2007) **स्टेटस ऑफ ट्राईबल विमेन इन इण्डिया, *Stud. Home Comm. Sci., 1(1):* 1-16**

चक्रवर्ती, तापि (1993**), द इकोनॉमिक रोल एण्ड स्टेटस ऑफ ट्राईबल विमेन इन त्रिपुरा,** मालविका दासगुप्ता (संप.) *स्टेटस ऑफ विमेन इन त्रिपुरा,* में प्रकाशित, विकास पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

दासगुप्ता, एम. (संप.) (1993), *स्टेटस ऑफ ट्राईबल वीमेन इन त्रिपुरा*, विकास पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

गांगुली, जे.बी. (1993), ***द स्टेटस ऑफ ट्राईबल वीमेन इन द पोस्ट झूमिगं स्टेट ऑफ ट्राईबल इकोनॉमी* इन त्रिपुरा, मालविका दासगुप्ता (संप.)** *स्टेटस ऑफ विमेन इन त्रिपुरा,* में प्रकाशित, विकास पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

हसनैन, नदीम, (2002), *ट्राईबल इंडिया*, नई दिल्ली, पालका प्रकाशन

----------(2003), *इंडियन ऐन्थ्रोपोलॉजी*, नई दिल्ली, पालका प्रकाशन

झा, विकास (2005), माइग्रेशन ऑफ उड़ीसाज ट्राईबल वीमेन: ए न्यू स्टोरी ऑफ एक्सप्लायटेशन, इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, अप्रैल-9।

केली,जे. (1984),*विमेन हिस्ट्री एण्ड थ्योरी,* युनिवर्सिटि ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो।

मजूमदार, डी.एन. एवं मदान, एन. (1957) एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल एन्थ्रोपोलॉजी, ऐशियन पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे।

मीज, मारिया, (1988) *सोशल ओरिजिन्स ऑफ सेक्चुअल डिविजन ऑफ लेबर,* मारिया मीज औऱ साथी (संप.) *वीमेन: द लास्ट कालोनी*, काली फॉर वीमेन,नई दिल्ली।

नथान, डी. एवं केलकर,जी.(2005), *वीमेन एज विचेज एण्ड कीपर्स ऑफ डेमॉन्स:चेन्जिग जेंडर रिलेशन्स इन आदिवासी कम्युनिटि*, कल्पना कन्निबरन (संप.) द वायलेन्स ऑफ नॉर्मल टाइम, विमेन अनलिमिटेड, नई दिल्ली।

धागमवारे, वी. (2005), *द शू फिटेड मी एण्ड आइ वोर इट.....विमेन एण्ड ट्रेडिशनल जस्टिस सिस्टम इन इण्डिया*, कल्पना कन्निबरन (संप.) द वायलेन्स ऑफ नॉर्मल टाइम, विमेन अनलिमिटेड, नई दिल्ली।

कल्पना कन्निबरन (संप.) (2005), *द वायलेन्स ऑफ नॉर्मल टाइम*, विमेन अनलिमिटेड, नई दिल्ली।

सिंह, के.एस., (1972) *द ट्राईबल सिचुऐशन इन इन्डिया*, मोहनलाल बनारसी दास, शिमला।

सेन,ज्योती, (1978) *स्टेटस ऑफ वुमेन अमंग ट्राईब्स, ट्राइबल वीमेन इन इण्डिया में प्राकाशित। इण्डियन एन्थ्रोपोलोजिकल सोसायटि, कलकत्ता ।*

विद्यार्थी, एल.पी. एवं राय, बी.के., (1977) *ट्राईबल कल्चर ऑफ इण्डिया*, कान्सेप्ट पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

द युनाईटेड नेशन्स: द *कॉन्वेशन ऑन द ऐलिमिनेशन ऑफ ऑल द फॉर्म्स ऑफ डिसक्रिमिनेशन अगेन्स वीमेन*। यूनाइटेड नेशन्स, न्यूयोर्क (1995).

योजना आयोग, भारत सरकार को सोसायटी फॉर रिजनल रिसर्च एण्ड एनालिसि की शोध रिपोर्ट (अक्टुबर,2010) माइग्रेशन ऑफ ट्राइबल वीमेन: इट्स सोशियो-इकोनॉमिक इफेक्ट्स-एन इन-डेफ्थ स्टडी ऑफ छत्तीसगढ़, झारखंड, एम पी तथा उड़ीसा

इकाई-3 सकारात्मक विभेद

इकाई की रूपरेखा

3.3.0. उद्देश्य

3.3.1. प्रस्तावना

3.3.2. सकारात्मक विभेद अवधारणा

3.3.3. स्त्री आरक्षण पर एक नज़र

3.3.3.1. आज़ादी के बाद स्त्रीयों के लिए विशेष व्यवस्थाएँ

3.3.3.2. स्त्री आरक्षण एवं 73वाँ-74वाँ संविधान संशोधन विधेयक

3.3.3.3. स्त्री आरक्षण और कुछ सवाल

3.3.3.4. स्त्री आरक्षण विधेयक और कुछ तथ्य

3.3.3.5. स्त्री आरक्षण विधेयक के पक्ष-विपक्ष में वाद-विवाद

3.3.3.6. विधेयक पर अन्य आपत्तियाँ

3.3.4. स्त्री आयोग,

3.3.5. राष्ट्रीय स्त्री सशक्तिकरण नीति-2001

3.3.6. सारांश

3.3.7. बोध प्रश्न

3.3.8. संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.3.0. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात आप

- सकारात्मक विभेद की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- सकारात्मक विभेदके उद्देश्य बता सकेंगे।
- भारतीय परिवेश में स्त्री संदर्भ में सकारात्मक विभेद पर चर्चा कर सकेंगे।

3.3.1. प्रस्तावना

दुनिया के प्रायः सभी देश और उनके संविधान अपने नागरिकों को समान अधिकार प्रदान करते हैं तथा किसी भी प्रकार के भेदभाव को स्वीकार नहीं करते। अगर भारतीय संविधान के हवाले से कहे तो, जाति, धर्म, भाषा-संस्कृति, क्षेत्रीयता व लिंग के आधार पर भेदभाव का निषेद्ध किया गया है। संविधान का अनुच्छेद-15 धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर भेदभाव को वर्जित करता है। अनुच्छेद-16 लोक नियोजन के विषय में अवसर की समता और अनुच्छेद-14 विधि के समान संरक्षण की प्रत्याभूति देता है। इसी तरह के कई एक अधिकार भारतीय संविधान अपने शासित परिक्षेत्र के सभी नागरिकों को प्रदान करता है तथा इन्हें खास तौर से मूल अधिकार के अंतर्गत रखा गया है। कहने का तात्पर्य कि भारतीय संविधान व्यक्ति के बीच किए जाने वाले किसी भी तरह के भेदभाव को विर्जित करता है। संविधान के सभी अनुच्छेद इस बात के गवाह हैं कि प्रत्येक व्यक्ति संविधान के दायरे में समान है किंतु प्रत्येक व्यक्ति देश के भिन्न-भिन्न हिस्से से आता हैं और सबकी स्थिति एक जैसी नहीं होती। हर किसी की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ एक जैसी नहीं होती इसलिए एक ही देश के नागरिकों के विकास में अंतर पाया जाना काफ़ी हद तक स्वाभाविक है। ऐसे में विकास के क्रम में पिछड़े और कमज़ोर वर्ग के लोगों को समाज के अधिसंख्य व समर्थ लोगों की तुलना में इन्हें अधिमान्यता प्रदान किया जाना आवश्यक हो जाता है ताकि विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक हलकों में उनको भी उचित व पर्याप्त प्रतिनिधित्व देकर परस्पर संतुलन को बनाया जा सके। यह अधिमान्यता अपने ही देश के नागरिकों के बीच एक तरह का 'विभेद' है किंतु यह विभेद नकारात्मक न होकर सकारात्मक उद्देश्यों के लिए है इसलिए यह विभेद होते हुए भी सकारात्मक विभेद है और क़ानून इसी रूप में इस 'अधिमान्यता' को स्वीकार करता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद-14 में उपबंधित है कि 'राज्य भारत के राज्यक्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से या विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।'' इस उपबंध में प्रयुक्त दो पदों 'विधि के समक्ष समता' और ''विधियों के समान संरक्षण'' के दो विभिन्न अर्थ हैं। ''विधि के समक्ष समता'' से तात्पर्य है कि विधि प्रत्येक व्यक्ति को समान मानेगी और पद, प्रतिष्ठा या अन्य किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं होगा और ''विधि के समान संरक्षण'' पद ''समान लोगों के साथ समान व्यवहार'' का प्रवधान करता है और असमान व्यक्तियों के सुविधाएँ तथा अवसर प्रदान करने के लिए राज्य को सकारात्मक कार्य करने का अधिकार देता है। समता के सिद्धांत का यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक विधि सभी व्यक्तियों को सार्वभौम रूप से लागू हो यद्यपि वे व्यक्ति प्रकृति योग्यता या परिस्थिति के अनुसार एक ही स्थिति में नहीं है। विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों के अलग-अलग आवश्यकताओं को देखते हुए बहुधा उनके पृथक व्यवहार करने की अपेक्षा होती है। यह सिद्धांत राज्य को विधिसम्मत प्रयोजनों के लिए व्यक्तियों का वर्गीकरण करने की शक्तियाँ प्रदान करता है। विधान मंडल को मानवी संबंधों की अनंत विविधता से उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं से जूझना

पड़ता हैं। उसे आवश्यकतानुसार यह शक्ति देनी पड़ती है कि वह विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विशेष विधि बनाए और इस प्रयोजन के लिए उसे व्यक्तियों के या अन्य ऐसी बातों के जिन पर ऐसी विधियों का प्रवर्तन होता है चयन या वर्गीकरण के लिए विस्तृत शक्तियाँ दी जाती हैं। इस तरह से बोधगम्य और तर्कसंगत आधार पर विभेद की इजाज़त दी गई है। यही वजह है कि अनुच्छेद 15(1) कहता है कि ''राज्य, किसी नागरिक के विरूद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।'' वहीं दूसरी ओर इसी अनुच्छेद का उपबंध (3) स्त्रियों और बालकों के लिए तथा अनुच्छेद-15(4) राज्य को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों के लिए विशेष उपबंध करने का प्रावधान करता है। इन प्रावधानों के अंतर्गत ही अपने यहाँ विभिन्न प्रकार के कई विशेष उपबंध किए गए है जिन्हें हम आरक्षण के रूप में जान सकते हैं और सकारात्मक विभेद को आरक्षण के संदर्भ में भारत में समझा जा सकता है। इस इकाई में स्त्री आरक्षण के संदर्भ में सकारात्मक विभेद को समझने की कोशिश करेंगे।

3.3.2. सकारात्मक विभेद की उत्पत्ति

'सकारात्मक विभेद' एक पश्चिमी अवधारणा है। इसके अलावा पश्चिमी जगत में इसके लिए एक और शब्द 'अफरमेटिव एक्शन' का प्रयोग में किया जाता है, जो काफ़ी प्रचलन में है। यह सबसे पहले यूनाइटेड स्टेट्स में 6 मार्च, 1961 को जॉन एफ केनेडी के हस्ताक्षर से जारी एजीक्यूटिव आर्डर 10925 के रूप में अस्तित्व में आया। सन 1965 में लायडॉन बी जॉनसन ने अपने एक एजीक्यूटिव आदेश- 11246 के जरिए सरकारी कर्मचारियों के लिए कुछ विशेष प्रावधान किए। बाद में सन 1967 में लिंग विभेद को भी इसके अंतर्गत स्वीकार कर लिया गया। आगे चलकर दुनिया के तमाम देशों में इसे किसी-न-किसी रूप में अपनाया और भारत में यह जाति आधारित कोटे और विभिन्न तरह के आरक्षणों के रूप प्रचलित हैं और इसे हम स्त्री आरक्षण के रूप भारतीय संदर्भ में समझने की कोशिश करेंगे।

3.3.3. स्त्री आरक्षण पर एक नजर

आज पूरी दुनिया की आधी आबादी स्त्रीयों की है और परिवार व समाज की अधिसंख्य जिम्मेदारियाँ उनके ऊपर हैं। बावज़ूद इसके उनकी स्थिति अच्छी नहीं है। उन्हें दोयम दर्जे का नागरिक समझा जाता है। हालांकि दुनिया के देशों में जैसे-जैसे लोकतांत्रिक व समाजवादी व्यवस्थाएँ मज़बूत होती गई वैसे-वैसे उनकी स्थिति कुछ बेहतर होती गई। दुनिया के कई देशों ने उनके सशक्तिकरण के कई-एक विशेष व्यवस्थाएँ की। उनके लिए विशेष क़ानून बनाए गए। जिसके चलते शिक्षा, नौकरियों और राजनीतिक क्षेत्रों में उनका प्रतिनिधित्व बढ़ा। किंतु भारत जैसे पुरूष प्रधान पितृसत्तात्मक समाज में जहाँ स्त्रीयों की घर की चाहरदिवारी से बाहर उन्हें अनुपयुक्त और असमर्थ मानने की परंपरा रही है वहाँ पर उनकी स्थिति में परिवर्तन

के लिए बातें आज़ादी की लड़ाई के दिनों में ज़ोर पकड़ने लगी और सन 1920 में पहली बार अखिल भारतीय स्त्री कांग्रेस स्त्रीयों का संगठन अस्तित्व में आया, जिसने कांग्रेस के साथ मिलकर आज़ादी की लड़ाई में शामिल हुआ और जिसके जरिए भारतीय राजनीति में स्त्रीयों का प्रथमतः प्रत्यक्ष सामूहिक प्रतिनिधित्व हुआ। और इस स्त्री संगठन की समय-समय पर की जाने वाली माँगों का हिन्दुस्तान के प्रायः सभी राजनीतिक दल समर्थन करते रहें।

आज़ादी की लड़ाई के दौरान भारत में होने वाले चुनावों में स्त्रीयों के लिए मतदान करने के अधिकार को लेकर माँग की जाती रही। सबसे पहले सरोजनी नायडू ने स्त्रीयों के लिए पुरूषों के बराबर राजनीतिक अधिकार की माँग की, जिसका समर्थन कांग्रेस, मुस्लिम लीग और होम-रूल-लीग आदि राजनीतिक दल भी करते रहे। किंतु अंग्रेज़ी सरकार इस आधार पर इस माँग का विरोध करती रही कि ऐसे समाज में जहाँ पर्दा प्रथा और स्त्रीयों के लिए शिक्षा का निषेध हैं, वहाँ की स्त्रीयों को चुनाव लड़ने और मतदान का अधिकार देना काफ़ी जल्दी होगी। इसके बावज़ूद भी सन 1921 में मुंबई और मद्रास में पुरूषों की तरह संपत्ति और आदमनी की शर्तों पर स्त्रीयों को मतदान का अधिकार दिया गया। वास्तव में भारतीय राजनीति में स्त्रीयों ने पहली बार जीत हासिल की और अपनी अहमियत को साबित किया।

सन 1932 में चुनाव कराने के लिए भारत में दौरे पर आई व्यस्क मताधिकार समिति के समक्ष उपस्थित होकर यहाँ की स्त्री संगठनों ने लिंग संपत्ति या साक्षर योग्यता के बिना सबको मतदान करने का अधिकार देने की माँग की गई। अंग्रेज़ी सरकार ने पूर्व की तरह ही इसे मानने से इनकार कर दिया किंतु शहरी क्षेत्र की स्त्रीयों को मतदान करने का अधिकार दे दिया।

सन 1935 में स्त्रीयों के लिए 41 सीटें सुरक्षित की गई। सन 1937 के चुनावों में विधान मंडलों की 56 स्त्री सदस्यों में से केवल 10 अनारक्षित सीटों तथा शेष 5 नामित की गई थी। इसी तरह संविधान पर चर्चा के लिए संविधान सभा के गठन होने पर उसमें 11 स्त्री सदस्यों को नामित किया गया। इस तरह से भारत में हम स्त्री संदर्भ को दृष्टिगत रखते हुए सकरात्मक विभेद के सूत्र तलाश सकते हैं। थोड़े और विस्तार से बात की जाए तो आज़ादी के बाद भारतीय संविधान में घोषित तौर पर अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, बच्चों तथा स्त्रीयों के लिए विशेष उपबंध करने के प्रावधान की व्यवस्था दी गई, जिसके आलोक में अन्यों के साथ-साथ स्त्रीयों के लिए कई क़ानून बनाए गए तथा राजनीतिक अधिकार, जिन्हें हम सकारात्मक विभेद विस्तार हो सकते हैं।

3.3.3.1. आज़ादी के बाद स्त्रीयों के लिए विशेष राजनीतिक व्यवस्थाएँ

आज़ादी मिलने पर स्त्रीयों को मतदान का अधिकार मिलने के बाद सन 1952 में हुए प्रथम लोकसभा चुनाव से लेकर मतदान करने तथा चुनाव लड़ने में लगातार वृद्धि होती रही, बावज़ूद इसके पुरूष उम्मीदवारों की तुलना में उनकी भागीदारी मुश्किल से पाँच प्रतिशत रही। यहाँ तक कि लोकसभा में स्त्री

सदस्यों की संख्या कभी भी सदन की कुल संख्या के 10 प्रतिशत से अधिक नहीं रही। सन 1991 में हुए आम चुनाव में लोकसभा में केवल 39 स्त्रीयाँ यानि 7.07 प्रतिशत स्त्रीयाँ ही निर्वाचित थी। राज्य सभा में मात्र 17 सदस्य यानि 7.3 प्रतिशत स्त्री सदस्य थी। लोकसभा की 521 सीटों के लिए हुए चुनावों में 8,374 पुरूष प्रत्याशियों की तुलना में स्त्री उम्मीदवारों की संख्या-325 थी।

इसी तरह से 7वीं लोकसभा चुनाव में कांग्रेस (आई) ने 13.69 प्रतिशत स्त्री उम्मीदवारों को छोड़कर शेष अन्य दलों ने 10 प्रतिशत अधिक टिकट स्त्री उम्मीदवारों को नहीं दिए। राजनीतिक भागीदारी स्त्रीयों की जो रही वह राजनीतिक दलों की कृपा की तरह रही। राजनीति में स्त्रीयों की कम भागीदारी को देखते हुए स्त्रीयों के लिए सीट आरक्षित करने और उनकी भागीदारी बढ़ाने के लिए संभावना तलाश करने के लिए एक समिति 'स्त्रीयों की स्थिति' (सी0एस0डब्ल्यूआई) बनाई गई, किंतु इस समिति ने 'समानता का अधिकार' के आधार पर इसे अस्वीकार कर दिया तथा आरक्षण के जरिए स्थानीय स्वशासन संरचनाओं में स्त्री प्रतिनिधित्व के जरिए स्थानीय स्वशासन संरचनाओं में स्त्री प्रतिनिधित्व को मानने से इनकार कर दिया। किंतु इस समिति ने स्त्रीयों की अधिक भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए ग्राम स्तर पर संवैधानिक स्त्री पंचायतों की स्थापना की सिफ़ारिश की।

सन 1978 में गठित अशोक मेहता समिति ने स्थानीय विकास के लिए पंचायती राज संस्थाओं पर ज़ोर दिया और कर्नाटक ने पहली बार ज़िला और मंडल (पंचायत) पंचायत स्तर पर 25 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था स्त्रीयों के लिए की थी। तत्पश्चात पश्चिम बंगाल और आंध्र प्रदेश में भी स्त्री आरक्षण को स्वीकार किया गया। परिणाम हुआ कि पंचायत में स्त्रीयाँ वहाँ कर्नाटक में 42 प्रतिशत और पश्चिम बंगाल में 39 प्रतिशत आ गई।

सन 1988 में स्त्रीयों की राजनीति में भागीदारी और कम प्रतिनिधित्व पर विचार करने के लिए एक राष्ट्रीय स्त्री दृष्टिकोण योजना (एनपीपीडब्ल्यू) बनाई गई। उसने अपनी रिपोर्ट में स्थानीय स्वशासन में 30 प्रतिशत स्त्री आरक्षण की सिफ़ारिश की और इसके लिए 1989 में संसद में 64 वॉ संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया गया, जो पारित नहीं हो पाया।

यद्यपि 64 वाँ संविधान संशोधन विधेयक पारित नहीं हो पाया, बावज़ूद इसके स्त्री संगठनों, समितियों तथा राजनीतिक दलों द्वारा स्थानीय स्वशासन में पर्याप्त प्रतिनिधित्व के जरिए देश की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में स्त्रीयों की भागीदारी बढ़ाने की माँग होती रही। इसके परिणामस्वरूप आठवें दशक के अंत में यानि 1992 में 73 वें और 74 वें संविधान संशोधन विधेयक अस्तित्व में आया।

3.3.3.2. स्त्री आरक्षण एवं 73वाँ-74वाँ संविधान संशोधन विधेयक

प्रधानमंत्री नरसिंहा राव के कार्यकाल के दौरान 22 दिसंबर, 1992 को लोकसभा के अंदर 73वाँ व 74वाँ संविधान संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया गया, जिसके चलते स्थानीय स्वशासन व राजनीतिक प्रक्रिया

में स्त्रीयों की भागीदारी को बढ़ावा मिला। इसका उद्देश्य पंचायती राज संस्थाओं (पीआरआइ) को संवैधानिक स्थिति प्रदान करना, अधिकारों के विकेंद्रीकरण द्वारा संरचनात्मक परिवर्तन करना और स्वशासन की संस्थाओं में लिंगानुपात के असंतुलन को दूर करना था। यह प्रस्ताव पंचायती राज संस्थाओं (पीआरआई) से संबंधित था, बावज़ूद इसके अनुच्छेद-243(डी) के अंतर्गत ग्रामीण और शहरी शासन (पंचायतों और नगर पालिकाओं) में स्त्रीयों को एक-तिहाई प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए प्रावधान के अनुसार सभी राज्यों में गांव, मध्यवर्ती (ब्लाक/तालुका/मंडल) और ज़िला स्तरों पर त्रिस्तरीय पंचायती प्रणाली के लिए प्रत्यक्ष चुनाव कराने का प्रावधान किया गया है। पंचायतों की पाँच साल की अवधि, अनुसूचति जाति और अनुसूचित जनजाति जैसे वंचित वर्गों के लिए सीटों का आरक्षण एवं स्त्रीयों के लिए एक-तिहाई सीटों के आरक्षण की व्यवस्था की गई है।

73 वाँ संशोधन विधेयक पारित हो जाने पर पंचायतीराज संस्थाओं में सदस्यों और अध्यक्ष पद के रूप में आरक्षण प्राप्त है तथा पंचायत के प्रत्येक स्तर पर स्त्रीयों के लिए एक-तिहाई सीटें आरक्षित हैं, जिसके लिए प्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली अपनाई जाती है।

इस प्रकार यह विधेयक स्त्रीयों के लिए एक-तिहाई आरक्षण का प्रावधान करता है और पंचायत के प्रत्येक स्तर पर अध्यक्षों के कुल पदों का एक-तिहाई पद स्त्रीयों के लिए आरक्षित हैं। इसी तरह की व्यवस्था शहरी स्वशासन संस्थाओं नगरपालिकाओं आदि में भी किया गया है। इस 73वें संशोधन अधिनियम ने स्त्रीयों की राजनीतिक भागीदारी को काफ़ी हद तक बढ़ाया है और लोकतांत्रिक प्रक्रिया में उनकी उल्लेखनीय भूमिका दिख रही है और आज तकरीबन पूरे देश में पंचायतों के पदों पर आठ लाख स्त्रीयाँ पदासीन हैं। यहाँ तक कि कुछ जगहों पर तो बिना किसी औपचारिक प्रशिक्षण या शैक्षणिक योग्यता के अन्यों की तुलना में बेहतर प्रदर्शन काम करने में स्त्रीयों को पाया गया है। इसके बाद पूरे देश में एक व्यापक सक्रिय स्त्री राजनीतिकों का उभार देखा गया। फिर भी उनकी नेतृत्वकारी योग्यता पर लोगों का संदेह बना हुआ है। इसलिए उनकी योग्यता पर कुछ सवाल भी उठाए जाते रहे हैं।

3.3.3.3. स्त्री आरक्षण और कुछ सवाल

विगत पंचायत चुनावों में चयनित स्त्रीयों ने राजनीतिक भागीदारी की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। फिर भी, उनकी योग्यता पर संदेह किया जाता रहा है। उनकी सार्वजनिक ज़िम्मेदारी की जगह उन्हें मात्र परिवार चलाने वाली इकाई के रूप में ही देखा जाता रहा है। खासकर परिवार के पुरूषों की ओर से उन्हें समुचित मदद नहीं मिल पाती है। इस प्रकार की सामाजिक रूढ़िबद्ध धारणाएँ स्त्रीयों के सतत रूप में राजनीतिक व सामाजिक जीवन को मुश्किल कर देती हैं। अपनी पत्नियों को सामाजिक और राजनीतिक जीवन में मदद करने वाले पति को 'जोरू का गुलाम' जैसे विशेषण एक हद तक स्त्रीयों के खिलाफ जाते हैं और स्त्रीयों के पक्ष में पतियों के समर्थन को कमज़ोर करते हैं। बहुत सी स्त्रीयाँ परिवार की ज़िम्मेदारियों व

पारिवारिक माँगों के समक्ष अपने सामाजिक व राजनीतिक जीवन का बलिदान कर देती हैं। इसके अलावा यौन शोषण और राजनीतिक अपराधीकरण के चलते स्त्रीयों की सार्वजनिक व राजनीतिक जीवन में भागीदारी प्रभावित है।

किंतु जहाँ तक स्त्रीयों की योग्यता का सवाल है, आज एक बहस चल रही है कि राजनीति में स्त्रीयों को उनके अपने काम की योग्यता की पहचान के बदले में आरक्षण उसका स्थानापन्न नहीं हो सकता। ऐसे लोगों को यह ख्याल नहीं है कि ब्रिटिश शासन के खिलाफ संघर्ष में बड़ी संख्या में बहुत ही योग्य और साहसी स्त्रीयों की भागीदारी देखने को मिली थी, किंतु इसे बड़ी ही सहजता से लोग इसे नज़रअंदाज कर जाते हैं। यहाँ तक कि सन 1952 के लोकसभा के आम चुनाव में 499 की संदस्य संख्या वाली पहली संसद में मात्र स्त्री सदस्यों की संख्या मात्र 22 थी और हमारे स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों ने 'हमारी माँ-बहनों को उनके शौर्यपूर्ण बलिदान' के लिए उनकी प्रशंसा करते हुए भी राजनीतिक हिस्सेदारी में पर्याप्त अवसर नहीं दिया और इसे अपने शौर्य के खिलाफ-सा माना और आज श्री संगठनात्मक नेतृत्व और चुनाव के समय उम्मीदवारी तय करने की प्रक्रिया एवं हिस्सेदारी में पुरूष एकाधिकार ही कायम रहता है।

स्त्रीयों की योग्यता को एक अन्य उदाहरण के जरिए भी देख सकते हैं। आंध्र प्रदेश में एक जमाने में स्त्रीयों का जबर्दस्त उभार देखा गया, जिसका नेतृत्व पूरी तरह से स्त्रीयाँ कर रही थी। उस आंदोलन में स्त्रीयों की आंदोलन को नियोजित और नेतृत्व करने की क्षमता अभूत-पूर्व ढ़ंग से देखी गई थी। किंतु विधान सभा चुनावों में उन्हें टिकट नहीं दिए गए और न ही स्त्री प्रतिनिधित्व में सुधार के लिए प्रयास किए गए। उन आंदोलनकारी स्त्री कार्यकर्ताओं ने राजनीतिक दलों के प्रति अपने को निष्ठा के साथ जोड़े रखा, किंतु राजनीतिक दलों ने गुणी और योग्य स्त्रीयों को टिकट नहीं दिया। सन 1970 के दशक में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व वाले आंदोलनों समेत भ्रष्टाचार विरोधी अन्य आंदोलनों में तथा आपातकाल के खिलाफ आंदोलन में बड़ी संख्या में स्त्रीयों ने शामिल होकर बल प्रदान किया, परंतु चुनाव के समय उन्हें दरकिनार कर दिया। पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा में अनेक मामलों में स्त्रीयों को बहादुराना भूमिका को स्वीकार किया गया किंतु इन राज्यों में भी स्त्रीयों की राजनीतिक भागीदारी में कोई उल्लेखनीय तस्वीर नहीं बन पाई तथा भारत के शत-प्रतिशत साक्षारता वाले राज्य केरल में भी स्त्री प्रतिनिधित्व अन्य राज्यों से भिन्न नहीं है। और आज भारत की निर्वाचित संस्थाओं में स्त्री प्रतिनिधित्व 9 प्रतिशत से ज़्यादा नहीं है दरअसल, स्त्री प्रतिनिधित्व की यह सोचनीय स्थिति उनकी काबिलीयत से नहीं, बल्कि पुरूष प्रधान समाज में पुरूष-मानसिकता से जुड़ा सवाल है। फिर भी अनेक विकट अवरोधों के बाद भी स्त्री प्रतिनिधित्व का सवाल पीछे नहीं छूटा है और स्त्री आरक्षण के लिए प्रयास हो रहे हैं।

3.3.3.4. स्त्री आरक्षण विधेयक और कुछ तथ्य

पंचायत चुनावों में मिली सफलता के अनुभव के आधार पर 73वें संविधान संशोधन अधिनियम की तरह ही एक-तिहाई आरक्षण स्त्रीयों के लिए संसद और विधान सभाओं में लागू करने की बात आई तो इसे लेकर काफ़ी विवाद उत्पन्न हो गया। संसद और विधानसभाओं में स्त्रीयों का कम प्रतिनिधित्व संख्या देखकर आरक्षण की तरह ही संसद और विधान सभाओं में स्त्रीयों के लिए एक-तिहाई सीट आरक्षित कर दी जाए। इसके लिए सितंबर, 1996 में संसद के समक्ष 81वाँ संविधान संशोधन विधेयक लाया गया, जिसे स्त्री आरक्षण विधेयक (डब्ल्यूआरबी) या स्त्री विधेयक के नाम से जाना जाता है। इस विधेयक में संसद और राज्य विधान मंडलों में एक-तिहाई सीटे स्त्रीयों के लिए आरक्षित करने का प्रावधान किया गया था, जिसकी वजह से संसद में स्त्री सांसदों की संख्या 181 हो जाती। प्रत्येक चुनाव से पूर्व आरक्षित की जाने वाली सीटों का चयन लाटरी से करने की व्यवस्था दी गई थी। सीटों के आरक्षण के चयन करने की प्रणाली प्रत्येक चुनाव में प्रयोग में लाई जानी थी। किंतु 73वें संविधान संशोधन अधिनियम की तरह संसद में पारित नहीं हो पाया और संयुक्त चयन समिति को भेज दिया गया। यह विधेयक 1998 में फिर एक बार संसद में प्रस्तुत हुआ किंतु भारी विरोध के चलते पारित न हो सका। सन 1999 में स्त्री आरक्षण विधेयक एक बार फिर 85वें संविधान संशोधन विधेयक के रूप में संसद में प्रस्तुत किया गया किंतु कोई सहमति न बन पाई। इस विधेयक ने विधेयक के पक्ष-विपक्ष में कई वाद-विवादों को जन्म दिया।

3.3.3.5. स्त्री आरक्षण विधेयक के पक्ष-विपक्ष में वाद-विवाद

स्त्री आरक्षण विधेयक के समर्थकों का कहना है कि स्त्रीयों के लिए नियमित चुनाव और अभियान चलाए जाने के बाद भी बड़ी संस्थाओं में उनका पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया है और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में उन्हें अपेक्षित भागीदारी नहीं मिल पाई है। इसके अलावा स्त्रीयाँ भी दलित और अनुसूचित/जनजातियों की तरह ही वंचित श्रेणी की हैं एवं सदियों से पितृसत्तात्मक समाज में उनका उत्पीड़न व गैर बराबरी भेदभाव का शिकार होती रही है। सकारात्मक कार्य के जरिए ही पुरूष की सी स्थिति पा सकती हैं।

बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों में राजनीति में धनबल, बाहुबल का प्रभाव बढ़ा तथा पुरूष प्रभुत्व के चलते स्त्रीयों का चुनाव लड़ पाना संभव नहीं रह गया है। पुरूषों की कपटपूर्ण कार्यव्यवहार व व्यवस्था की शिकार स्त्रीयाँ हर स्तर पर हो रही हैं। संसद और विधान मंडलों में स्त्रीयों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व न होने के चलते क़ानून बनाने की प्रक्रिया में प्रभावशाली हस्तक्षेप नहीं होता और स्त्रीयों का व्यापक हित प्रभावित होता है। काफ़ी प्रयासों के बाद भी स्त्रीयों की राजनीतिक भागीदारी बढ़ नहीं पाई है। इसके अलावा स्त्री आरक्षण की वजह से राजनीतिक दलों की स्त्री उम्मीदवारों को चुनाव में लड़ना सुनिश्चित हो जाएगी।

त्रिस्तरीय पंचायत चुनावों में विभिन्न पदों पर एक-तिहाई चुनी गई स्त्रीयों के राजस्थान, केरल, त्रिपुरा, केरल आदि विभिन्न राज्यों में किए गए उनके बेहतरीन प्रदर्शनों को देखते हुए संसद और विधान मंडलों में भी एक-तिहाई सीटों पर स्त्री आरक्षण को प्रबल आधार बनता है।

दूसरी ओर विधेयक विरोधियों का तर्क हैं कि संसद और विधान मंडलों में स्त्रीयों के आ जाने से वे राजनीतिक कार्य सूची में स्त्री विषयक विषयों के शामिल कराने में समर्थ रहेंगी, यह सर्वदा संदिग्ध ही रहेगा। निरक्षरता, नियमों-विनियमों और प्रक्रियाओं से अनभिज्ञता तथा राजनीतिक अनुभवहीनता के कारण स्त्रीयों की उच्च स्तरीय राजनीति से निपटने की क्षमताएं और प्रभावशीलता संदेहपूर्ण है। विधेयक विरोधी लोकतंत्र के विनाश की बात करते हुए कहते हैं कि स्वतंत्र चयन में कटौती होने से आरक्षण लोकतंत्र को कमज़ोर करेगा यानि लोकतंत्र व्यक्ति (पुरूष या स्त्री) को अपने पसंदीदा चुनाव क्षेत्र से चुनाव लड़ने का अधिकार देता है और आरक्षण इसके विपरीत है। किंतु ऐसे लोग भूल जाते हैं कि भारत की संसदीय राजनीति के शुरूआती दिनों से पुरूषों के लिए अघोषित आरक्षण जारी है। अगर उससे लोकतंत्र कमज़ोर नहीं हुआ तो स्त्री आरक्षण से कैसे हो जाएगा? और यह समानता के मौलिक अधिकार के विरूद्ध कैसे जाएगा? कुछ लोग स्त्रीयों को सामाजिक रूप से पिछड़े समुदायों के बराबर नहीं मानते और एक सजातीय समूह न मानते हुए स्त्री आरक्षण का विरोध करते है। वास्तव में निर्वाचित संस्थाओं में स्त्रीयों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व न होना भारतीय लोकतंत्र का एक कमज़ोर पक्ष है और इसे मज़बूत करने के लिए एक सकारात्मक हस्तक्षेप की ज़रूरत है।

3.3.3.6. विधेयक पर अन्य आपत्तियाँ

मौजूदा स्त्री आरक्षण विधेयक को लेकर कुछ स्त्री संगठन और कार्यकर्ताएं स्त्री सशक्तिकरण के लिए इस जगह एक वैकल्पिक विधेयक की माँग करती हैं। वामदल, अधिसंख्य वामपंथी रूझान के स्त्री संगठन व बड़ी राजनीतिक पार्टियाँ इस विधेयक के समर्थन में हैं, जबकि पिछड़े समुदाय के राजनेताओं का प्रबल विरोध हैं। उनका मानना है कि पिछड़े समुदाय के अनेक बड़े नेता संसद से बाहर हो जायेंगे। इसलिए समाजवादी पार्टी राष्ट्रीय जनता दल, लोक जनशक्ति पार्टी, बहुजन समाज पार्टी आदि पार्टियाँ इस विधेयक का विरोध करती हैं और स्त्रीयों के लिए आरक्षित एक-तिहाई सीटों में पिछड़ी जातियों और अल्पसंख्यक समुदाय की स्त्रीयों के लिए आरक्षण की माँग करती हैं। इसे कोटा भीतर कोटा का नाम दिया जाता है। इन पार्टियों के सबल विरोध के चलते यह विधेयक पारित नहीं हो सका। स्त्री आरक्षण विधेयक पारित न हो पाने की स्थिति में भी स्त्रीयों के सशक्तिकरण के लिए राजनीतिक प्रयासों पर भी कुछ प्रयास हुए हैं और उनके हितों के संरक्षण व संवर्द्धन के लिए कतिमय निकायों की स्थापना हुई है। इस क्रम में राष्ट्रीय स्त्री आयोग की चर्चा भी सर्वथा उपयुक्त रहेगी।

3.3.4. स्त्री आयोग

संयुक्त राष्ट्र संघ के आयोग की 25वीं रिपोर्ट में दुनिया के तमाम देशों से पुरूषों और स्त्रीयों के बीच समानता स्थापित करने, राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की स्त्रीयों के कार्यों की समीक्षा करने, उनकी स्थितियों की आकलन करने, आवश्यक पहल करने और प्राथमिकताओं के सुझाव देने के लिए एक राष्ट्रीय आयोग या इसी तरह का कोई अन्य निकाय गठित करने की अपील की गई थी। भारत ने उस रिपोर्ट की सिफ़ारिश को स्वीकार करते हुए सन 1971 में समिति बनाई। इस समिति ने 1974 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए स्त्रीयों की मौजूदा स्थिति में सुधार लाने और समर्थ रूप से सुनियोजित ढंग से काम करने के लिए केंद्र और राज्य स्तर पर एक वैधानिक स्वयंशासी आयोग के गठन करने की सिफ़ारिश की।

इस रिपोर्ट के 16 वर्ष बाद सन 1990 में राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार ने प्रस्तावित आयोग की संरचना, कार्यों और अधिकारित के लिए गैर-सरकारी संगठनों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और विशेषज्ञों की राय मांगी और मई 1990 में एक प्रस्ताव संसद में लाया गया। जुलाई 1990 में मानव संसाधन मंत्रालय की पहल पर आहूत एक देश स्तर के राष्ट्रीय सम्मेलन में इस पर सुझाव माँगे गए और अगस्त 1990 में सरकार ने अनेक संशोधन करते हुए आयोग को दीवानी अदालत के अधिकार प्रदान करके प्रस्ताव पारित कर दिया और 30 अगरस्त, 1990 में राष्ट्रपति के हस्ताक्षर से देश के अंदर राष्ट्रीय स्त्री आयोग एक नया निकाय अस्तित्व में आया। इस तरह से एक अध्यक्ष और पाँच सदस्यीय राष्ट्रीय स्त्री आयोग का गठन किया गया। इसका प्रशासनिक कार्य संभालने के लिए एक सदस्य सचिव को भी नामित करती हैं।

यह आयोग की शिकायत एवं परामर्श कक्ष दो प्रमुख इकाईयाँ हैं, जो स्त्रीयों के हितों से संबंधित क़ानूनों की समीक्षा, अत्याचार, उत्पीड़न व अन्य विषयक मामलों में हस्तक्षेप करती हैं। आयोग एनसीडब्ल्यू अधिनियम 1990 के अनुच्छेद-10 के अंतर्गत स्त्री से संबंधित मामलों का स्वतः संज्ञान ले सकता है।

स्त्री आयोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्त्रीयों की दक्षता के निर्माण व आय आधारित रोज़गार के जरिए आर्थिक सशक्तिकरण करना, जीवन के हर क्षेत्रों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व के लिए वातावरण सृजन करने और प्रशिक्षण के द्वारा राजनीतिक सशक्तिकरण, क़ानूनी सुधार और क़ानूनों का संवेदी रूप में लागू कराकर घर और घर से बाहर स्त्रीयों के विरूद्ध हिंसा तथा भेदभाव की रोकथाम के लिए प्रयास करना हैं।

केंद्र के राष्ट्रीय स्त्री आयोग की तरह ही देश की विभिन्न राज्यों में राज्य स्त्री आयोग का गठन किया है। इनकी स्थापना स्त्रीयों के अधिकारों एवं हितों के संरक्षण एवं निगरानी करने के लिए विधान मंडलों द्वारा पारित अधिनियमों द्वारा किया गया है।

3.3.5. राष्ट्रीय स्त्री सशक्तिकरण नीति 2001

उपर्युक्त प्रयासों के अलावा स्त्रीयों के उन्नयन के लिए कुछ और प्रयास भी हुए है, जिनमें राष्ट्रीय स्त्री सशक्तिकरण नीति-2001 काफ़ी महत्वपूर्ण है। इसका उद्देश्य सकारात्मक आर्थिक, सामाजिक नीतियों का निर्माण करना है, जो सभी क्षेत्रों की स्त्रीयों को पुरूषों के समान मानवाधिकार और मौलिक स्वतंत्रता का लाभ प्राप्त करने में समर्थ बना सके। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन में स्त्रीयों को समान भागीदारी मिले तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार, पारिश्रमिक, सुरक्षा और इस तरह से अन्य सवालों पर अवसर की समानता हो।

इस तरह उपर्युक्त सभी प्रयासों और उपलब्धियों को भारत में स्त्री संदर्भ में सकारात्मक विभेद के रूप में देखा व समझा जा सकता है।

3.3.6. सारांश

सकारात्मक विभेद हालांकि पश्चिमी देशों की अवधारणा है और इस पद का सबसे पहला प्रयोग अमेरिका में वहाँ के राष्ट्रपति जॉन एफ. केनेडी के एक एजक्यूटिव आदेश सं0-10925 में किया गया। तत्पश्चात दुनिया के तमाम देशों में इस तरह की व्यवस्था अपनाई गई। इस अवधारणा के अंतर्गत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से पिछड़े समूह के लोगों को समाज के विभिन्न क्षेत्रों में समाज के संपन्न व बहुसंख्यक लोगों की तुलना में कुछ रियायत दे दी जाती है, ताकि उस समाज के लोगों का भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व व भागीदारी बनी रहे। पश्चिमी देशों में इसे सकारात्मक विभेद (Positive Discrimination) या अफरमेटिव एक्शन के नाम से जाना जाता है, किंतु जहाँ तक भारतीय परिप्रेक्ष्य की बात हैं, हम इसे आरक्षण के रूप में देख सकते है जिसे संवैधानिक बल प्राप्त है। त्रिस्तरीय पंचायत चुनावों में स्त्रीयों के लिए एक-तिहाई सीटों का स्त्रीयों के आरक्षण, संसद और राज्य विधान मंडलों में स्त्रीयों के लिए एक-तिहाई आरक्षण की माँग करना, बहुप्रतीक्षित स्त्री आरक्षण विधेयक, राष्ट्रीय व राज्य स्त्री आयोग का गठन व राष्ट्रीय स्त्री सशक्तिकरण नीति, 2001 जैसे किए जाने वाले प्रयास भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री संदर्भ में सकारात्मक विभेद सबल उदाहरण हैं और इन्हें सकारात्मक विभेद के रूप में ही जाना चाहिए।

3.3.7. बोध प्रश्न

1. सकारात्मक विभेद क्या है और भारतीय संविधान में यह कहाँ तक स्वीकृत है?

2. भारतीय संविधान में सकारात्मक विभेद की अवधारणा किस रूप में है?

3. त्रिस्तरीय पंचायत चुनाव व्यवस्था पर एक टिप्पणी लिखिए।

4. स्त्री आरक्षण विधेयक पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

5. स्त्री आयोग क्या है?

3.3.8. संदर्भ ग्रंथ सूची

- सरला माहेश्वरी: नारी प्रश्न, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 7/31 अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
- बृंदा करात: भारतीय नारी: संघर्ष और मुक्ति, अनुवादक: उषा चैहान, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, बी.-7, सरस्वती कामप्लेक्स, सुभाष चैक, लक्ष्मी लगर, दिल्ली-110092
- अलका प्रकाश: नारी चेतना के आयाम, लोकभारती पुस्तक विक्रेता तथा वितरक, 15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-1
- आचार्य डॉ0 दुर्गा दास बसु: भारत का संविधान- एक परिचयन, मूल हिंदी अनुवादक: ब्रज किशोर शर्मा, वाधवा एण्ड कम्पनी डी.डी. 13, कालकाजी एक्स., नई दिल्ली-1100019

नोट – इस कृति का कोई भी अंश विश्वविद्यालय से लिखित अनुमति लिए बिना पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

पाठ्यपुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन रूप से प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है। संयोगवश यदि इसमें कोई भी कमी या त्रुटि रह गई हो तो इसके लिए संपादक, संयोजक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा। अवगत कराए जाने पर सुधार करने का प्रयास किया जाएगा।